जयशंकर प्रसाद के नाटकों में इतिहास और संस्कृति

डॉ० (प्रो०) उमेश चन्द्र मिश्र

प्राचार्य एव अध्यक्ष

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग

गया कालेज, गया

(मगध विश्वविद्यालय), बिहार

जयभारती प्रकाशन

इलाहाबाद

JaiShankar Prasad Ke
Natakon Men
Itihas aur Sanskriti
By
Umesh Chandra Mishra
Published by
Jaibharti Prakashan, Allahabad

ISBN 81-85957-06-1

जयभारती प्रकाशन
लालजी मार्केट माया प्रस रोड
258/365 मुटटीगज
इलाहाबाद-3 द्वारा प्रकाशित

प्रथम सस्करण 1999

डॉ० उमेश चन्द्र मिश्र

अशोक प्रिंटिंग केन्द्र
359 नयी बस्ती कीटगज
इलाहाबाद 3 द्वारा मुद्रित

मूल्य · 150 00

समर्पण

स्मृति शेष

संज्ञा में ज्येष्ठ तनय, व्यवहार में अनुज-सुहृद्

स्व० हिमांशु शेखर

को, जिसकी

अतिशय सहजता, निश्छलता, स्वार्थहीनता

अभिशाप और मृत्यु बनकर

उसे अमूर्त्त कर गयी ।

उमेश चन्द्र मिश्र

आशंसा

डॉ० उमेश चन्द्र मिश्र हिन्दी और मगर्ह। के प्रौढ विद्वान् और प्रसाद-साहित्य के विशेषज्ञ हैं । यह पिछले तीन दशकों से भी अधिक ममय से उच्च कक्षाआ में हिन्दी साहित्य का अध्यापन करते रहे हे तथा मगध विश्वविद्यालय में एक लोकप्रिय और सुयोग्य शिक्षक के रूप मं इनकी अपनी खाम पहचान है ।

''जयशकर प्रसाद के नाटकों में इतिहास और सस्कृति'' इनका शाध प्रबन्ध है, जिस पर इन्हें मगध विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० उपाधि प्राप्त हुई है । प्रस्तुत पुस्तक इम शोध प्रबन्ध का यत्किंचित् सशोधित ओर परिवर्तित रूप है ।

डॉ० उमेश चन्द्र मिश्र ने इस पुस्तक में प्रसाद-साहित्य के दो प्रमुख और परस्पर सम्बद्ध पक्षों--इतिहास और सस्कृति--का एकत्र अनुशीलन किया है । इतिहास प्रसाद-साहित्य का प्रमुख उपजीव्य और विशेष पहचान है । प्रसाद ने इतिहास का उपयोग वर्त्तमान से पलायन या अतीत के प्रति भावुक आकर्षण के कारण नहीं किया है । इतिहास के विषय में उनकी एक विशाष दृष्टि रही है । वह इसे वर्तमान के स्वरूप की समझ और अपने युग की समस्याओं क निदान के आधार के रूप में देखते है । हम जो आज हैं, काल की एक दीर्घ परम्परा और प्रक्रिया की उपज हैं । अतीत से एकदम विच्छिन्न और कटा हुआ वर्तमान-जैसा कुछ नहीं होता । अत. प्रसाद की दृष्टि में इतिहास, वर्तमान की अवगति, पुनरीक्षण और पुनर्निर्माण का साधन है । यही कारण है कि उनके ऐतिहासिक नाटक वर्तमान के अभिव्यजक प्रतीत होते है । इस प्रसग में डॉ० मिश्र की रथापना यह भी है कि प्रसाद ने इतिहास के माध्यम से उमके विभिन्न कालखण्डों की सस्कृति का चित्रण करने के साथ-साथ उस सामान्य सस्कृति को अभिव्यक्त किया है, जिसे भारतीय सस्कृति कहा जाता है । उनकी यह भारतीय सस्कृति उन मूल्यों की खोज और निदर्शन का पर्याय है, जा हमारे आज के जीवन का पुनर्गठन और दिशादर्शन कर सकती है ।

डॉ० उमेश चन्द्र मिश्र के इस ग्रथ की एक विशेषता यह भी है कि इसमें सस्कृति का विस्तृत और वैज्ञानिक विवेचन हुआ है । हिन्दी में आज भी 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग बडे शिथिल रूप में होता है । मिश्र जी ने इस शब्द के विभिन्न प्रचलित अर्थों की समीक्षा करते हुए मानव विज्ञान के प्रवर्तक ई०बी० टायलर द्वारा निरुपित इसकी सकल्पना को स्वीकार किया है । टायलर के अनुसार सस्कृति

मामाजिक परम्पग स अर्जित चिन्तन, अनुभव ओर व्यवहार अर्थात मानसिक एव क्रियात्मक व्यवहार की समस्त रीतियों की समष्टि हैं । प्रसाद की एतत्सम्बन्धी अवधाग्णा टायलर की तरह ही समग्रतावादी है । वह भी इसे समाजविशेष के चिन्तन और व्यवहार-सरणियों की अखण्ड और सतत इकाई मानते हैं । वह भी, आश्चर्यजनक रूप में, आज के मानव वैज्ञानिकों के समान्तर, इसक दा पक्षों की ओर सकेत कग्ते हैं- आभ्यन्तर और बाह्य । इसका आभ्यन्तर पक्ष 'सामूहिक चेतनता' है जिमका प्रकाशन समाज विशेष की विश्वदृष्टि, साहित्य और कलारूपों से लकर आचाग व्यवहारों तक में होता है । डॉ० मिश्र टायलर और प्रसाद की इम मास्कृतिक दृष्टि के आधार पर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में उपलब्ध भारतीय सस्कृति के विविध प्रसगों का सन्धान करते हैं और विस्तार में जाकर यह स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार यह संस्कृति उदार, सामाजिक परिवर्तनों के प्रति मवेदनशील और विश्ववादी रही है । आवश्यकता इसके उन तत्वों को रेखाकित करने की है, जो तत्व हमारे लिये आज भी उपयोगी और प्रेरक हैं ।

इसमें सन्देह नहीं कि डॉ० उमेश चन्द्र मिश्र की यह पुस्तक अपनी प्रामाणिकता, गहराई और प्रौढता के कारण सामान्य रूप से हिन्दी और विशेष रूप से प्रसाद-साहित्य के पाठकों और समीक्षकों की प्रशसा और सम्मान प्राप्त करेगी ।

उद्धव बाबू लेन
राँची-834001

दिनेश्वर प्रसाद
पूर्व आचार्य एव हिन्दी विभागाध्यक्ष
राँची विश्वविद्यालय, राँची (बिहार)

भूमिका

प्रस्तुत कृति-जयशकर प्रसार के नाटको म इतिहास और सस्कृति एक अभिनिवषी अनुसधाता, सर्जनात्मक ऊर्जा से समृद्ध, अध्यवसायी साहित्य सेवी तथा सर्वथा कुशल-सफल अनुभवी प्राध्यापक डॉ० उमेश चन्द्र मिश्र की सतत सक्रिय स्वस्थ साहित्य-साधना का प्रतिदर्श है ।

इसमें परपरागत एव स्वीकृत मान्यताओ क अतिरिक्त सर्वथा स्वतत्र तर्क पुष्ट सिद्धान्त-सहिता के आलोक में जयशकर प्रसाद के नाटको का विश्लेषण किया गया है । उनमें इतिहास के आनुपातिक अनुसरण तथा साहित्यिक कल्पना-प्रसूत तथ्यों में ऐतिहासिक कलावृत्त से अधिक सभाव्यताओं को सूक्ष्मतापूर्वक उद्घाटित किया गया है ।

यह समालोचना-कृति सर्वथा स्तरीय और गहन अध्यनन, चितन, मनन, तत्पश्चात् विश्लेषण, विमर्ष-निष्कर्ष का प्रबल पुरस्सर प्रमाण है । तथ्यों क आकलन में भावक-सुलभ सहृदयता तथा मूल्याकन एव निष्कर्ष-निष्पादन में समालोचक-सुलभ तटस्थता सहज प्राप्तय और ध्यातव्य है । इसमें भारतीय सस्कृति में सन्निहित जीवनादर्शों एव स्थापित मानव-मूल्यों के प्रसाद के नाटकों में सश्लेषण का सूक्ष्म तथा विशद् विवेचना-निरूपण हुआ है ।

समालोचकीय भाषा की गंभीरता-सश्लिष्टता तथा साहित्यिक भाषा की सहजता, सरसता, उत्कटता एव आवर्जकता के नीर-क्षीर सयोग तथा जादूई स्पर्श से कृति प्रतिध्वनित है ।

विश्वास है, अपनी गुणवत्ता एव विशिष्टता के कारण यह रचना सुश्री पाठकों, समालोचकों एव विद्वानों को मार्ग-दर्शन और आह्लाद देगी ।

स्थायी पता ·
54 गुरुधाम कालोनी
वाराणसी-10
मकर सक्रान्ति 14 जनवरी 1999

डॉ० विजयपाल सिंह
एम०ए० हिन्दी एम०ए० संस्कृत
पी0-एच०डी०-डि०लिट्
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वारणसी
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

आत्मकथ्य

प्रस्तुत पुस्तक—प्रसाद के नाटका में इतिहास और सस्कृति—मेरे 25 वर्षों के अध्ययन-अध्यापन के क्रम-सदर्भ में उसे विभिन्न विचारों-प्रश्नों के मथन, चिन्तन-मनन का परिणाम ओर प्रतिदर्श है । इसे पुस्तक का स्वरूप देने की योजना 1987 में मानस में बनी, जो विभिन्न प्रतिकूल-अनुकूल परिस्थितियों के कुयोग-सयोग के गत्यवरोध तथा उद्बोधन क बाद आज सफल और मूर्त्त हो सकी है । प्रस्तुत-पुस्तक पूरी निष्ठा, तत्परता एव अध्यवसाय से उपस्थापित मेरे पी-एच०डी० शोध प्रबन्ध का परिवर्द्धित स्वरूप है ।

अध्यापन-काल के आरभ (जनवरी 1964) से ही भाषा-विज्ञान के नित नये विकसित-विश्लेषित होते स्वरूप एव अध्ययन की दिशाओं से उत्प्रेरित हो, मई 1970 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के योजनान्तर्गत भाषा-विज्ञान के एक विषय पर दो वर्षों का अध्ययन अवकाश लेकर मैं अहर्निश स्मरणीय पितृव्य गुरुवर आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के निर्देशन में अनुसधित्सु बना । किन्तु-

"भाग्य फलति सर्वदा, न च विद्या न पौरुषम् ।" की सत्यता-प्रखरता तब मानस को आन्दोलित और उत्पीडित करने लगी, जब शोध कार्य अधूरा छोडकर अवकाश अवधि के मध्य में ही अपने अध्यापन-कार्य पर लौटना पडा । अपरिहार्य कारण थे--इस अवधि में एक साथ पूज्य माताश्री की लकवाग्रस्तता, पत्नी की मरणासन्नता, अनुजा अरुणा के विवाह के सम्पूर्ण दायित्व का निर्वाह, स्वयं की भीषण दुर्घटना-ग्रस्तता (मोटर-साइकिल से), परमादरणीया दादीश्री एवं माताश्री की मृत्यु, भीषण अर्थाभाव तथा इन दैविक आपदाओं की घड़ी में भी पिता की संज्ञा से विभूषित व्यक्ति के दमघोटू, रूखे, अप्रत्याशित, त्रासद व्यवहार एवं असहयोग । इन सबसे मर्माहत हो शोध-सपन्नता की रूचि-गति सब बाधित हो गयी । भाषा-विज्ञान के प्रस्तावित विषय पर प्रारभ किये गये उस कार्य की असमाप्ति की पीड़ा और परिणाम से आज तक व्यथित-प्रभावित हूँ-कभी सेवा में वरीयता को लेकर, कभी आर्थिक हानि की पीड़ा का अनुभव कर । आज भी वह टीस अतर्मन को रह-रहकर बहुत आन्दोलित करती रहती है । 1971 से 1982 के सघर्ष काल को जीवित-मृत्यु का काल कहूँ, तो अत्युक्ति नही होगी । तदनंतर कुछ वर्षों में स्थिति कदाचित् सामान्य होने पर प्रसाद-साहित्य-सागर में छिपे रत्नों को सागर-तल से भूतल पर निकालने की उत्कंठा बार-बार मानस को उद्वेलित करती रही ।

प्रसाद के नाटकों के अध्ययन-अध्यापन क्रम में कभी इतिहास का अस्थिपंजर प्रश्न वाचक चिह्न बनकर सामने आता, तो कभी उनकी दार्शनिक, आध्यात्मिक एव सांस्कृतिक चेतना अपने हृदयावर्जक स्वरूपों के कारण हृदय और मानस को उल्लसित-उत्प्रेरित करती रहती । तभी मेरे मानस में एक काल्पनिक योजना बनी

कि मैं प्रसाद के नाट्य-साहित्य रूपी सागर से मोती के कुछ दाने निकालने का प्रयास करूँगा । प्रसाद के नाटकों के अध्ययन क्रम में यह अवधारणा बनी कि समस्त हिन्दी नाटक के मच पर प्रसाद के नाटक अपनी विशिष्ट गुणवत्ता और रचना-धर्मिता के कारण दिवाकर-सदृश प्रकाशमान हैं ।

यह कहना क्वचित्-कदाचित् अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि उनकी नाट्य-रचनाओं ने हिन्दी-नाट्य को अपूर्व समृद्धि, स्वस्थ आधार एव स्पष्ट दिशा दी है । उनमें अत्यत उच्च कोटि की साहित्यिकता है । हाँ, यह और बात है कि सस्कृत-निष्ठता एव संस्कृत शब्दावली के बाहुल्य से उसमें कुछ बोझिलता और क्लिष्टता आ गयी है, और वह सर्वसाधारण जनमानस की पहुँच और समझ से परे अवश्य है । किन्तु, यह भी स्पष्ट है कि सस्कृति और इतिहास उनके दो समानान्तर और सुदृढ किनारे हैं, जिसके मध्य से दर्शन एव चेतना की स्रोतस्विनी प्रवहमान है । सस्कृति की अपूर्व सश्लेषणता उसमें सहज द्रष्टव्य है । साथ ही, इतिहास के अत्यत गहन अध्ययन-चिन्तन-मनन के प्रमाण उनमें सहज प्राप्य हैं । उत्कट अनुभूति, गभीर चरित्र-चित्रण और कथानक में अद्‌भुत रोचकता, मौलिकता, सभाव्यता, स्वाभाविकता आदि गुणों के कारण प्रसाद सदा वरेण्य एव स्मरणीय रहेंगे । परवर्ती नाटककारों ने इनके द्वारा स्थापित मानदडों, मूल्यों, शिल्प, शैली, कथानक, कथनोपकथन आदि को ही क्वचित्-कदाचित् युगीन अपेक्षा के अनुसार परिवर्तित-परिवर्द्धित किया । परवर्ती नाटककारों में उल्लेखनीय हैं--डॉ० रामकुमार वर्मा, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, 'प्रेमी', सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीश चन्द्र माथुर इत्यादि । इन नाटककारों के नाटकों में आधुनिक नाट्यशैली का विशेष आग्रह है, साथ ही सामाजिक समस्याओं के विशेष दिग्दर्शन भी । अविरल प्रवाह लाने हेतु इन्होंने 'प्रसाद' की लीक से हटकर कथानक और कथोपकथन को अतिशय काव्यात्मकता से मुक्त ही रखा । इनमें सामाजिक संदर्भ अधिक उभरे संस्कृति और इतिहास के कम ।

वस्तुतः, संस्कृति युगों से सचित सस्कारों का घनीभूत, परिनिष्ठित, परिमार्जित, अविकल स्वरूप एव आदर्श, लोकोपयोगी, शाश्वत जीवन-मूल्यों का प्रतिरूप है । साथ ही जीवन जीने की एक व्यवस्था और स्वस्थ, शुद्ध जीवन की दीर्घ परपरा का बीज रूप भी ।

हर सस्कृति प्रायः देश, काल, पात्र और परिवेश के संदर्भ में बनती, बिगडती और बदलती रहती है । यही कारण है कि सम्पूर्ण विश्व में विभिन्न सस्कृतियाँ सहज भाव से फलती-फूलती रही हैं । यथा-आर्य, ईसाई, मुगल, ग्रीक, हूण, यवन, चीनी, शक, नाग, पहाडी, आदिवासी इत्यादि ।

सस्कृति-पुरुष प्रसाद क नाटका म वस विभिन्न सस्कृतिया के छाया-चित्र अवश्य प्रस्तुत किये गय हें, किन्तु समस्त मम्कृतियों क रगमच पर आर्य-सस्कृति को ज्वाज्वल्यमान घाषित उद्घाटित और प्रमाणित किया गया हे । आर्य सस्कृति एक ओर-''आत्म माश्वार्थम् जगत हिताय च'' या ''अय निज: परावति गणना लघु चेतसा, उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम''-के आदर्शां एव सिद्धान्तां का पोषण करती है, साधु-सन्यासियों, विदेशियों, विद्वाना, प्रतिभावानों को मुरक्षा या आश्रय प्रदान करती है (राज्यश्री, पृष्ठ 70) । दूसरी ओर, आत्म या जीवन क सर्वस्व उत्सर्ग, सम्पूर्ण त्याग से अभिभूत भी करती है । इसकी यह आदर्श भावना--सब कुछ से नि:सगता या अलग हो जाना, सर्वस्व, त्याग, सम्पूर्ण विराग, शत्रु तक को अपने प्राण देने का अपूर्व सकल्प (राज्यश्री, पृष्ठ 72) ... अन्य संस्कृतियों में सर्वथा दुर्लभ है । आर्य-सस्कृति में सामर्थ्य, सदाशयता, अपूर्वता, अद्वितीयता, गुणवत्ता एव वह क्षमता है कि वह सहज ही अन्य संस्कृतियों के जन्मदाताओं और सस्थापकों की प्रसव-भूमि स्वीकारी गयी है (राज्यश्री, पृष्ठ 72) 'राज्य श्री' में बौद्ध भिक्षु इस भावना को अन्तर्मन से सोल्लास स्वीकारता है कि ''आर्य-सस्कृति कुछ लेने में नहीं, प्रत्युत् कुछ देने में विश्वास रखती है ।'' वस्तुत, इसके गुण धर्म अपनाकर अन्य सस्कृतियाँ प्राणवान, स्वस्थ, लोकरंजक और उपादेय बनती हैं । समासत:, आर्य सस्कृति एक अमृतमय शीतल वाणी है, विश्व-कल्याण एव बधुत्व का अमोघ मत्र है, समस्त जीव हेतु मधुर व्यवहार है । इससे, अनुप्राणित, प्रभावित, उत्प्रेरित उद्वेलित हो सभ्य सुसस्कृत होते हैं और पशु नियत्रित । इसमें दया, क्षमा, करुणा की शीतलता, मधुरता एवं अपूर्व उदारता है, शील-स्नेह-सौजन्य की गुणवत्ता और गरिमा है । वैसे भी सस्कृति किसी समाज या राष्ट्र की अतरात्मा की मूक वाणी है, स्पष्ट दर्पण है, जिसमें किसी राष्ट्र का गौरवमय अतीत, गुण, उच्चादर्श एव जीवनमूल्य प्रतिबिम्बित होते हैं ।

जहाँ तक साहित्य और इतिहास में सबध का प्रश्न है--इतिहास न तो कभी साहित्य है, और न साहित्य इतिहास । प्राय:, साहित्य-सर्जना के क्षणों और क्रम में तीन बिन्दुओं का समायोजन होता है--अनुभूति, कल्पना और इतिहास । इन तीनों के त्रिकोण के मध्य साहित्य की सर्जना के क्षणों और क्रम में तीन बिन्दुओं का समायोजन होता है--अनुभूति, कल्पना और इतिहास । इन तीनों के त्रिकोण के मध्य साहित्य की सर्जना होती है । अनुभूति यथार्थ की, जीवन-जगत् की सत्यता की; कल्पना सुखद, सुरम्य सपनों की, जीवन में उन अपेक्षित आदर्शों की प्रतिष्ठा की; और इतिहास घटना, पात्र, वातावरण, परिवेश इत्यादि के । यह बहुत हद तक सत्य है कि इतिहास मुख्यत: असंबद्ध घटनाओं और अदृष्ट तथ्यों-कारणों का समुच्चय

हाता है, इसी कारण इतिहास म प्राय. और सर्वथा निश्चित विकास-धारा की प्राप्ति नहीं होती हैं । इतिहास घटनाओं, तथ्यों और कार्यों के मात्र विवरण प्रस्तुत करने का तत्र हे । उसमें भी यथार्थता हाती है, किन्तु साहित्यकार की अनुभूति की तरह मर्मस्पर्शी, गहन और उस स्तर की नहीं । उसमें बहिर्प्रभाव स्पष्ट प्रतीकित होत हैं, अत. चेतना और प्रेरणा नहीं । इस कारण इतिहास 'सास्कृतिक विरासत' की वस्तु कदापि नहीं है, किन्तु साहित्य बहुत हद तक 'सास्कृतिक विरासत' का उत्तराधिकारी होने के प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करता है । सच्चे अर्थ में कहा जाय तो इतिहास घटनाओं की खोज है, किन्तु दृष्टिकोण का निरूपण-प्रदर्शन नहीं । वैसे भी विशेष दृष्टिकोण की व्याप्ति जब इतिहास में किसी कारण हो जाती है, तब वह पूर्वग्रह ग्रस्तता से पीडित और विकृति युक्त हो जाता है । विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत कारणों से इतिहासकार इतिहास में पूर्ण तटस्थता और निष्पक्षता का निर्वाह नहीं कर पाते, क्योंकि वे इतिहास के विशिष्ट एवं आधार पात्रों से किसी-न-किसी रूप से सबद्ध प्रभावित और उपकृत होकर इतिहास की रचना करते हैं । किसी राजा विशेष के आश्रय में रहकर कोई भी इतिहासकार उसकी गुण सम्पन्नता, उच्चता ही वर्णित करेगा, उसकी हीनता, दोष कदापि नहीं, यह पूर्ण सत्य और सर्वथा स्वाभाविक है । यह पारपरिक सत्य है, भले ही कुछ बिरले आदर्शवादी इतिहासकार हैं, जो 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से ऊपर उठकर सांस्कृतिक आदर्शों का परिपालन करते और तटस्थ-निष्पक्ष होकर इतिहास की रचना करते हैं । इसके सर्वथा प्रतिकूल साहित्य सर्वदा रचनात्मक कृति है, विवरणात्मक दस्तावेज या अनुकृति नहीं । यही कारण है कि साहित्य में स्पन्दनशीलता होती है, जिसके प्रभाव से चेतन उत्प्रेरित होते है और जड तथा मृत पुनर्जीवन प्राप्त करते हैं । सांस्कृतिक, सामाजिक, स्वर्गिक सत्य और आदर्श को साहित्यकार नवीन चेतना, नयी दृष्टि, नये मर्म-धर्म देकर उपस्थापित करता है । इसी कारण वह अधिक लोकरजकता और उपादेयता से सयुक्त होता है । वस्तुतः, साहित्य समाज, जीवन, जगत् रूपी पुष्प का उत्कट सौरभ है, पुष्प की शाख, पखुड़ी या उसके काँटे नहीं । किन्तु, इतिहास शुद्ध रूप से तथ्य परक होने के कारण शाख-पखुड़ी काँटे अवश्य है, सुमन का सौरभ नहीं । इतिहास किसी युग विशेष की गाथा होता है, उस युग का प्रतिनिधि नहीं, किन्तु साहित्य युगीन अनुभूति की अविकल अभिव्यक्ति होकर तत्युगीन चेतना का प्रतिनिधि भी होता है और यह उसकी बहुत बडी उपादेयता, गुणवत्ता, विशेषता और सजीवता होती है । चाहे साहित्यकार जितना भी गरीब-विपन्न हो, रोजी-रोटी के लिये लिखता हो, वह अपनी आत्मा का सौदा कभी नहीं करता और ''स्वातः सुखाय'' रचना करने वाले

तो-"आत्ममोक्षार्यं जगत् हिताय च" के सिद्धान्त वाले सन्यासियों के प्रतिरूप-पर्याय होते है । ऐसे साहित्यकार आदर्शों की प्रतिष्ठा की महत्ता जानते, स्वीकारते और उन्हें प्रतिस्थापित करते हैं ।

व्यवसायी इतिहास की तरह साहित्य के तथ्य-कथ्य, उपादेयता में विसगति और विकृति दरबारी कवियों ने अवश्य लायी, जिनकी आत्मा चॉदी के टुकडों की चमक के आगे नीलाम हो चुकी थी । इतिहास के सबध में उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में सर्व सामान्य धारणा से किंचित् पृथक् मेरी धारणा है । "इन हिस्ट्री नथिग इज ट्रू एक्सेप्ट नेम्स ऐण्ड डेट्स, बट इन लिटरेचर एवरी थिग इज ट्रू एक्सेप्ट नेम्स ऐण्ड डेट्स ।" इतिहास के खडहर से हमें विविध गुण-धर्मी, स्वर-सकल्प वाले पात्र, तिथियाँ, दबी-उभरी कथाएँ, चर्चाएँ और घटनाएँ मिलती हैं, यत्र-तत्र स्पष्ट-अस्पष्ट छायाएँ दिखती हैं । और, कहीं-कहीं तो अस्थि-पजर रूप में सडी-बिखरी लाशों के रग-बिरगे पूर्णत: विद्रूप स्वरूप मिलते हैं । सच तो यह है कि घटनाओं को सत्यता, आवर्जकता, लोक मगलमयता, सोद्देश्यता, सामयिकता और उपादेयता साहित्य ही प्रदान करता है । इतिहास के खडहर से प्राप्त अस्थिपजर को गुण-धर्म, दर्शन सस्कार देकर साहित्य नवजीवन प्रदान करता है । यानी धर्म का चर्म, सस्कृति का रक्त और दर्शन का कलेवर देना इतिहासकार का काम नहीं, अपितु साहित्यकार का अनिवार्य एव पावन गुण-धर्म है । कुशल और सफल साहित्यकार इस कर्तव्य का सतर्कता और ईमानदारी पूर्वक पालन करता है तथा शवों में प्राण भरने का भगीरथ प्रयत्न करता है । प्रसाद के नाटकों में इसके अनगिनत, स्पष्ट एवं प्रबल प्रमाण सहज प्राप्त हैं । बस, इसी मानस-योजना का कार्यान्वयन, प्रस्फुटन और प्रत्यक्षीकरण है यह पुस्तक ।

जीवन के विविध आयामों की तरह मेरी मानस-योजना की पूर्णता के भी तीन आयाम हैं--प्रेरणा, प्रयाण (प्रयास) और परिणति । "देह धरे को दण्ड" की सार्थकता इस भौतिक जग में सबसे अधिक मुझे समझ में आयी, क्योंकि पारंपरिक विचार धारा "सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यं अप्रियं" के सर्वथा प्रतिकूल मेरी निजी विचार धारा है-"सत्यं ब्रूयात्-सर्वदा-सर्वथा, प्रियं-अप्रिय मा चिन्तय" । मेरे इस असमझौतावादी स्वभाव, स्पष्टवादी दृष्टिकोण के कारण प्रतिरोधी धाराएँ, भीषण भँवर, विभिन्न प्रत्यवाय सतत गत्यवरोध देते रहे । किन्तु, 1985 में आकाशदीप की तरह मार्ग-दर्शन हेतु प्रकाश विकीर्ण करने वाली कुछ सूक्ष्म, किंतु तीव्र रश्मियाँ दिखीं । एक ओर इन रश्मियों ने मानस का तिमिरावरण दूर किया, दूसरी ओर शीतल, स्निग्ध छाया एव उत्प्रेरणा प्रदान कर मुझे पैशाचिक शाप से मुक्ति दिलायी । शब्द नहीं, कि-मैं-उस अवधि में असीम स्नेह, सद्भाव प्रेरणा,

अनुग्रह, आत्मीयता देने वाले ज्ञान, गरिमा और चरित्र की ऊँचाई में हिमाद्रि, स्मृति शेष स्वर्गीय पितृव्य गुरुवर आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा की अशेष कृपा को लिपि बद्ध कर सकूँ । आज भी स्मरण है, मगध विश्वविद्यालय परिसर में आयोजित एक मौखिकी में अनायास भेंट हो जाने पर कई व्यक्तियों के सामन उन्होंने स्नेह-आक्रोश रूपी सुधा-गरल के घोल मिलाकर जी भर डॉटते हुए मुझे प्रसाद नाट्य साहित्य के इस पक्ष (सस्कृति और इतिहास), पर शीघ्र शोध-कार्य सपन्न करने की हिटलरी गुरुराज्ञा सुनायी थी । यह मेरा परम सौभाग्य था कि वे मुझे पुत्रवत मान हर क्षण उपयुक्त स्नेह, डॉट निर्देश दिया करते थे, क्योंकि वे स्नेह बॉटने में कुसुमादपि मसृण, कर्त्तव्य में वज्रादपि कठोर और आचार-विचार व्यवहार में प्रज्ञा एव शील के साकार समुच्चय थे । गुरुवर ने मेरे आलस्य-तिमिर को हटाने एव शीघ्र अपने निर्देशन में शोध सपन्न कराने की गुरुराज्ञा दी थी-उस समय मगध विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में पद स्थापित भाषा विज्ञान के एक विद्वान् डॉ० लक्ष्मण प्रसाद सिह को, जो 1964 से 1996 तक मेरे सहकर्मी भी रहे, और आज तक मैं, जिन्हें 'भैया' कहता रहा हूँ । आलस्य के क्षण में डॉट, काम करने पर स्नेह तथा विभिन्न शोधोपयुक्त सामग्रियॉ दे-दिलाकर इन्होंने जो आत्मीयता, स्नेहशीलता दिखायी, औपचारिक आभार देकर उसे लक्ष्मण-रेखा में परिसीमित करना मैं नहीं चाहता ।

इस प्रकार प्रेरणा-प्रयाण में अहर्निश तथा स्मरणीय गुरुवर तथा परिणति में डॉ० लक्ष्मण 'भैया' की भूमिका और अवदान ध्यातव्य हैं । आज पुस्तकाकार इसके प्रस्तुतीकरण से मुझे सतोष है ।

परम श्रद्धेय डॉ० दिनेश्वर प्रसाद, पूर्व आचार्य एव हिन्दी विभागाध्यक्ष, राँची विश्वविद्यालय से प्राप्त स्नेह, प्रोत्साहन का हृदय से मैं आभारी हूँ, जिन्होंने व्यस्त-अस्वस्थ क्षणों में भी इसकी सारगर्भित भूमिका लिखने की कृपा की । वैसे भी मैं इनकी स्नेहवृष्टि में वर्षों से स्नात होता रहा हूँ ।

कतिपय कारणों से किंचित् देर, किन्तु दुरुस्त प्रकाशन के लिये जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद के स्वामी श्री जुग्गीलाल गुप्त साधुवाद के पात्र हैं ।

अंततः, उन सबके प्रति विनयावनत भाव से आभारी हूँ जिन्होंने इसके प्रस्तुतीकरण में जाने-अनजाने, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग, सत्परामर्श, स्नेह सद्भाव दिये ।

मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ, जो किसी स्तर पर प्रबन्ध उपस्थापन से पुस्तक-प्रकाशन तक मेरे सामने बराबर समस्याओं के दुर्गम पहाड खडाकर, कार्य-सपादन के हर मोड पर अनुत्प्रेरित कर मार्ग में गत्यवरोध देते रहे । इनसे

मन प्रवल इच्छा-शक्ति, नयी चतना स्वावलम्बन एव सकल्प का पाठ सीखा क्याकि-

> सत्य है कि प्रस्तरों क गक म
> तीव्रतर हाती सरित की धार है,
> वदना की आँच हाती तीव्र जब
> मनुज पाता, तब नवीन निखार है ।

हृदय की बात ता यह ह कि सभी की अहतुकी कृपा का प्रतिफलन एव मूर्त्त रूप है यह पुस्तक । मुझ हार्दिक आहलाद आर सताप है कि अपन आलाच्य नाटककार स्व० जयशकर प्रसाद की इतिहास आर सस्कृति सबधी मान्यताआ अवधारणाओं की उन अतल गहराइयों मे मै जा सका, जिनमें स्नात होकर प्रसाद जी ने ऐतिहासिक मच पर स्थित पात्रों में सास्कृतिक रक्त भरकर साहित्यिक विधा का सुसज्जित, सुसस्कृत कर नवीन दृष्टि और दिशा दी । मुझे यह प्रत्यक्ष अनुभूत हुआ कि विभिन्न सस्कृतिया के वर्णन-विश्लषण म भी उन्होंने आर्य-सस्कृति का प्रश्रय-प्रधानता दकर उत्कृष्ट स्वीकारा है । इस अपक्षाकृत उन्नत ओर आदर्श सिद्ध किया है । 'मधुमय देश' में पहुँचन पर उनके 'अनजान क्षितिज' का एक सहारा मिला था, व्याम न 'मगल कुकुम' बिखेरा था और मर अनुसधाता मन का एक किनारा मिला था । मुझे ताष ह कि भारतीय सस्कृति के सबध में उनकी धारणा क सही परिज्ञान का अवसर मुझे मिला आर मैंने उसी परिप्रक्ष्य म उन्हें विश्लेषित-उपस्थित किया है ।

कार्तिक पूर्णिमा-2055

उमेश चंद्र मिश्र
'स्वस्तिक'
शास्त्री नगर जल गड
गया (बिहार)

अन्तर्वस्तु

	कथ्य	पृष्ठ
प्रथम अध्याय	**ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और उसमें सस्कृति का सश्लेषण**	1
	एतिहासिक नाटकों मे इतिहास की सीमा-	
	सस्कृति की व्युत्पत्यात्मक अवधारणा और अर्थ-	
	पाश्चात्य एव पौर्वात्य धारणा एव आस्था	
	सस्कृति एव सस्कार	
	सस्कृति और सभ्यता	
	सस्कृति के आयाम आर भारत -	
	भारतीय सस्कृति का स्वरूप एव विकास -	
	भारतीय सस्कृति में वर्ण-व्यवस्था और जाति प्रचलन -	
	विवाह-व्यवस्था	
	नारी की स्थिति -	
	ब्राह्मण का स्थान	
द्वितीय अध्याय .	**प्रसाद के नाटकों का वर्गीकरण और उनके कथानक**	35
	नाटकों क कथानक	
	राज्यश्री	
	अजातशत्रु	
	स्कन्दगुप्त	
	चन्द्रगुप्त	
	ध्रुवस्वामिनी	
	विशाख	
	जनमजय का नागयज्ञ -	
तृतीय अध्याय	**प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक आधार**	81
	इतिहास एव साहित्यिक नाटक	

		स्कन्दगुप्त -	
		चन्द्रगुप्त -	
		ध्रुवस्वामिनी -	
चतुर्थ अध्याय	:	**प्रसाद के नाटकों में संस्कृति**	144
		आर्य सस्कृति और प्रसाद -	
		प्रसाद के नाटकों में सम्कृति का सश्लेपण एव सास्कृतिक परिवेश की व्याप्ति -	
पंचम अध्याय	:	**विमर्ष-निष्कर्ष**	187
परिशिष्ट	:	**सहायक ग्रथ-सूची**	194
		(क) मौलिक -	
		(ख) समीक्षात्मक -	

प्रथम अध्याय

ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और उसमें संस्कृति का संश्लेषण

ऐतिहासिक नाटकों का आधार भले ही इतिहास रहा हो, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि ऐतिहासिक नाटक इतिहास नहीं, साहित्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक नाटककार सामग्री का चयन तो इतिहास से करता है, किन्तु उसमें वह कल्पना का पुट भी देता है। कल्पना का पुट इसलिए भी चाहिए कि ऐतिहासिक तथ्यों को साहित्य का रूप देने के लिए कल्पना सर्वथा अनिवार्य है। यह कोई उचित बात नहीं कि ऐतिहासिक सत्य में अनावश्यक परिवर्तन किया जाय, लेकिन आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना पडता है। इसलिए वे लोग भी गलत हैं, जिनकी यह मान्यता है कि आवश्यकता पडने पर भी इतिहास में बिल्कुल परिवर्तन न हो। जो बातें अधिक विश्रुत हों, उनके तथ्य में परिवर्तन वाछनीय नहीं, लेकिन घटना और तिथियों को मात्र एक स्थान पर जमा कर देने से इतिहास नहीं बन जाता और कुछ पात्रों और घटनाओं के समावेश से भी ऐतिहासिक नाटक नहीं बन पाता। वास्तविक इतिहास के रचना-तत्र में ऐतिहासिकता पूर्णतः आवश्यक है। इतिहासकार को जिन घटनाओं और तिथियों का इतिहास लिखना होता है, उन्हें, उस काल की पृष्ठभूमि में कार्य-कारण की खोज करता है। कार्य-कारण की यह खोज ही ऐतिहासिकता है। ऐसी ऐतिहासिकता में नाटक का लक्ष्य तो स्पष्ट होता ही है, इतिहास का दृष्टिकोण भी सामने आ जाता है।

ऐतिहासिक नाटक में विद्वानों ने तीन प्रधान तत्वों को स्वीकार किया है-

(क) इतिहास

(ख) ऐतिहासिक वातावरण

(ग) ऐतिहासिक घटना तथा पात्र

इतिहास ऐतिहासिक नाटक का अविच्छिन्न अग है। इतिहास का सबध प्रचलित किवदन्तियाँ से नहीं, वरन् उसके मूल उत्स से है। यदि कोई नाटककार किवदन्तियाँ अथवा पौराणिक उपाख्यानों को ऐतिहासिक नाटक की कथावस्तु के रूप में स्वीकार करना चाहे, तो वैसी स्थिति में यही आवश्यक है कि वह उसे प्रामाणिक सिद्ध करे।

नाटककार और उपन्यासकार में अन्तर है। उपन्यासकार वातावरण का प्रत्यक्ष चित्रण करता है, किन्तु नाटककार अकेला ही वातावरण की सृष्टि नहीं करता। नाटक की बहुत कुछ सफलता उसकी अभिनेयता पर अवलबित है। इसीलिए ऐतिहासिक वातावरण का चित्रण करने का बहुत कुछ भार निर्देशक पर भी होता है। ऐतिहासिक वातावरण में किसी विशेष ऐतिहासिक काल की प्रचलित प्रथाएँ, रहन-सहन, खान-पान तथा उनकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक

स्थितियाँ भी आती हैं। ऐतिहासिक वातावरण ऐतिहासिक नाटक का स्थायी अग है। यदि नाटककार इसमें असावधान हो गया, तो काल-क्रम का दोष आ जाना सर्वथा स्वाभाविक है। और, काल-क्रम का यह दोष सकलन-त्रय पर तो आघात करेगा ही, नाटक का स्वरूप ही विकृत कर देगा। इससे साहित्यिक सौन्दर्य पर निश्चित ही प्रत्यक्षत. आघात होगा, क्योंकि ऐतिहासिक नाटक का उद्देश्य तिथिया एव घटनाओं का यथाविधि उल्लेख मात्र नहीं है। भयकर लू से त्रस्त-ग्रस्त व्यक्ति चलते-चलते किसी पर्वत-प्रदेश में पहुँचकर जब स्वाभाविक शीतलता का अनुभव करता है, तो उसमें नव जीवन का सचार होता है। यही स्थिति ऐतिहासिक वातावरण की है। स्वदेश में विचरण करते-करते ऐतिहासिक नाटक भिन्न देश और भिन्न काल के विलक्षण वातावरण का सहज सुख प्रस्तुत कर देता है। इसलिए ऐतिहासिक वातावरण को देश-काल की सीमा-रेखा भी कहा जाता है।

ऐतिहासिक नाटककार अपनी कल्पना के सहारे ऐतिहासिक घटनाओं में रग भरता है तथा पात्रों के चरित्र में निखार लाने का प्रयत्न करता है, चरित्रों के सफल अभियोजन में ही उसकी सफलता निहित रहती है। साधारणतः, हर ऐतिहासिक नाटककार प्रसिद्ध ऐतिहासिक वृत्तियों की अपेक्षा प्रसिद्ध चरित्र पर ही प्रकाश डालना चाहता है । उसका कारण स्पष्ट है । समग्रतः सर्वांशितः हर नाटककार चाहता है कि दर्शक और इसके बीच तादात्म्य हो जाय। ऐसा होने से रसोद्रेक में सुगमता होती है। जिन पात्रों से दर्शक का पूर्व परिचय होता है अर्थात् जो पात्र इतिहास-विश्रुत होते हैं, उनके प्रति श्रद्धा, प्रेम, घृणा तथा करुणा के भाव दर्शक के मन में सहजतः शीघ्र और सुगमतापूर्वक उत्पन्न हो जाते हैं। इसका प्रत्यक्ष लाभ यह है कि नाटककार को पात्रों का परिचय देने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि दर्शक स्वतः पात्रों की ऐतिहासिक घटनाओं एव सदर्भों से पूर्व परिचित रहता है।

ऐतिहासिक नाटककार इतिहास के प्रख्यात सत्य की रक्षा करने को बाध्य होता है, किंतु, ऐसा करते हुए वह मूल कथानक में परिवर्तन भी कर सकता है। किन्तु, यदि कथानक में आमूल-परिवर्तन की आवश्यकता हो, तो ऐतिहासिक तथ्य पर कल्पना का आवरण तभी चढाया जाता है, जब चरित्रों में इतनी शक्ति हो कि वे अपने व्यक्तित्व से संपूर्ण कथानक पर छा जायं। ऐसे परिवर्तन उपस्थित करने में जो कुछ भी ऐतिहासिक तत्व-तथ्य हो-उसकी प्रधानता होना आवश्यक है। तभी वह नाटक की ऐतिहासिकता को नष्ट किये बिना अपने तत्वों को अपने अधीन कर सकता है। ऐतिहासिक नाटक के उपर्युक्त स्वरूप एव रचना तत्र की विशेषता को ध्यान में रखते हुए यदि उसकी परिभाषा देनी हो, तो कहा जा सकता है कि-ऐतिहासिक नाटक, नाटक के शरीर में इतिहास के प्राणों का प्रसार है।

वर्गीकरण की दृष्टि से चार प्रकार के ऐतिहासिक नाटक मिलते है-

(क) शुद्ध ऐतिहासिक

(ख) अर्द्ध ऐतिहासिक

(ग) कल्पनाजनित ऐतिहासिक और

(घ) स्वच्छन्द ऐतिहासिक

जब नाटककार अपने नाटक का कथानक इतिहास से ले तथा उस नाटक के सभी पात्र, यदि इतिहास-विश्रुत हों, तो ऐसे नाटक को शुद्ध ऐतिहासिक नाटक की सज्ञा दी जा सकती है। ऐसे नाटकों की सबसे बडी शर्त यह है कि पात्र और उनके चरित्र भी ज्यों-के-त्यों स्वीकृत हों। स्पष्ट है कि शुद्ध ऐतिहासिक नाटक का वातावरण भी पूर्ण रूप से ऐतिहासिक ही होगा। आधिकारिक कथावस्तु के साथ नाटककार प्रासगिक कथावस्तु की भी योजना करता है, किन्तु उसका मूल उद्देश्य कथावस्तु को विस्तार देना या प्रधान पात्रों के चरित्रों को प्रकाशित करना है। चूँकि शुद्ध ऐतिहासिक नाटक के सभी पात्र इतिहास विश्रुत होते हैं, इसलिए इसका मूल कथानक इतिहास से ज्यों-का-त्यों ले लिया जाता है। अत· यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे नाटक के पात्र और कथानक सतुलित-परिसीमित हों।

कभी-कभी शुद्ध ऐतिहासिक नाटकों की प्रधान कथावस्तु में योग भाव करने के लिए नाटककार कुछ गौण काल्पनिक चरित्रों की सृष्टि कर देता है । इस प्रकार के काल्पनिक पात्रों की सृष्टि करते समय नाटककार को सतर्क रहना चाहिए कि वे ऐतिहासिक तत्वों को नष्ट न करें तथा ऐतिहासिक वातावरण में कहीं आच न आये। बगला में द्विजेन्द्रलाल राय तथा हिन्दी में प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों को शुद्ध ऐतिहासिक नाटक की सज्ञा दी जा सकती है। हॉ, विशाख और जनमेजय का नागयज्ञ अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक हैं, जिसकी ओर स्वय प्रसाद जी ने सकेत किया है।

अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक उसे कहा जाता है, जिसमें नाटककार मूल कथानक तो इतिहास से लेता है, किन्तु अपनी कल्पना के द्वारा प्रधान पात्रों की सृष्टि कर उन्हें इतिहास पर आरोपित करता है। नाटककार को चाहिए कि अर्द्ध ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि करते समय इसे सदैव ध्यान रखें कि कथानक का सबध जिन ख्यात व्यक्तियों से रहा है, वे पात्र गौण रूप से ही सही, नाटक में अवश्य आ जाय। अगर नाटककार ख्यात पात्रों का समावेश नाटक में नहीं करता तो दर्शक अथवा पाठक कथानक की ऐतिहासिकता में सदेह कर सकते हैं। इस प्रकार के नाटकों में कथानक तथा वातावरण तो पूर्ण रूप से ऐतिहासिक होते हैं, किन्तु पात्र काल्पनिक भी हो सकते हैं। इसलिए वृन्दावनलाल वर्मा का 'हस-मयूर' अर्द्ध ऐतिहासिक नाटकों में ही रखा जाएगा। 'हस मयूर' में नाटककार विक्रमादित्य सबधी ऐतिहासिक वातावरण को लेकर आर्य-सस्कृति के समन्वयात्मक पक्ष को चित्रित करना चाहते हैं। हस-मयूर का एक पात्र कहता है-'हस-बुद्धि विवेक-प्रज्ञा, मेधा, भक्ति और सस्कृति का प्रतीक है, मयूर तेज बल और पराक्रम का। दोनों का समन्वय ही आर्य सस्कृति है। इस उक्ति से ऐतिहासिक और सास्कृतिक वातावरण तो स्पष्ट हो जाता है, किन्तु काल्पनिक पात्र का सम्यक् परिज्ञान नहीं हो पाता ।

'लहरों के राजहस' में गौतम बुद्ध के अनुज नन्द के जीवन की सश्लिष्ट झॉकिया प्रस्तुत की गयी हैं। नद के चरित्र के सबध में इतिहास सर्वथा मौन रहा है, किन्तु गौतम बुद्ध से भेंट के समय ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गौतम का त्याग महान् था। इस प्रकार 'लहरों के राजहस' का कथानक सर्वथा काल्पनिक है, किन्तु इतिहास विश्रुत पात्र नद से उसका सबध दिखाकर लेखक श्री मोहन राकेश ने ऐतिहासिक सदर्भ की सुन्दर परिकल्पना की है, जो सर्वथा श्लाघ्य है।

स्वच्छन्द ऐतिहासिक नाटकों में न तो कथानक का इतिहास से कोई सबध होता है और न पात्रों का। ऐतिहासिकता का भ्रम जाल फैलाने में जो तत्व सक्रिय रूप से सामने आता है, वह है--ऐतिहासिक वातावरण। पात्र ऐतिहासिक वातावरण में ही अपना कार्य सपादित करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु वे ऐतिहासिक नहीं होते। अपनी कल्पना के द्वारा ही लेखक यह दिखलाने की चेष्टा करता है कि पात्रों का चारित्रिक विकास ऐतिहासिक वातावरण में हो रहा है, किन्तु सचाई यह है कि स्वय नाटककार उन घटनाओं अथवा वातावरण से प्रभावित नहीं होता । हॉ, ऐतिहासिक पुट देने के लिए नाटककार किसी इतिहास विश्रुत पात्र से उसका सबध दिखला देता है । हिन्दी में भारतेन्दु रचित 'नील देवी' प्रथम स्वच्छन्द ऐतिहासिक नाटक है। इसका पात्र अब्दुल शरीफ जब युद्ध में सूर्यदेव को परास्त नहीं कर पाता, तो छल से वह रात में सेना पर आक्रमण करता है, जो नियम विरुद्ध है । वहॉ वह छल पूर्वक सूर्यदेव को बन्दी बना देता है और उसकी हत्या भी कर देता है। सूर्यदेव की पत्नी अपने पति की हत्या का बदला लेने का सकल्प करती है। वह नर्तकी के रूप में अब्दुल शरीफ के शिविर में आती है और उसके रूप लावण्य से प्रभावित अब्दुल जब उसे अपने बाहुपाश में आबद्ध करने को बढता है, तब उसकी हत्या कर अपना हृदय शान्त करती है। इस प्रकार अपने उद्देश्य में भी वह सफल होती है और सतीत्व पर भी आच नहीं आने देती। इसमें घटना और पात्र सभी काल्पनिक हैं, किन्तु लेखक ने इतिहास से सबंध आरोपित करने की चेष्टा की है । इसीलिए इतिहास से कोई संबंध नहीं होते हुए भी ऐसे नाटक स्वच्छन्द ऐतिहासिक नाटक की संज्ञा पाते हैं ।

इतिहास की अपनी अविच्छिन्न परपरा होती है । इसके सम्यक् विश्लेषण के लिए मेरुदण्ड के रूप में, जो बात सामने आती है वह है--सस्कृति । इतिहास में जिन विभिन्न राजाओं के आख्यान होते हैं, उनका सस्कार होता है और होता है--सस्कारगत परिवेश । वस्तुतः, रचना में इसी परिवेश का विकास होता है । जब प्रसाद जी के संबध में इतिहास और सस्कृति की बात की जाती है । जब प्रसाद जी के सबध में इतिहास और सस्कृति की बात की जाती है तो उन्होंने स्वय ऐसी बात समन्वय के सबंध में कही, किन्तु विशेष बात अपनी संस्कृति को श्रेष्ठता प्रदान करने के सबध में कही है । इतिहास की तुला के समान अनुसधान की आधार शिला के रूप में संस्कृति के सबध में विभिन्न विचारों का सैद्धान्तिक

विश्लेषण कर रहा हूँ, जिसकी तुला पर प्रमाद की इतिहास और सस्कृति सबधी मान्यताओं का विश्लेषण मेरा अभीष्ट है ।

संस्कृति की व्युत्पत्यात्मक अवधारणा और उसका अर्थ

मूलत. और सामान्यत· यह स्वीकृत सत्य हे कि 'सस्कृति' शब्द सस्कृत के सम्+कृत से व्युत्पन्न है। साथ-ही-साथ यह भी सत्य है कि अर्थ-गौरव और चेतना की दृष्टि से इसका सर्वथा पृथक् सदर्भ और परिप्रेक्ष है। यह शब्द 'सम्' उपसर्ग और 'कृ' धातु के समन्वय से निर्मित है, जिसके अर्थ हैं-समग्ररूपेण निर्माण, शोधन परिष्करण। यह ध्यातव्य है कि 'सस्का', शब्द भी सस्कृति की ही तरह निष्पन्न है, किन्तु अर्थ-गौरव और गाभीर्य के वे स्तर और गरिमा उसे प्राप्त नहीं है। पडित मोतीलाल शर्मा के अनुसार 'सम्'+ स + कृति = सस्कृति के विभाग हैं। वैयाकरण पाणिनि के प्रसिद्ध सूत्रानुसार 'सम्' उपसर्ग के आगे कृति कारादि की स्थिति जब होती है, तब सुर की उपस्थिति हो जाती है। परिणामत:, 'सम् + कार' तथा 'सम + कृति' शब्दों से सस्कार तथा सस्कृति जैसे शब्दों के निर्माण होते हैं[1]।

हिन्दी के महत्त्वपूर्ण शब्दकोशों में भी सस्कृति के अर्थ-आचरणगत परम्परा, परिष्कार, निर्माण, शुद्धि, पूतता, सजावट, उद्योग, निश्चय इत्यादि स्वीकारे गये हैं।[2] इसे अन्यत्र 'महत्त्वपूर्ण मूल्यों का अधिष्ठान' भी स्वीकारा गया है[3]।

विनियोग और व्यवहार की दृष्टि से 'सस्कृति' शब्द अत्यन्त पुरातन है। ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक, छान्दोग्य उपनिषद्, ताण्ड्य महा-ब्राह्मण, वाजस्नैचिसहिता इत्यादि ग्रन्थों में इसके प्रयोग की वर्त्तमानता है।[4] विभिन्न सदर्भों, उल्लेखों, प्रयोगों के आधार पर ही मोनियर विलियम्स ने सस्कृति के अर्थ-सकल्प (डिटरमिनेशन) प्रयत्न द्वारा कार्य सपन्नता (हेलोविग काजकियेशन), कृति, रचना या निर्माण (प्रिपरेशन), सस्कार द्वारा पवित्रीकरण स्वीकारा है[5]। वेद में सस्कृति को सवैदिक देवताओं के रूप में देवी कृतित्व का अर्थ द्योतक माना गया है-''अविच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितार : स्याम। सा प्रथमा सस्कृति विश्ववरा प्रथमोवरुणो मित्रो अग्नि:[6]। ताण्ड्य महाब्राह्मण ने सस्कृति को यों परिभाषित किया है-तथेवा देवस्थाने तिष्ठन्त: सस्कृतिनासमस्कुर्वन । तत्सस्कृत· सस्कृतित्वम् । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार -- यानस्सोमानि, यानि पृष्ठानि यानिछन्दासि एतसोरेव सा

---

1. पडित मोतीलाल शर्मा-सत्ता निरपेक्ष सस्कृति एव सत्ता सापेक्ष समयता शब्द का चिरतन इतिवृत्त तथा भारतीय सास्कृतिक आयोजनों की रूप-रेखा, पृष्ठ 7 (शीर्षक-सस्कृति शब्द के सम + स + कृति रूप वर्ग विभाग)।
2. वृहत् हिन्दी शब्द-कोश।
3. हिन्दी साहित्य-कोश।
4. डा० मगलदेव शास्त्री-भारतीय सस्कृति का विकास, पृष्ठ 3।
5. मोनियर विलियम्स-सस्कृत-इगलिश डिक्शनरी।
6. यजु सहिता-7/14

सस्कृति:[1] । इसी में अन्यत्र इसे यों सूचित किया गया है--अर्थात : सस्कृतिरेव स· प्रजापति , सो अग्नि, स: यजमान·[2] ।

हिन्दी विश्वकोश में 'सस्कृति' को यों सरलीकृत किया गया है-- सस्कृति-(सज्ञा-स्त्री0) सस्कृति न् । शुद्धि, सफाई, सुधार, परिष्कार, सस्कार, सजावट, आराइश । सभ्यता, रहन-सहन आदि की रूढि। चौबीस वर्ण के वृतों की सज्ञा[4] ।

विभिन्न शब्द कोशों के आधार पर 'सस्कृति' शब्द के शाब्दिक और मौलिक अर्थ यों निश्चित होते हैं--सस्कार सयुत करना, परिष्करण, तैयार करना, सुधारना (सस्कार द्वारा मन, वचन, कर्म, हृदय और उसकी वृत्तियों को सुधारना)। 'सस्कृति' और सस्कार की व्युत्पत्ति, अर्थवत्ता की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में कोई विशेष या मौलिक अन्तर नहीं है। वस्तुत: दोनों एक दूसरे के सम्पोषक और पूरक हैं । 'सस्कार' की व्युत्पत्ति -'सस्क्रियते नेन इति सस्कार:' के आधार पर इसके अर्थ हैं उत्तम बनाना, परिष्कार करना, सयमन, संशोधन करना इत्यादि। व्यावहारिक दृष्टि से सस्कृति भी यही अर्थ बोध करती है। 'सस्कृति' शब्द से प्रत्यक्षत: सबद्ध सस्कृति का अर्थ है सुन्दरतम सस्कारों से अभिभूत, युक्त । 'सस्कृत' भाषा के सबध में भी ये ही विचार और सदर्भ लागू होते हैं । आरभिक स्थिति में जन जीवन में प्रवर्तित, प्रचलित भाषा, जो न तो पूर्णत: परिष्कृत थी और न मानव की समस्त रागात्मक, भावात्मक चेतना की अनुभूतियों के सवहन की शक्ति से युक्त । उसे वैदिक काल में विशेष स्वतत्रता और व्यापकता प्रदान की गयी । जिस प्रकार ऋग्वैदिक सस्कृत भाषा में व्याप्त स्वच्छन्दता और अनियमितता को व्याकरण कें कठोर नियमों से आबद्ध कर नियमन, परिशीलन तथा समयन कर पूर्णत. सस्कार सपन्न करने का श्रेय पाणिनि की प्रज्ञा और मेधा को है उसी प्रकार मानव को नैतिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक सस्कारों की कठोर सीमाओं में रखकर पूर्णत: सस्कृत किये जाने की परिणति तक पहुँचाने का श्रेय सस्कृति को ही है। मानव ने आदिम अवस्था की स्वच्छद स्थिति को मिटाने के लिए एव अपने अदर के दोषों से निवृत्ति पाने हेतु सस्कारों द्वारा अपनी परिष्कृति की होगी। जीवन को उदात्त बनाने वाले वे ही जीवन मूल्य सस्कृति के उपादान हैं । यानि धात्वर्थ और अभिधार्थ के आधार पर सस्कार-सस्कृति अत्यन्त सन्निकट और पारस्पराश्रित है । इस प्रकार सस्कार का नाम आते ही संस्कृति भी प्रक्षेपित हो जाती है । मानव के सामाजिक और सास्कृतिक इतिहास से यह तथ्य पुष्ट होता है कि मनीषियों ने, अध्येताओं ने मानव को सर्वमागलिकता प्रदान करने के लिए संस्कारों जैसे तत्वों का विधान किया, जिससे मानव मन, हृदय, वचन, कर्म के दोषों से मानव मुक्त हों।

---

1 शतपथ ब्राह्मण 7/4/1/45

2 वही-8/3/4/11

3 डा० नगेन्द्रनाथ वसु-हिन्दी विश्वकोश, 1930-संस्करण, भाग-30, पृष्ठ 444।

कालान्तर में इन्ही सस्कारों ने सस्कृति का स्वरूप ग्रहण किया। इस विवेचन के आलोक में यह सर्वथा स्पष्ट है कि सस्कृति का एकमात्र तात्पर्य है-- सस्कार-समृद्धि, नैतिक, नैष्ठिक आचरणों की शुद्धता, मानव मूल्यों की अविकल प्रतिष्ठा । जिस प्रकार स्वर्ण-खण्ड और स्वर्ण-पिण्ड को अपनी प्रज्ञा, कला से स्वर्णकार विविध रूपों के आभूषणों में परिवर्तित करता है, उसी प्रकार राष्ट्र की सस्कृति के आधार पर विद्वान अध्येता सस्कारों का परिवर्तन कर जीवन में महार्घता लाने के उपक्रम करते हैं । भारतीय धर्मशास्त्रों में विहित सोलह सस्कारों के ये ही उद्देश्य है । उन समस्त सस्कारों को प्रधानतः तीन खण्डों में रखा जा सकता है--(क) दोष - निवारक, (ख) वैशिष्ट्य प्रदायक, तथा (ग) गुणावबोधक । प्रकारान्तर से डा० भगवत शरण उपाध्याय ने भी स्वीकारा है कि व्यक्ति के मन, वचन की शुद्धि व्यक्तित्व के विकास, आचरण में शिष्टता तथा व्यवहार में सस्कृत करने के सुकार्य सस्कृति द्वारा ही सपन्न होते हैं[1] ।

विद्वानों, समीक्षकों की सामान्य धारणा है कि अगरेजी कल्चर (culture) शब्द हिन्दी सस्कृति का पर्याय है। वैसे दोनों शब्द एक दूसरे के प्रत्यायक और समान अर्थ द्योतक प्रतीत होते हैं । व्युत्पत्ति के निकष पर अगरेजी 'कल्चर' लैटिन भाषा के 'कोलर' (coler) से व्युत्पन्न और कल्तुरा (cultura) से निष्पन्न है । कल्तुरा का शाब्दिक अर्थ है--वृक्ष-रोपण, कृषि सबधी कार्यों का सपादन तथा पशु पालन । यह शब्द पूजा, अर्चना सबधी कार्यों का भी बोधक हैं । कृषि सस्कृति ज्ञापक इस शब्द 'कल्चर' का सर्वप्रथम प्रयोग 1420 ई० में कृषि और पशु-सेवा संबधी सदर्भ में हुआ[2]। अपने प्रारभिक रूप में यह शब्द यूरोपीय भाषाओं में इसी संदर्भ में प्रचलित रहा। तदनतर विभिन्न शिक्षाविदों, मनीषियों ने इसका प्रयोग भिन्न अर्थ बोधक सदर्भों में करना प्रारभ किया[3] । अद्यतन काल में 'कल्चर' का प्रयोग मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियों एव वृत्तियों को सुधारने और विकसित करने के संदर्भ में होता है । 'सस्कृति' शब्द भी मन, वचन, कर्म तथा हृदय की वृत्तियों को सुधारने और उदात्त बनाने वाले तत्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है[4] । सभवतः कृषि-कार्य से सबद्ध होने को आधार मानकर ही अगरेजी के प्रसिद्ध कवि बेकन ने सर्वप्रथमतः कल्चर शब्द को मानसिक खेती के सदर्भ में प्रयुक्त किया, जो भारतीय शब्द 'सस्कृति' के समानार्थक है[5] ।

---

1 डा० भगवत शरण उपाध्याय-सास्कृतिक भारत, पृष्ठ 2 ।

2 ए० एल० बरोबर एण्ड क्लाइड क्लुखोन-कल्चर, स० 1952, पृष्ठ 33। शीर्षक डिक्शनरी एण्ड डिफिनिशन ।

3 फिलिप पैग्वी कल्चर एण्ड हिस्टरी, स० 1952, पृष्ठ 72, शीर्षक-द कनीस्ट आफ कल्चर ।

4 डा० बलदेव उपाध्याय-आर्य सस्कृति, पृष्ठ 414-415 ।

5 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-सभ्यता और सस्कृति, पृष्ठ 6 ।

यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि अगरेजी शब्द 'एग्रिकल्चर' प्रकारान्तर और समग्रता में लगभग वही अर्थ वहन करता है । यह शब्द दो शब्दों के मेल से निर्मित है एगर (ager)-खेत ओर कल्चर-जोतना यानी 'एग्रिकल्चर' का शाब्दिक अर्थ हुआ-खेत जोतने की क्रिया । ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि अगरेजी कल्चर और लैटिन कल्तुरा भी कृषि सबधी कार्य के अर्थ के द्योतक हैं। यह सर्वथा स्वीकृत सत्य और सामान्य प्रक्रिया है कि खेत जोतने के क्रम में भूमि के उर्वरा, परिष्कृत और सुन्दर बनाने के उद्देश्य से, घास, रोडे, कॉटे तथा अन्य अनुर्वरक तत्व बडे श्रम और मनोयोग से हटाये जाते हैं। ठीक इसी प्रकार मानस को प्रबुद्ध, विकसनशील तथा चिन्तनशील बनाने का कार्य सस्कृति करती है। समानत , यह माना जाना समीचीन होगा कि 'कल्चर' और 'सस्कृति' दोनों सामान्य प्रवृत्तियाँ, शक्तियों और उद्देश्य के वाहक हैं । 'कल्चर' का लैटिन रूप कोलर भी नाना विधियों, प्रणालियों से कृषि विकसित करने की दृष्टि का द्योतक है । इस प्रकार कोलर, कल्तुरा, कल्चर, एग्रिकल्चर, सस्कृति सामान्य अर्थ और उद्देश्य के प्रत्यायक माने जा सकते हैं ।

यहाँ एक बात विशेष रूप से वर्णनीय है कि लैटिन शब्द 'कोलर' पूजा-अर्चना के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है । वस्तुत. परिस्थिति वश कृषि-कर्म का पर्याय पूजा कार्य भी बन गया । विभिन्न देवी प्रकोप और प्राकृतिक शक्तियों की लीलाओं से परित्राणाय कृषि कर्म में सलग्न लोगों ने पूजा-अर्चना की शुरूआत की, जिससे कृषि कार्य निरापद, निर्विघ्न सपन्न हो सके[1] । अभीष्ट प्राप्ति और निर्विघ्नता के लिए यह परंपरा आज भी सामान्यत: समस्त कृषि वर्गों में प्रचारित है । इसी सदर्भ में मांगलिक, बौद्धिक, मनोभावात्मक शाति के लिए मानव-मन में पूजा की प्रवृत्ति जनमी और पनपी । कालान्तर में यह पूजा दिव्यत्व प्राप्ति के धार्मिक प्रसाधन के रूप में स्वीकृत हुई । 'कोलर' का पूजा सबधी अर्थ परवर्ती काल में भी प्रयुक्त होता रहा। हॉं, सन्दर्भ-परिवर्तन अवश्य हुए। कृषि के परिष्करण का सन्दर्भ कालान्तर में मानव-मस्तिष्क के परिष्करण का सदर्भ बन गया। कृषि-संस्कार के प्रभाव और आधार पर ही मानव-जीवन की सस्कार द्वारा प्राप्त पूर्णता को सस्कृति की सज्ञा से विभूषित किया गया ।

टाइलर की मान्यता और धारणा इस परिप्रेक्ष्य मे ध्यातव्य है । जर्मन शब्द 'कल्चर' भी लैटिन 'कोलर' की ही तरह 'कल्टिवेसन' का अर्थ बोधक रहा है। सन् 1850 ई0 में यह शब्द नये सदर्भ और अर्थगौरव से जुड गया। इस नये अर्थ और संदर्भ को पाश्चात्य भाषाओं ने भी स्वीकारा । जर्मन भाषा का 'कल्चर' शब्द मुख्यत: तीन भिन्न अवस्थाओं और अर्थों में प्रयुक्त हुआ और प्राचीन अर्थ से विकास कर 18वीं शताब्दी तक प्रयुक्त होता रहा। पाश्चात्य देशों में 'कल्चर' को धार्मिक एवं आध्यात्मिक सदर्भ प्रदान कराने का समस्त श्रेय हीगेल और काण्ट

---

1 बोस एण्ड ब्रदर्स-ऐन्थ्रोपोलौजी-स० 1938 ई० ए०डी० भूमिका, पृ० 4 ।

महादय जैसे प्रकाण्ड विद्वान और दार्शनिक मनीषियों को है । उनक बाद वर्क ने सर्वथा पृथक् सदर्भ में इस शब्द का अर्थ-द्योतक कराया[1] ।

'कल्चर' शब्द प्रारभ में एग्रिकल्चर तथा कल्टिवेसन क पर्याय रूप म प्रयुक्त होता रहा । 17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बैकन ने इसे व्यापक सदर्भ में प्रयुक्त किया तदन्तर वह शब्द मानवजीवन के बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक सदर्भों से जुड गया[2] । 18वीं शताब्दी में पुनः दो विद्वानों-मनीषियों-वाल्टेयर और वाईवेनाक्र्स ने इसे मानव-जीवन को पूर्णता देने वाली अवस्था के रूप में परिभाषित किया और परिणामतः कल्चर की सीमा रेखा में उदात्त आचार, साहित्य, कला, विज्ञान धर्म ने प्रवेश किया । इस प्रकार के अर्थ-रूप को मान्यता और विस्तार दिलाने का श्रेय पाश्चात्य प्रमुख मनीषी मैथ्यू आर्नल्ड को है । आर्नल्ड की अवधारणा के अनुसार सस्कृति के दो उद्देश्य हैं-जीवनगत सौन्दर्य और आदर्श के प्रकाश द्वारा मानव को परिपूर्णता प्रदान कराना तथा विद्वेषात्मक परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के विरोध की शक्ति देना[3] । आर्नल्ड ने कल्चर को एक ओर धर्म की अनत शक्ति, विज्ञता, आदर्श, सौन्दर्य प्राप्ति का साधन बताया है, दूसरी ओर यह सिद्धान्त निरूपित किया है कि व्यक्ति समष्टि से निःसग और विरक्त होकर परिपूर्णता नहीं पा सकता[5]। मात्र स्वार्थ-साधन, व्यक्तिगत समुन्नत होने के प्रयास की तत्परता, पूर्ण नहीं प्रत्युत् आशिक उपलब्धि है । समासतः कल्चर मानव की व्यष्टि चेतना की पूर्णता और उपलब्धि नहीं, प्रत्युत समष्टि चेतना की उपलब्धि और परिणति है । सस्कृति समत्वचेतना, समदर्शिता, व्यक्ति में दु.साध्य, आदर्श, महत्तम ज्ञान को, सर्व सुलभ बनाने की क्षमता प्रदान करती है[6] । मैथ्यू आर्नल्ड की इस मान्यता और अवधारणा से आग्ल साहित्य में नये दर्शन और क्रान्तिपूर्ण विचार आये, जिसका ई० सन् की 18वीं शताब्दी के अत में जर्मनी में परिपोषण हुआ । जर्मन विद्वान् हर्डर के अनुसार 'सस्कृति' मानव के भौतिक, औद्योगिक और मानसिक विकास में सहायक साधन है, किन्तु कालान्तर में इसे स्वीकारा नहीं गया[7] और समस्त यूरोप में कल्चर एव सिविलाइजेशन दोनों शब्दों के प्रयोग समान अर्थ और सदर्भ में करने हेतु काफी वैचारिक सघर्ष होते रहे । हीगेल और काण्ट से सर्वथा पृथक् टाइलर ने सस्कृति

1 फिलिप पैग्वी-कल्चर एण्ड हिस्टरी, प्रथम स० पृष्ठ 72-73 ।
2 डा० बलदेव प्रसाद मिश्र-भारतीय सस्कृति को गोस्वामी तुलसी का योगदान, अध्याय-11, पृष्ठ 6 ।
3 फिलिप पैग्वी-कल्चर एण्ड हिस्टरी, पृष्ठ 72-73 ।
4 मैथ्यू आर्नल्ड-कल्चर एण्ड अनार्की-1950 सं०, अध्याय-1, पृष्ठ 44-47। शीर्षक-स्वीटनेस एण्ड लाइट ।
5 मैथ्यू आर्नल्ड-कल्चर एण्ड अनार्की-1950 स०, अध्याय-1, पृष्ठ 96 शीर्षक-स्वीटनेस एण्ड लाइट ।
6 वही, पृष्ठ 46 ।
7 फिलिप पैग्वी-कल्चर एण्ड हिस्टरी-पृष्ठ 74 ।

को व्यक्ति के सस्कार की अर्जित सम्पदा स्वीकारा, क्योंकि वह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि होने के कारण सर्वाधिक सक्षम और सामर्थ्यवान है[1] । प्रोफेसर लेस्ली और क्लूहोम (Cluckoholm) के विचार समान हैं कि नैतिक, अनैतिक अच्छे-बुरे कार्यों, घटनाओं, वस्तुओं का मूल्याकन मात्र समाज-सापेक्ष प्राणी के लिए सभव है, किसी मानवेतर के लिए नहीं[2]। एक्रोबर के अनुसार-- मानव के अस्तित्व काल से ही अस्तित्व ग्रहण करने वाली सस्कृति इसके आधार बनाती और सार्थकता प्रदान करती है[3] । इन धारणाओं और मान्यताओं से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि मानव का अस्तित्व-काल ही सस्कृति का उद्गम काल है । सस्कृति आदर्शों, मानवीय गुणों में विकास, नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों के आधार का समुच्चय-मानी जा सकती है। डा० डी० एन० मजुमदार ने भी सस्कृति को मात्र सामाजिक उपलब्धि नहीं मानकर उपर्युक्त विचार की पुष्टि की है[4] कि वह सस्कार के अधीन नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उपलब्धि है। इसी कारण यह मान्य है कि एक सस्कृति दूसरी समाज-व्यवस्था के लिए बाध्य नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसे समाज भी हैं, जिनकी कोई सस्कृति नहीं है । वस्तुत: सामाजिक व्यवस्थाओं और अभिव्यक्तियों की अपेक्षा सस्कृति मानव को अधिक विशिष्टताए प्रदान करती-कराती हैं ।

यहाँ पर प्रो० लेस्ली के विचार बडे सगत और सटीक प्रतीत होते हैं कि मानव के वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार, मानव-दक्षता और सक्षमता से सस्कृति को स्थायित्व मिलता है[5]। तदनन्तर वह मानव-जीवन को पूर्णता की ओर अग्रसर करती है । उसे सरक्षण देती है, निरापद बनाती है और आदर्श के उच्च शिखर पर अधिष्ठापित करती है। यानी व्यक्ति और सस्कृति दोनों एक दूसरे के अवधारक और पूरक हैं । प्रो० लेस्ली ने यह भी माना है कि व्यक्तिगत और सामूहिक धाराओं और उसमें प्रवाहित होने वाली जीवन धारा के बीच समन्वय स्थापित करना सस्कृति का ही कार्य है[6]।

समासत:, सस्कृति आदि पुरुषों के जीवन के विभिन्न आयामों में उपलब्ध सास्कृतिक चेतना एव निधि है और जीवन के नित्य विकास में सहायक एक अजस्र

---

1 ए० एल० क्रोबर ऐन्थ्रोपोलौजी-1948 स०, अध्याय-7, पृष्ठ 250-53 ।

2 वही पृष्ठ 6 ।

3 ए० एल० क्रोबर ऐन्थ्रोपोलौजी-1948 सं०, अध्याय-1, पृष्ठ 8, शीर्षक-सोसायटी एण्ड कल्चर ।

4 डा० डी० एन० मजुमदार एण्ड टी० एन० मडन-ऐन इन्ट्रोड क्सव टू सोशल ऐन्थ्रोपोलौजी-1960 स०, अध्याय-2, पृष्ठ 8। शीर्षक-कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ।

5 प्रो० लेस्ली ए० ह्वाइट-द इवोलुशन आफ कल्चर 1959 सं० अध्याय-1, मेन एण्ड कल्चर, पृष्ठ 6 । शीर्षक-मैन इज युनिक ।

6. प्रो० लेस्ली ए० ह्वाइट-द इवोलुशन ऑफ कल्चर, 1959 स० । अध्याय-1, मेन एण्ड कल्चर, पृष्ठ 10, शीर्षक-फेक्शन ऑफ कल्चर ।

स्रोत, जा शेलिग मैन के अनुसार मानव क्रिया-कलापों की तरह परिवर्तनशील नहीं है और उत्तराधिकार मे प्राप्त यह निधि मानव को परिष्कृत और विशिष्टता प्रदान करती है[1] । क्रोबर ने सस्कृति को 'मूगे की चट्टान' से उपमित किया है। जिस प्रकार मूगे की चट्टान असख्य और अनन्त कीट समूहों के सहस्रवर्षों तक एकत्रीकरण होने का परिणाम है उसी प्रकार सस्कृति किसी एक व्यक्ति के पौरुष और प्रयास का नहीं, अपितु समाज के दीर्घकालिक श्रम और उपलब्धि की निर्मित है[2] । वह मृत मूगों से बनी आकर्षक किन्तु निष्प्राण चट्टान नहीं है, अपितु आगे की पीढी को निर्देशन देती है, मानव-समष्टि हेतु स्थायी व्यवस्था करती है ।

सस्कृति मानव-विकास के इतिहास की तरह एक अत्यत सफल प्रेरणाप्रद स्रोत हैं, जिसके माध्यम मे मानव के इतिवृत्त का प्रबल सूत्र विज्ञापित होता है । राज्य, प्रशासन, उनकी व्यवस्था तथा सभ्यता में हर आने वाले युग में परिवर्तन होते हैं, किन्तु सस्कृति एक प्रवाह है, अजस्र स्रोत है, जो काल-क्रम में कुछ क्षण के लिए अदृश्य भले हो जाय, विलुप्त नहीं होती । मानव-विकास, उसकी प्रकृति-प्रवित्तु-मान्यताएँ इत्यादि कई सत्य को उद्घाटित करने वाला तत्व सस्कृति ही है, वैसे सस्कृति की रूपरेखा ज्यामिति की सरल रेखा की तरह नहीं है । इसमें वर्षों, युगों, पीढियों की प्रगति की रूपरेखा अकित रहती है । मानव-ह्रास होता है, जातियाँ पतन-के मुख देखती हैं, किन्तु सस्कृति एक प्रेरणा-स्रोत, प्राण-शक्ति है, जो पुन. उन्हें सभलने का वातावरण और प्रेरणा देती है । इस कारण किसी देश, समाज, जाति, समुदाय के विशद् और सम्यक् अध्ययन् हेतु प्रथमत: उसकी सस्कृति की अपेक्षा होती है । उपनिषदों तथा कुछ अन्य सस्कृत ग्रथों ने सस्कृति को यों परिभाषित किया है-कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्न जीवन व्यापारेषु सामाजिक सम्बन्धेषु वा मानवीय दृष्ट्वा प्रेरणा प्रदाना तत्तदादर्शाना समष्टिरेव सस्कृति: . . । वस्तु तस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिक जीवनस्योत्कर्ष: पर्यवस्यति। तथैव तुलया विभिन्न सभ्यतानामुत्कर्षापकर्षो मीयते। कि बहुना, सस्कृतिरेव वस्तुत: 'सेतुर्विघृतिरेषा लोकानाम सभेदाय[3]। यानी किसी भी राष्ट्र या समाज की विभिन्न परिस्थितियों, व्यापारों, सामाजिक सबधों में मानवतावादी दृष्टि के माध्यम से प्रेरणा देने वाले तत्व या आदर्श की समष्टि ही सस्कृति है। सामाजिक जीवन के समस्त परमोत्कर्ष संस्कृति म ही निहित होते हैं । संस्कृति ही वह मापक यत्र है, जिस पर आधृत हो विभिन्न सभ्यताओं के उत्कर्षापकर्ष के सहज ज्ञान प्राप्त होते हैं। सामाजिक संघटन की व्यवस्था का प्रधान और सरल तत्व सस्कृति ही है । सस्कृति को वह तत्त्व भी माना गया है, जो विभिन्न सम्प्रदाय, धर्म और आचार के समन्वय का

---

1. एडविन, आर० ए० सेलिगमैन-इन साइक्लोपिडिया ऑफ द सोशल सायन्सेज-1954 सं० खण्ड 4, पृष्ठ 645, शीर्षक-कैल्चर ।
2. ए० एल० क्रोबर' ऐन्थ्रोपोलौजी-अध्याय-7, पृष्ठ 254-256 ।
3. छान्दोग्यें उपनिषद् 8/4/1 ।

समर्थ आधार है । इन्येव वर्णयितु शक्यते । अतएव च सर्वेषा धर्माणा सम्प्रदायानामाचाराणा च परस्पर समन्वय सस्कृतेरेवा धारेण कर्तुंशक्यते[1]। उपर्युक्त विवेचन का आशय है कि सस्कृति देश-समाज के विभिन्न सामाजिक सबधों, जीवन-मूल्यों तथा व्यापारों को मानवतापूर्ण दृष्टि तथा प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शों की समष्टि है । तपोनिष्ठ कर्मवीर, शिक्षा-सस्कृति के पर्याय भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने राष्ट्र-सुषमा, वैभव, प्राकृतिक सपदा और परपरा को ही सस्कृति स्वीकारा है । वे भारतीय सस्कृति के मूलाधार त्याग एव अहिसा तत्व और नैतिक सिद्धान्तों को स्वीकारते हैं[2]। सस्कृति किसी भी देश का प्राण और सामूहिक चेतना होती है, जो जाति, देश, भाषा के बधना में नही बधती । साहित्य को सस्कृति का मूर्त्त और व्यक्त रूप मानना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है । नृत्य, गान, वास्तुकला, चित्रकला, मूर्त्तिकला इत्यादि में भी सस्कृति के अविकल दर्शन सहज प्राप्त होते हैं । वस्तुतः, सस्कृति का सच्चा स्वरूप वहीं प्राप्त होता है, जहाँ उसमें प्रगतिशीलता और असाम्प्रदायिकता रहती है । वैसे किसी राष्ट्र, जाति या समुदाय की जीवन-पद्धति का सही विवरण प्रस्तुत करने के लिए इतिहास की ही तरह सस्कृति की सीमाओं की पहचान भी आवश्यक है। आजकल की सामान्य धारणा के अनुसार कुछ लोग सस्कृति को नितान्त बौद्धिक और आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में स्वीकृत करते और उसका सबध धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, सगीत, प्रशासन-व्यवस्था से जोडना अधिक समीचीन समझते हैं[3]। इनके मतानुसार मानव-इतिहास ओर मानव-सस्कृति की यात्राए समानान्तर चलती हैं तथा विशुद्ध और सही इतिहास सस्कृति पर आधारित होता है । सस्कृति को एक विद्वान ने यों परिभाषित किया है-'ससार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं, उनसे अपने आपको परिचित कराना सस्कृति है'[4]। या फिर इसे यों भी माना जा सकता है कि 'सस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।[5] दिनकर की पुस्तक की प्रस्तावना में भारत के प्रथम प्रधानमत्री जवाहरलाल नेहरू ने यह स्वीकारा है कि सस्कृति मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है,[6] जो सभ्यता को भी प्रकाशित करती है तथा कुछ ऐसे जीवन मूल्य निर्धारित करती है, जो सर्वथा मौलिक होते हैं, साथ ही प्रारभिक, सार्वकालिक और अंतर्राष्ट्रीय भी । सस्कृति सच्चे अर्थ में वह राग है, जिसमें किसी जाति, देश की आत्मा मुखर होती है। वह तत्व है, जिसमें किसी राष्ट्र का व्यक्तित्व प्रतिच्छायित होता है । समासत· यह स्वीकार करना

1 प्रबन्ध प्रकाश-भाग 2, पृष्ठ 8 ।

2. डा० राजेन्द्र प्रसाद-साहित्य, शिक्षा और सस्कृति, पृष्ठ 172-73 ।

3 दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी-प्राचीन भारत की सस्कृति और सभ्यता, पृष्ठ 12 ।

4. रामधारी सिह दिनकर-सस्कृति के चार अध्याय-प्रस्तावना, पृष्ठ 11-12 ।

5. वही ।

6 वही ।

समीचीन होगा कि सस्कृति वह ध्वजा है जा राष्ट्र और जीवन के मस्त, समृद्ध और उत्साही स्वरूप की कीर्ति ऊँची चोटिया से भी ऊपर आकाश की छाती को चीरकर उससे भी ऊपर प्रतीकित करती है। सस्कृति राष्ट्र की गरिमा और प्रतिभा की सूचिका है। यही कारण है कि हर राष्ट्र, जाति की सस्कृति सर्वथा भिन्न होती है। हर सस्कृति का अपना रग, रूप, धर्म और स्वरूप होता है, जो दूसरी सस्कृति के सम्पर्क में आने पर थोडा बहुत हिचकोले अवश्य खाती है, परिवर्तित नहीं होती। परिवर्तित होने वालो सस्कृति सस्कृति नहीं मानी जा सकर्ती, क्योंकि दृढता सस्कृति का बहुत बडा धर्म और गुण है। विदेशी और बाहरी प्रभावों, आक्रमणों से किसी देश, जाति की सस्कृति नहीं, वहाँ के व्यवहार, विचार, धर्म तथा आदतें आदि ऊपरी आवरण बदलते हैं। यह विश्वविश्रुत सत्य है कि मानव विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है और एक अद्वितीय, रेखाकित महत्त्व की आध्यात्मिक शक्ति। उसके चतुर्दिक व्याप्त विश्व और उसके उपादान आधिभौतिक शक्ति हैं। अपनी अस्मिता और प्रज्ञा के आधार पर मानव अपनी इन्द्रियों को विभिन्न कार्यों के अनुरूप सक्षमता प्रदान करता है, विकारों को साधना और तप के आधार पर जीतता है। ज्ञान, विचार सत्ता को उत्तरोत्तर विकसन शील बनाता है। अपनी आकाक्षा, भावना, बुद्धि को सूक्ष्मतर, हितकर, प्रगल्भ तथा उपादेय बनाता है। यह उसके सास्कृतिक अभ्युदय का परिचालक है। इन्हीं सदर्भों के परिप्रेक्ष्य में आचार्य चतुरसेन ने सस्कृति को यों परिभाषित किया है-'आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियों को सामाजिक जीवन के उपयुक्त बनाने की कला को सस्कृति कहते हैं[1]। इसी आध्यात्मिक सस्कृति के साहाय्य से न्याय, नीति, सत्य, सौन्दर्य, श्रेय और प्रेय की उद्भावना की सभावना होती है और फिर उन उपलब्धियों के आधार पर साहित्य, धर्म, विधि, विज्ञान तथा सामाजिक एव राजनैतिक व्यवस्था का विधान। आचार्य चतुरसेन की यह भी अवधारणा है कि आधिभौतिक सस्कृति ही अखिल विश्व और मानव के चतुर्दिक विस्तृत सामाजिक जीवन के नियमन-नियत्रण में सहायिका है। वेरवि प्रकारान्तर से साहित्यकार को सस्कृति का उद्गाता और अधिष्ठाता मानते हैं। सस्कृति सच्चे अर्थ में जीवन को सार्थकता और परिपूर्णता दिलाने वाली व्यवस्था मानी जा सकती है।

यहाँ कुछ बातें ध्यातव्य है कि सस्कृति का परिसीमन सकीर्ण परिधि में भी कुछ विद्वान् करते हैं। वे अपने परम्परागत धर्म और सप्रदाय को सस्कृति का पर्याय समझते हैं, जो सर्वथा भ्रामक धारणा है। भारतीय धर्म-दर्शन, चेतना को उजागर और प्रसारित करने वाली सर्वाधिक प्रमुख पत्रिका 'कल्याण' के हिन्दू सस्कृति विशेषाक (जनवरी-1950) में एक प्रसिद्ध इतिहासकार ने ऐसी ही भ्रान्त धारणा व्यक्त की है[2], जिन्हें संस्कृति धर्म, सप्रदाय, सदाचार आदि से ऊपर नहीं दीखती

---

1. आचार्य चतुरसेन शास्त्री-भारतीय सस्कृति का गौरव, पृष्ठ 9 ।
2 डा० मगलदेव शास्त्री-भारतीय सस्कृति का विकास, पृष्ठ 4-5 ।

है। सस्कृति को वे देश की आत्मा से पृथक् एक सकीर्ण स्वरूप स्वीकारते हैं, जो नितान्त गुमराह करने वाली धारणा है। वे मानते हैं-भारतीय राष्ट्र का भौगोलिक अस्तित्व तो माना जा सकता है, पर भारतीय सस्कृति नाम की कोई वस्तु नहीं है[1]।

भारतीय सस्कृति के सदर्भ में व्यक्त की जा रही कुछ अन्य धारणाएँ भी सस्कृति के भ्रामक स्वरूप को स्वीकारती हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति है, जो आज धडल्ले से सस्कृति को किसी राष्ट्र में स्वीकृत विभिन्न सम्प्रदायों का स्वरूप नहीं मानकर उसे किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का पर्याय मानते और सस्कृति को 'फालतू बात' की सज्ञा से अपमानित करते हैं[2]। इस धारणा के पोषक-समर्थक राष्ट्र की नौका डुबाने के अतिरिक्त कुछ और नहीं कर सकते हैं। ऐसी धारणाएँ, वस्तुत॰, प्रतिक्रियावादिता, अज्ञानता और अदूरदर्शिता के परिणाम ही माने जा सकते है, कुछ और नहीं। वस्तुतः सस्कृति एक लचीली रज्जु है, जो किसी राष्ट्र के समस्त धर्म-सप्रदायों को एक सूत्र में आबद्ध करती है, स्वाभिमान और गौरव के चित्र प्रस्तुत करती है तथा परस्पर होने वाले विरोधों, सघर्षों, विषमताओं, आपसी द्वन्द्वों के हलाहल को समाप्त करने की स्वस्थ पीठिका तैयार करती है। सस्कृति का प्रधान गुण है-जीवनदायिनी अमृत धारा का प्रवाह, सुरसरि सम सबके लिए उपादेय होना। अस्तु, यह मानना विशेष समीचीन और उपयुक्त होगा कि सस्कृति परिष्कार और पूतनता की विशिष्ट दृष्टि है, जिसके अभाव में जीवन के मूल्यन, परिशीलन की सभावना अकल्पनीय है। समग्र विवेचन के बाद अत में यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सस्कृति एक भावना है, जिसे परपरा से प्राप्त और अर्जित सस्कारों के आधार पर हम भावन करते हैं। सारांशतः, सस्कृति एक सतत् गतिमान सामाजिक परपरा है, समाज और व्यक्ति की व्यवहार-समष्टि की समवेत चेतना है, अकल्प्य और अक्षय भडार है, जीवन में व्याप्त संस्कारों द्वारा परिष्कृत-परिमार्जित अवस्था है, जिसमें रीति-रिवाजों, नीति-विश्वास, कला-कौशल, आदर्श, क्षमताएँ सब विद्यमान रहती है। ए० इरविष हेलो वेल ने इसे जीवन में रस प्रवाहित करने वाली जैविक परम्परा से भिन्न एक सामाजिक रिक्थ माना है, जो समवस्था की प्रणाली से परम्परा के रूप में प्रवर्तित होती रहती है[3]।

सस्कृति के समुचित और सम्यक् विकास के लिए नाना प्रकार के सस्कारों की नितात आवश्यकता होती है । इन सस्कारों में शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, वस्तुगत और भावगत सस्कार होते हैं। शारीरिक सस्कार संस्कृति को आधार देते हैं। यह स्पष्ट है कि शारीरिक स्थिति, हर्ष-विषाद, मानव की चित्तवृत्तियों को प्रभावित करती हैं। जीर्ण और रोग-ग्रस्त शरीर की चेतना भी तदनुरूप होती है। आध्यात्मिक साधना और उपलब्धियों के लिए शारीरिक या

1. डा० मगलदेव शास्त्री-भारतीय सस्कृति का विकास, पृष्ठ 4 का फुटनोट ।
2. वही, पृष्ठ 5 का फुटनोट ।
3. ए० एल० क्रोबर-ऐन्थ्रापोलॉजी-पृष्ठ 599, शीर्षक-कल्चर, पर्सनैलिटी एण्ड सोसायटी ।

कायिक मस्कारों का समुन्नयन और दृढीकरण अपेक्षित है, क्योंकि धर्म-साधना का प्रमुख आधार और उपकरण शरीर ही होता है । इसलिए कहा जाता है-'शरीर माद्यखलुधर्म साधनम्'। अस्वस्थ-शरीर द्वारा धर्म-साधना और सस्कृति-पोषण सर्वथा अकल्पनीय है। शरीर की सपुष्टि के लिए ही आसन-प्राणायाम का प्रावधान किया गया है। भारतीय शास्त्रों ने स्पष्ट स्वीकारा है-'वीर्याहते काचननास्ति सिद्धिः' यानी वीर्य सबलित काया ही सिद्धि के आसादन के लिए उपयुक्त हो सकती है। स्वस्थ शरीर में सुदृढ आत्मा रहती है और सुदृढ आत्मा में सस्कृति का निवास होता है[1]। मानसिक सस्कारों का आसादन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के समन्वित स्वरूप के आधार पर होता है और सस्कृति का आसादन उन पर निर्मित सस्कारों के आधार पर। गीता ने भी सस्कार हेतु मन मस्तिष्क की उत्कृष्टता को अपरिहार्य माना है, और ज्ञान को सर्वोपरि[2]। मानसिक सस्कारों की अभिवृद्धि के लिए स्वाध्याय, चितन-मनन का महत्ता बतायी गयी है। ये उपादान चारित्रिक उत्कर्ष के लिए भी आवश्यक हैं। यह स्वीकृत सत्य है कि वातावरण व्यक्ति और व्यक्तित्व बनाते हैं। व्यक्ति और व्यक्तित्व के सस्कारों पर ही सस्कृति बनती है। यह पूर्व निवेदित और विवेचित है। जीवन के विभिन्न आश्रमों, अवस्थाओं और अनुभवों का उद्देश्य है शुद्ध वातावरण देकर स्वस्थ सस्कार और समृद्ध सस्कृति की सरचना। तप, त्याग, रहन-सहन, आचार-विचार इत्यादि वे साधन हैं, जो सस्कारों को प्रभावित करते हैं।

मनोगत सस्कारों की ही भाति भावगत सस्कार भी सस्कृति के उत्कर्ष-अपकर्ष के कारण बनते हैं। प्रकृति या परिस्थिति के विपरीत किसी को फलते-फूलते या विपन्न देखकर अनायास हमारी भावनाएँ आश्चर्यचकित या उद्धार और सहायतार्थ उन्मुख और जाग्रत होती है। सहयोग की यह भावना विशुद्ध सस्कार की उपज है। प्राकृतिक सुषमा, वैभव और दृश्यों से जब कवि की भाव चेतना उद्वेलित होती है तब उसके अन्तःकरण की वाणी शब्दों में मूर्त्त हो जाती है। यह हमारे भावगत सस्कार का ही परिणाम है कि आँखें मूँदकर हम वातावरण में फैले दृश्य लोक को और परिस्थितियों को ज्यों-के-त्यों नहीं स्वीकारते। निजी सस्कारों के अनुरूप देखते-परखते है।

जीवन मूल्यों, उच्चादर्शों, लोकमागलिक भावनाओं वाली सस्कृति का निर्धारण हमारे नैतिक सस्कार ही करते हैं। यह नैतिक सस्कारों की ही प्रेरणा का परिणाम है कि अनाचार-दुराचार को रोकने-मिटाने के लिए हम मरण का वरण करने में भी नहीं चूकते। या फिर, लोक-कल्याण हेतु विषपान कर भी कालजयी और आत्मजयी की सज्ञा से विभूषित होते हैं। ये नैतिक सस्कार कुछ वशानुक्रम से प्राप्त होते हैं और कुछ व्यवहार जन्य अर्जित। सास्कृतिक और नैष्ठिक जीवन-यापन के लिए सर्वाधिक अपेक्षा नैतिक सस्कारों की ही होती है। पातजल योग दर्शन में इन

1 डा० राजबली पाण्डेय-हिन्दू सस्कार, स० 2014 सस्करण-अध्याय-3, पृष्ठ 33-35, शीर्षक-सस्कारों का प्रयोजन ।

2 भगवद्गीता-4/38 ।

नैतिक संस्कारों की शुद्धि और समृद्धि के लिए पंचशील की प्रतिष्ठा की गयी है-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह।

संस्कृति की उदात्तता और विशिष्टता के लिए नैतिक संस्कार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जो चित्र को परिष्कृत और चेतना को समुन्नत और ऊर्ध्वोन्मुखी करते हैं। तदनन्तर हम अपनी जीवन-यात्रा अध्यात्म संपुष्ट मार्ग और संस्कृति निर्दशित दिशा में करने में सक्षम हो सकते हैं। इस सत्य को प्रकारान्तर और भाषान्तर से विश्व के सभी तत्त्व चिन्तकों और मनीषियों ने स्वीकारा है। विश्व की समस्त विभूतियों द्वारा भौतिक सुखोपलब्धि का त्याग और शाश्वत शक्ति के प्रति अनुरक्ति समृद्धि और प्रबल नैतिक संस्कारों के परिणाम हैं। औपनिषदिक भाषा में ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या। ईश्वर अंशी है, आत्मा अंश। संस्कृति इन दोनों के समन्वय का भी तत्र है। इस संस्कृति का निर्धारण और प्रवाहन आध्यात्मिक संस्कार करते हैं। वेदो में निहित और उल्लिखित दिव्य शक्ति की पूजा-अर्चना का प्रावधान इन्हीं संस्कारों के निर्माण हेतु किया गया है । ये संस्कार एक ओर प्रातिभ ज्ञान से परिपूर्ण करते हैं दूसरी ओर दैवी गुणों से विभूषित। अस्तु, यह कहना सर्वथा समीचीन होगा कि संस्कृति विभिन्न विश्वास, मान्यताएँ, धारणाएँ, लोकाचार, जीवन मूल्य और उच्चतम आदर्शों के समीकरण का सुखद परिणाम है। भारतीय संस्कृति में निर्दिष्ट सोलह संस्कारों में उपनयन और विवाह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण और उपादेय हैं। विश्व की अन्य संस्कृतियों में इनका स्थान और महत्त्व नहीं दिया गया है। मात्र आर्य और हिन्दू संस्कृतियाँ इसकी महत्ता प्रतिपादित करती हैं। उपनयन परिष्कृति और कर्त्तव्य-बोध का स्रोत है। उसके तीन धागे वस्तुतः धर्म, कर्म और उपासना के द्योतक हैं, जो जीवन के मूल मंत्र और मुख्य कर्तव्य होते हैं। भारतीय शास्त्रों में इसे पवित्र, आयुवर्द्धक और शक्ति दायक बताया गया है- यज्ञोपवीत परम पवित्र प्रजापतेर्यत सहजं पुरस्तात् आयुस्यमग्रय प्रतिमुंच शुभ्रम् यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः। बहुत लोग इसे धर्म का आडम्बर रूप मानते हैं, किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। उपनयन शब्द का तात्विक अर्थ होता है-बाह्य नेत्रों को विशेष और अंतः दृष्टि देने वाले सहायक नेत्र यानी ज्ञान, संकल्प और कर्त्तव्य बोध कराने वाले अपूर्व साधन। विवाह, अन्य संस्कृतियों में एक पारस्परिक समझौता मात्र है जो हल्की गर्म हवा के झकोरों और विवादों से विचलित हो जाता है। विशेष कर पश्चिमी और मुस्लिम संस्कृति में विवाह बहुत शीघ्र जुटने और टूटने के उदाहरण प्रायः प्राप्त होते हैं, फारसी शब्द 'शादी' शाद से बना है, जिसका अर्थ होता है आनन्द मनाना। आनन्दित होना। भारतीय संस्कृति (हिन्दू संस्कृति) विवाह को एक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में बांधकर बहुत अधिक महत्व प्रदान करती है। यहाँ विवाह एक संस्कार है, जिसे आसानी से मिटाया या तोडा नहीं जा सकता। अन्य संस्कृतियाँ विवाह को सांसारिक सुखोपभोग और आनन्द मनाने का साधन मात्र समझती हैं। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति उसे सुदृढ परंपरा तथा सफल उत्तराधिकार ढोने का आधार

मानती है।

संस्कृति को एक दृष्टिकोण मानना भी उपयुक्त ही होगा, जो हमें जीने की एक विशेष दृष्टि देती है। संस्कृति की अन्य परिभाषाएँ भी विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी हैं, जो उपयुक्त विवेचन में वर्णित तथ्यों के कुछ समानान्तर और कुछ विभिन्न हैं। श्रीरामनाथ सुमन ने माना है कि संस्कृति मानव-समूह के उदात्त गुणों की सूचिका है, जो उसकी विशिष्टता बताती है[1]। प० किशोरीदास वाजपेयी ने इसे संस्कारों का मूर्त्त रूप माना है जिसकी व्यंजना वेष, भाषा, आचार, व्यवहार तथा रीति-रिवाज आदि से होती है[2]। छायावाद के प्रबल स्तम्भ कवि पंत के शब्दों में-'संस्कृति को मानवीय पदार्थ मानता हूँ जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्वचेतना-शिखर का प्रकाश और सामयिक जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छाया में गुम्फित हैं। इसके भीतर अध्यात्म, धर्म, नीति से लेकर रूढि, रीति तथा व्यवहारों का सौन्दर्य भी एक अन्तः सामंजस्य ग्रहण कर लेता है[3]। इन्द्र विद्यावाचस्पति के अनुसार-'किसी देश की आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक विभूति को उस देश की संस्कृति कहते हैं[4]। राष्ट्रकवि दिनकर के विचार में संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है, जो सदियों से संग्रह होकर उस समाज पर छा जाता है, जहाँ हम पैदा होते हैं[5]। महाकवि प्रसाद ने अपने समस्त साहित्य में संस्कृति को प्रवाहित कर उसे यों परिभाषित किया है-संस्कृति, सौन्दर्य बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है जिसका मौलिक सम्बन्ध सामूहिक चेतना, मानसिक शील, शिष्टाचार और मनोभावों से है।[6] प्रसाद-साहित्य की विचारधारा का स्वस्थ विश्लेषण करते हुए डॉ० दिनेश्वर प्रसाद जी का यह मानना अत्यंत महत्त्वपूर्ण और उपादेय है कि साहित्य की अवगति तब तक संभव नहीं, जब तक उसे अपने वृत्त से बाहर ले जाकर उसके उत्स, अर्थात् संस्कृति से संबद्ध कर नहीं देखा जाय[7]। डॉ० दिनेश्वर प्रसाद ने संस्कृति को सौन्दर्य-बोध विकसित करने की चेष्टा स्वीकारा है, जो सर्वथा सत्य है। इनकी धारणा के अनुसार संस्कृति के प्रधान उद्देश्य हैं-जैविक मनोभावों का परिष्कार और उन्नयन, सौन्दर्यबोध और सामूहिकता[8]। यहाँ सौन्दर्य बोध का अभिप्राय सुन्दरता-कुरूपता का बोध कदापि नहीं। मैथ्यू आर्नल्ड द्वारा संस्कृति को माधुर्य और प्रकाश मानने पर समनर ने उसे काफी, दूध और चीनी कहकर उपहासित किया था[9]। यानी यह

1 कल्याण-हिन्दू-संस्कृति अंक।
2 वही।
3. उत्तरा-पृष्ठ 15।
4 भारतीय संस्कृति का प्रवाह, पृष्ठ 1।
5. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 653।
6 काव्य और कला, पृष्ठ 27-29।
7 डॉ० दिनेश्वर प्रसाद-प्रसाद की विचारधारा, पृष्ठ 3।
8 वही, पृष्ठ 4।
9. मैथ्यू आर्नल्ड-कल्चर एण्ड अनारकी (संस्कृति और अराजकता), 1869 ई०।

मानना अधिक स्वस्थ हे कि सस्कृति के सदर्भ में 'सामूहिकता का अर्थ केवल अन्तर् वैयक्तिकता ही नहीं, वरन् यह भी है कि सस्कृति समुदाय-विशेष की होती है, अर्थात् सापेक्ष होती है[1]। इसी कारण सौन्दर्य और दर्शन सबधी-रुचि भेद सस्कृति की विशेषता है, अवगुण नहीं। नीर भरी दु ख की बदली से हमें अनुस्यूत कराने वाली कवयित्री महादेवी वर्मा ने सस्कृति को विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि माना है[2]। हिन्दी के सुधी आलोचक डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने सस्कृति की परिभाषा यों दी हैं-'सस्कृति परम्परागत प्रतिष्ठित उन्नीत विचारों की सामूहिक अभिव्यक्ति है[3]। ऊपर के विवेचनों के आधार पर यह सहज रूप से निश्चित किया जा सकता है कि सस्कृति हृदय और मस्तिष्क की मुक्तावस्था है, जिसमें जन्म से मरण तक के विभिन्न क्षणों को निर्देशन देने वाले उदात्त तत्व, तेजस्विता, प्रज्ञा, उच्चता के आदर्श विद्यमान हैं। हॉ, वही सस्कृति स्थिरता पाती है, जो अधिक जीवन्त, लोक मगलकारी तथा व्यापक दृष्टिकोण रखती है। ऐमी सस्कृति प्रतिकूल परिस्थिति और तूफानी आक्रमणों में भी क्षीण और विचलित नहीं होती। दुर्बल सस्कृति आक्रामक सस्कृति में अपना अस्तित्व मिटाकर अवश्य समाहृत हो जाती है। इसे दुर्बल सस्कृति की विवशता ही माना जा सकता है। डा० भोलानाथ ने अपनी पुस्तक[4] में विभिन्न पाश्चात्य-पौर्वात्य विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त विचारों और निश्चित की गयी अवधारणाओं के आधार पर सस्कृति की अठारह विशेषताएँ निश्चित की हैं। वस्तुत: वे सस्कृति की विशेषताएँ नहीं, परिभाषाएँ नहीं, अपितु विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्याओं का सक्षेपण और साराश है। इससे एक लाभ अवश्य है कि विभिन्न विचार-बिन्दु समीकृत होकर एक साथ प्राप्त हो जाते हैं। अन्ततः, यह स्वीकारा जा सकता है सस्कृति मानव जीवन की शक्ति, प्रगतिशील साधनाओं की अभिभूति, राष्ट्रीय आदर्शों की गौरवमयी मर्यादा और स्वतंत्रता की वास्तविक प्रतिष्ठा है[5]।

संस्कृति और सभ्यता

ऊपर के विवेचन में सभ्यता का वर्णन-विश्लेषण नहीं किया गया है। वस्तुतः, सस्कृति के साथ सभ्यता के ताल-मेल से जीवन की धारा अविरल प्रवाहित होती है। यानी सस्कृति और सभ्यता जीवन-सरिता के दो ऊचे और सबल किनारे हैं, जो धारा को उत्क्रमित और सकुचित होने से रोकते हैं। सच तो यह है कि सस्कृति मानव की आतरिक चेतना है और सभ्यता बाह्य। सभ्यता सभ्य जनों का

1. डॉ० दिनेश्वर प्रसाद-प्रसाद की विचारधारा, पृष्ठ 6-7 ।
2. क्षणदा, पृष्ठ 23 ।
3. हिन्दी साहित्य प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 34-38 ।
4 आधुनिक हिन्दी-साहित्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ 35-37 ।
5 कल्याण-हिन्दू सस्कृति विशेषाक, पृष्ठ 40 । स्वामी राघवाचार्य का निबध सास्कृतिक [illegible] ।

चारित्रिक चमक है और सभ्य वे हैं जो सभाओं में पूजित-विभूषित होते हों -- 'सभायाम् सभ्य ' विद्वानों ने सभ्यता को बौद्धिक और व्यावहारिक ज्ञान तथा प्रकृति को नियत्रित करने वाले साधनों का समुच्चय माना है । इसमें सामाजिकता के विशिष्ट गुणों का होना नितान्त अनिवार्य है, जिससे मनुष्य समाज और सभा में सुन्दर और उचित व्यवहार द्वारा सम्मान प्राप्त कर सके। सभ्यता में कर्त्तव्य; विधि निषेध के नियम, शील आचरण, व्यवहार-कुशलता, सामाजिकता और व्यावहारिक उदात्तता जितनी अधिक रहेगी, वह उतनी ही सुन्दर और हितकारी होगी। यानी सभ्यता उचित आचार-युक्त मनोवृत्त का प्रतिरूप है[1]। यह मानना भ्रामक है कि सभ्यता में दर्शन और धार्मिक परम्पराए निर्वहित होती हैं। वस्तुतः, सामाजिकता का आग्रह उसका सबसे बडा गुण हैं । सभ्यता और सस्कृति एक क्षण या सीमित काल की निमित नहीं है, बल्कि लम्बे अतराल और कालक्रम का परिणाम है। सभ्यता के निर्माण में प्रकृति और उसके उपादान जितने सहायक हैं, मानव जिज्ञासा और सकल्प उससे कम नहीं। डॉ० सत्यकेतु विद्यालकार की धारणा है कि प्रकृति से प्राप्त शक्ति और सौन्दर्य का उपयोग कर मनुष्य ने जो अपरिमित उन्नति प्राप्त की वही सभ्यता है[2]।

सस्कृति और सभ्यता के तुलनात्मक विश्लेषण से यह सत्य सपुष्ट होता है कि सस्कृति जीवन के आतरिक गुणों का परिष्करण करती है और सभ्यता मानव की बाह्य प्रवृत्तियों का नियत्रण। सभ्यता अपने प्रभाव अल्पकाल में ही थोप देती है, किन्तु सस्कृति लबे अन्तराल के बाद गुणीभूत करती है और दीर्घकाल यानी युगों तक अपना प्रभाव बनाये रखने में सर्वथा समर्थ होती है । सस्कृति वैयक्तिक सस्कार को पुष्ट करती है और सभ्यता सामूहिक तथा बाह्य आचरणों को नियत्रित। ऐसे बहुत प्रमाण मिलत हैं कि आतरिक शील-सयम से भ्रष्ट व्यक्ति बाह्य-व्यवहार और आचरणों में अत्यत सफल और कुशल होते हैं ऐसी स्थिति में वे सभ्यता माने जाएगे, सुसंस्कृत नहीं। ऐसे अनेक धर्मपरायण और तपःपूत मिलते हैं, जो सस्कृति के पर्याय हैं, किन्तु सासारिकता, सामाजिकता और सभ्यता से सर्वथा निःसग। वस्तुतः, सस्कृति एक अन्तश्चेतना, असीम आनन्द का स्रोत तथा सौन्दर्यानुभूति है और सभ्यता सर्वथा भौतिक सुखशाति व्यवहार का साधन। सस्कृति का क्षेत्र विस्तार सभ्यता की अपेक्षा कम होता है, क्योंकि सस्कृति किसी राष्ट्रीय समुदाय विशेष की निजी चेतना होती है और सभ्यता उसका बाह्य स्वरूप । निष्कर्षतः, यह धारणा निश्चित की जा सकती है कि दोनों एक-दूसरे के पूरक और सवाहक हैं। सस्कृति यदि निष्कलुष आत्मा है, तो सभ्यता उसे सयो कर रखने वाला स्वस्थ शरीर।

---

1 भगवत शरण उपाध्याय-सास्कृतिक भारत, पृष्ठ 7-15 ।

2 डा० सत्यकेतु विद्यालकार-भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, भाग-1, प्रथम अध्याय, भारतीय सस्कृति और सभ्यता, पृष्ठ 18 ।

भारतीय संस्कृति का स्वरूप

स्व० जयशाकर प्रसाद भारतीय सस्कृति के पर्याय क रूप म सर्वस्वीकृत साहित्यकार माने जाते हैं। उनकी अपनी अवधारणा है कि सस्कृति सामूहिक चेतना और मानसिक शील, शिष्टाचार से सम्बद्ध सौन्दर्य-बोध के विकास का प्रयास है। इसलिए उनके साहित्य में सस्कृति के स्वरूप को निश्चित करने के पूर्व भारतीय सस्कृति के स्वरूप का दर्शन अपेक्षित है। उनके समस्त साहित्य में भारतीय सस्कृति अप्रतिहत चेतना की तरह विराजमान है।

भारत की प्राचीनतम सस्कृति के रूप में आर्य सस्कृति सर्वस्वीकृत हो चुकी है, जिसके स्वरूप अद्यतन काल में विकसित और परिमार्जित होकर उभरे हैं। आर्य शब्द की विवेचना से स्पष्ट है कि मूलत· यह शब्द 'अर' धातु से बना है जिसका अर्थ है हल जोतना। यानि कृषि सबधी कार्य। ऋग्वेद पालि वाड्मय तथा अनेक प्राचीन ग्रथ वैदिक युग में कृषि कार्य और उपक्रमों के उल्लेख करते है। 'अर' धातु के स्वरूप लैटिन में Ar-are, ग्रीक में ar-oun, आयरिश में ar, ऐंग्लो सेक्शन में erıan, रूसी में ar-tı, लिशुआनीय में ar-tı तथा अंगरेजी में to-ear प्राप्त होते हैं । इनके प्राचीन रूप सस्कृत में इ रा, इ हा, प्राचीन जर्मन में ero, ग्रीक में era और खैलिक में ero, ereoan भी मिलते हैं। कालान्तर में 'अर' का अर्थ हल जोतना से विस्तृत होकर समुद्र में नौका चलाना भी हो गया। सस्कृत में 'अर' धातु से 'अपरित्र' सज्ञा पद बनता है, जिसका अर्थ पतवार है। ग्रीक में evetes का अर्थ नाविक होता है। अगरेजी artıst, जिसका अर्थ कलाविज्ञ है, भी 'अर' धातु से ही व्युत्पन्न माना जा सकता है। इस प्रकार 'अर' धातु के अर्थ निकलते हैं। खेत में हल चलाना, समुद्र में हल चलाना यानि नाव खेना, कागज पर कलम-कूची चलाना। वस्तुतः, प्रारम्भिक काल में मानव ने मिट्टी कोड़कर धरती को परिष्कृत, उर्वर और कृषि योग्य बनाया। तदनन्तर उसकी मनीषा समृद्ध हुई, संस्कार बदले और कालान्तर में भूमिकर्षण से आगे बढकर उसने मानस और बुद्धि का कर्षण प्रारम्भ किया। आचार-विचार की पूर्ण परिष्कृति के बाद आर्य शब्द का अर्थ विस्तार होकर बुद्धिशील, विवेकी, सज्जन इत्यादि सदर्भों में प्रयोग होने लगा। यानी वे आर्य कहलाने लगे, जो विभिन्न गुणों से विभूषित और प्रकृताचार में प्रतिष्ठित थे। इस समय तक आर्य शब्द भारतीय संस्कृति का मूल शब्द बन गया था और यह शब्द शीलवान, सत्यप्राण, आध्यात्मिक चेतना के समुन्नायक, आदर्श और सत्य के उद्घोषक आदि व्यापक अर्थों में व्यवहृत होने लगा। इन आर्यों ने परब्रह्म की विराट् चेतना को स्वीकारते हुए विभिन्न देवों की परिकल्पना की और आत्मा को, ईश्वरोद्भूत अश के रूप मे स्वीकारा। समासतः, यह सत्य और तथ्य परिपुष्ट होता है कि अपने मूल रूप में आर्य सस्कृति कृषि सस्कृति थी। कल्चर और कल्तुरा शब्द के विश्लेषण भी इस अवधारणा की पुष्टि करते है कि यूरोपीय सस्कृति भी अपने मूल रूप में कृषि सस्कृति ही थी। आदिकवि वाल्मीकि ने अपनी 'रामायण'

में जिस चेतना ओर परिवेश को भगवान राम के सदर्भ में अभिव्यक्त किया है, वह त्रेतायुगीन आर्य सस्कृति ही थी। यही सस्कृति अपनी दिव्य चेतना और विशिष्टताओं में किंचित् परिवर्तन के साथ आज भी विद्यमान है। योगिराज अरविन्द की यह धारणा सत्य प्रतीत होती है कि भारत की सस्कृति सर्वथा-सर्वदा अध्यात्मोन्मुखी और तेजस्विता से सयुक्त रही है[1]। यह भारतीय सस्कृति की अन्य सस्कृतियों से पृथक् और मौलिक धारणा है। इसे रगनाथ रामचन्द्र दिवाकर जी ने भी माना है[2]। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल की भी धारणा है कि मध्यदेश यानी भारत की सस्कृति का मूल सूत्र ब्रह्म तत्व है, जहॉ नर का सखा नारायण होता है[3]। 'सर्वम् ब्रह्म मयम् जगत्' और 'ईशावास्य मिद सर्वम्' इसी ध्वनि को मुखरित करते है। भारतीय सस्कृति ने एकात साधना को प्रश्रय अवश्य दिया है, किन्तु पलायनवादिता की निन्दा की है। यह हमारी भारतीय सस्कृति की उदात्तता है कि हमने गाय, गगा और धरती को मॉ के रूप में स्वीकारा। ऐतिहासिक, भौगोलिक, भाषायी, पारिस्थितिक सीमाओं और अवरोधों ने भी इसे दुर्बल और खडित नहीं बनाया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि भारतीय सस्कृति को सागर की गहराई और गाभीर्य, हिमाद्रि की ऊचाई और गौरव, व्योम की विराट्ता और शुभ्रता प्राप्त है। विश्व के किसी भू-भाग के व्यक्ति और सस्कृति को यह गौरव प्राप्त नहीं है कि वह धरती को मॉँ पुकार सके -- 'माता भूमिः पुत्रो अह पृथिव्याः[4]। मानव से भी अधिक मानवेतर जगत् से सहोदरता जोडना, सूर्य-चन्द्रादि नक्षत्रों को प्राणवाण स्वीकारना भारतीय सास्कृतिक चेतना का गुण है।--

यावत् तेमि पश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना
तावन्ने चक्षुमामेस्टोत्तरामुत्तरा समाम।-- अथर्ववेद।

भारतीय सस्कृति की समुज्ज्वलता और सवेदशीलता तथा उत्कृष्टता से अनुप्राणित होकर ही देवों ने इस धरती के गीत गाये थे --

गायन्ति देवा· किलगीत कानि,
धन्यास्तुते भारत भूमि भागे,
स्वर्गापवर्गापसन्मार्ग भूते
भवन्तिभूयः पुरुषः सुरत्वात्।

'भारत' के तीनों अक्षरों की इस व्याख्या --

भाति सर्वेषु वेदेषु, रति सर्वेषु जन्तुषु।
तरण तेन तीर्थाणा, तेन भारतमुच्यते।।

में भारत की सस्कृति के तीन आयामों की व्याख्या निहित है। भारतीय वेद

---

1 अरविन्द-फाउन्डेशन आफ इण्डियन कल्चर, न्यूयार्क प्रकाशन-1952, अध्याय-1, पृष्ठ 138, शीर्षक, स्प्रिचुअल एम आफ इण्डियन कल्चर ।

2 कल्याण-हिन्दू सस्कृति विशेषाक, पृष्ठ 68, निबन्ध-सस्कृति की जीवन-क्षमता ।

3 हिन्दी अनुशीलन पत्रिका-वर्ष 11, अक-1, निबध मध्य देशीय सस्कृति का सूत्र ।

4 अथर्ववेद ।

ऋषियों की साधना, तपस्या, सत्य के प्रत्यक्षीकरण ओर अनुभूत तथ्यों, जीवनभूल्यों के मूर्त रूप हैं। इसीलिए कहा गया है-ऋषय मन्त्र द्रष्टार। यानी वे जीवन-द्रष्टा थे, युग स्रष्टा थे। प्राय· सभी ग्रथों और विद्वानों ने उन्हें सस्कृति का पर्याय स्वीकारा है।

भारतीय सस्कृति की सबसे बडी विशेषता है-समन्वयात्मकता और सार्वकालिकता। गुरुकुलों की शिक्षा-प्रणाली इमके प्रमाण हैं कि वहाँ राजा-रक, अमीर-गरीब, ब्राह्मण-क्षत्रिय सभी समान भाव और सुविधा से शिक्षा पाते थे। श्रीरामजी उपाध्याय ने माना है -- 'इस (आर्य) सास्कृतिक साधना में ब्रह्मचारियों से लेकर सन्यासियों तक चारों आश्रमों के लोगों का, आरण्यक वनजीवी से लेकर प्रासाद निवासी महाराजा तक का, बडे-छोटे लोगों का, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक का योगदान रहा है'[1]। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भारत को विशाल मानव-समुद्र मानते हए इसकी सस्कृति को सामासिक माना है, जहाँ आर्य-अनार्य, यक्ष-किन्नर, नाग, गन्धर्व, शक, हूण, आभीर, पठान, मुगल सब का समाहार हुआ। पं० जवाहरलाल नेहरू[2] और राष्ट्रकवि दिनकर[3] ने शब्द-भेद द्वारा इस सत्य को स्वीकारा है। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने भारतीय सस्कृति को तप, त्याग, विद्या, विश्वास, परहित भाव का प्रतीक माना है। इसी स्वर को डॉ० भोलानाथ ने भी यों उच्चरित किया है[4]। प० बलदेव उपाध्याय ने सहनशीलता, अनेकता में एकता विरोधों के प्रशमन को भारतीय सस्कृति की कुजी माना है। उपनिषदों ने मानव की वर्त्तमान जीवन-प्रणाली को भारतीय सस्कृति की पूर्णता नहीं माना है। मौलिक, मानसिक ज्ञान की सीमा से उठकर आत्मज्ञान की प्राप्ति द्वारा जन और जगत् कल्याण भारतीय सस्कृति का उद्देश्य है। 'आत्ममोक्षार्थम् जगत् हिताय' साधना का तात्पर्य चतुर्दिक कल्याण के सिवा दूसरा कुछ नहीं है। राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के गुरु गोलवलकर जी ने भारतीय सस्कृति को अध-भक्ति और श्रद्धा से युक्त माना है जिसमें विचारों की महिमा अधिक है। यानी जीवन को सुन्दर बनाने वाले विचार। इनके शब्दों में-''वेद भारतीय संस्कृति के आधार माने जाते है। वेद का अर्थ है - ज्ञान। इस प्रकार ज्ञान भारतीय सस्कृति का आधार है। ये मानते हैं। -- 'भारतीय सस्कृति में त्याग और पवित्रता इन दोनों गुणों का बहुत बडा स्थान है। भारतीय सस्कृति कहती है -- भोग हो, लेकिन परिमाण से, ... धर्म की नींव पर ही अर्थ-काम के मदिर की इमारत बनाइये ... तो वे बधन कारक न होकर मोक्ष कारक होंगे'[5]। भारतीय संस्कृति में विज्ञान को उतना महत्व नहीं दिया गया है, जितना आत्मज्ञान और आत्म विद्या (अमरत्व प्रदान कराने वाली पराविद्या) को। विज्ञान भौतिकता का उद्बोधक है, करिश्मों से चकाचौंध करने वाला है।, किन्तु

1 श्रीरामजी उपाध्याय-भारत की सास्कृतिक साधना-भूमिका।
2 डिस्कवरी आफ इण्डिया।
3. सस्कृति के चार अध्याय।
4 आधुनिक हिन्दी साहित्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ 49।
5. भारतीय सस्कृति।

आत्मज्ञान अध्यात्म ज्ञान का प्रथम सोपान है, जो प्रभास्वरता से सचेतित कर पूर्णता प्रदान करता है[1]। यही कारण है कि भारतीय सस्कृति के निर्देशों के अनुरूप आचरण करनेवाले साधक, सत, तपोनिष्ठ दार्शनिकों तथा आत्मचेता-ऋषियों ने जनचेतना को जितना प्रभावित किया है, उतना आडम्बर युक्त राजनेताओं ने नहीं। भारतीय सस्कृति के अनुसार अहिसा का अर्थ हिसा का अभाव नहीं, बल्कि मैत्री और सद्भाव का अभ्युदय है। सयम का अर्थ बाह्यगामिनी मनोवृत्तियों पर नियत्रण है, इन्द्रियों की गति और दिशा का नियमन है। वस्तुतः, इन्द्रिया विषय-सेवन के लिए नहीं, अपेक्षित कार्य-सपादन और जीवन-निर्वाह के लिए हैं।

सत्य और शीलयुक्त भारतीय सस्कृति में विहित प्रार्थनाए--'मेरा मानस शुद्ध हो, कामनाए सत्य हों, मै असत्य का त्याग कर सत्य का आलिगन करू, असत्य से सत्य की ओर, तमस से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर अग्रसर होऊ[2]-स्पष्टतया आध्यात्मिकता के आदर्श की परिकल्पना के परिणाम है। कुछ विद्वान् अध्यात्म को धर्म का पर्याय मानकर इसकी व्याप्ति को परिसीमित करते है, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि धर्म का अर्थ है-मौलिक गुण या विशेषता। अग्नि का धर्म जलाना है। शीतकाल में प्राणदायिनी अग्नि भी अधिक नैकट्य पाने पर जलाती ही है। पानी का धर्म बुझाना है। खौलता पानी शरीर पर गिरकर विद्रूप करने की क्षमता रखकर भी प्यास और प्रज्ज्वलित अग्नि को शमित और प्रशान्त ही करता है। इसी प्रकार सस्कृति में विहित धर्म का उद्देश्य है-सगस्त जीव-जगत् का हित-साधन। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष वे पुरुषार्थ चतुष्टय हैं, जो जीवन को सर्वांगपूर्णता प्रदान करते हैं। अर्थ तभी अहितकर और बाधक बनता है, जब हम उसे साधन नहीं साध्य मान लेते हैं। या फिर 'सर्वे गुणा॰ कांचन माश्रयन्ते' की शुद्ध भौतिकवादी अवधारणा-व्याख्या स्वीकारते हैं । काचन में गुण है, पर अपेक्षा भर ही । हर स्थान पर मानव मूल्यों पर से वह सर्वोपरि नहीं है । वैभव की अतिशयता और अतिरेक पथभ्रष्ट बनाता है। काम जीवन की अनिवार्य वृत्ति अवश्य है, किन्तु उसका असतुलन पशुत्व का परिचायक है। शास्त्रों ने काम की अनिवार्यता मात्र वीर, योग्य, पराक्रमी सतति के जनन के लिए मानी है, जो परम्परा-निर्वाह और उत्तराधिकार के लिए अपरिहार्य है। भारतीय सस्कृति के महत्वपूर्ण विवाह सस्कार का प्रयोजन इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-पुत्रार्थे क्रियते भार्या। कन्यादान के समय पिता यह सकल्प लेकर दुहिता प्रदान करता है।--'पत्नी तुभ्य प्रदश्यामि वश विस्तार सयुतः'। वैसे यह भी सच है -- 'न कामभोगा हि भवन्ति तृप्तये'। या फिर--'कामभोगोप शाति मृच्छति[3]। मोक्ष भारतीय सस्कृति के अनुसार विमुक्ति का

---

1 वृहदारण्यकोपनिषद्-चतुर्थ ब्राह्मण ।

2 सत्या मनसो मे अस्तु-ऋग्वेद 10/128/4 । अहमन्हतासत्यमुपति-यजुर्वेद-1/5 । अस्माक सन्त्वाशिष सत्या-यजुर्वेद 2/10 । असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योर्तिगमय, मृत्योर्मा अमृत गमय ।

3 सौन्दरानन्द 9/44 ।

पर्याय है। विमुक्ति का अर्थ है-विशेष मुक्ति, विलक्षण मुक्ति। इस विशेष और विलक्षण मुक्ति से जो अर्थ ध्वनित होता है, वह है-काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया, छल-प्रपच इत्यादि से छुटकारा। भारतीय सस्कृति मोक्ष के जिस स्वरूप की कल्पना करती है विश्व की अन्य सस्कृतियों में उनका कोई स्थान नहीं है। बौद्ध सस्कृति में निर्वाण ही परिकल्पना है, जो शब्दान्तर में भारतीय सस्कृति का मोक्ष ही है। मोक्ष का तात्पर्य भारतीय सस्कृति आत्मा का ब्रह्म में सम्पूर्ण विलयन मानती है। जिस प्रकार नदिया समुद्र में मिलकर अपना अस्तित्व सर्वदा-सर्वथा खो देती हैं, वैसे ही मोक्ष में आत्मा का अस्तित्व ब्रह्म लीन होने के बाद नहीं रह जाता। भारतीय सस्कृति की इस मौलिक विशेषता की ओर आज विदेशियों की भी दृष्टि लगी हैं और वे भी तप, योग, तपस्या, साधना, धारणा, ध्यान समाधि इत्यादि की ओर अग्रसर होते दीख रहे हैं अर्थ काम के सम्बन्ध में भी भारतीय सस्कृति की मौलिक धारणा है। यह सस्कृति अर्थ, 'काम' की प्रवृत्ति का सर्वथा निषेध के निर्देश नहीं देती है और न उसे साध्य मानती है। इन प्रवृत्तियों के सतुलित उपयोग से जीवन की विभिन्न सार्थकताए सिद्ध होती हैं। यह सस्कृति हिन्दू सस्कृति का पर्याय है। बौद्ध सस्कृति इन प्रवृत्तियों के निषेध के निर्देश देती हैं। भारतीय सस्कृति में विहित वर्णाश्रम व्यवस्था सर्वथा मौलिक तत्त्व हैं। भारतीय सस्कृति में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास चारों आश्रमों के सम्यक् अनुपालन बहुत महत्व बताये गये हैं। ब्रह्मचर्य जीवन के सत्य और सत्व को एकत्र और घनीभूत करने का अपूर्व साधन है। इस काल की सचित शक्ति, सत्त्व और वैभव का उपयोग हम आजीवन सामाजिक उत्कर्ष, शील-स्नेह, सौजन्य-दया-क्षमा और करुणा लुटाने में कर सकते हैं। भारतीय सस्कृति के ये आचरण अन्य सस्कृतियों के लिए चौकाने वाली बात है, किन्तु इनकी उपादेयता किसी-न-किसी रूप में विश्व स्वीकारता है वीर्य-लाभ (शक्ति सचय) ब्रह्मचर्य का प्रमुख तात्पर्य है, जो ससार की प्रत्येक वस्तु प्राप्ति की क्षमता देता है-चाहे ज्ञान, विद्या हो या ईश्वरत्व। इसे विभिन्न सस्कृति पोषक ग्रन्थों ने स्वीकारा है-'ब्रह्मचर्यम् प्रतिष्ठायाम् वीर्यं लाभः[1]। वीर्याहते काचन् नास्ति सिद्धिः[2] ब्रह्मचर्येण वै लोकान्जयन्ति परमर्षयः[3]। विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या[4]।

इस प्रकार भारतीय सस्कृति लोक जीवन की मर्यादा में विश्वास करती है। गृहस्थ आश्रम इसका सबल स्तभ है। ऋग्वेद ने उसकी महत्ता बताते हुए स्पष्ट किया है कि पुत्र-पौत्रों के साथ सुखभोग करते हुए घर को आदर्श बनाओ और सम्पूर्ण आयु का उपयोग करो--

---

1. पातजल योग सूत्र ।
2. सौन्दरानन्द ।
3. शान्ति पर्व, महाभारत-241/6 ।
4 उद्योग पर्व, महाभारत-44/2/15 ।

इहैवस्तु मा वियौष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैनभिमेदिमानौ स्वे गृहे[1] ।।

यह आश्रम परिवार-पालन, कर्त्तव्य-निर्वाह, लोक-कल्याण, रचानात्मक, विकासात्मक इत्यादि सभी कर्मों का कार्य-क्षेत्र है। यह आश्रम इस बात का प्रमाण है कि हमारी सस्कृति पलायनवादिता का विरोध और कर्त्तव्य-निष्ठा का अनुरोध करती है। यह सत्य है-लोकत्रय महागेहे गृहस्थस्त्व मुदाहुत.[2] । वैसे गृहस्थ आश्रम का तात्पर्य खुलकर पारिवारिक और सासारिक सुखोपभोग नहीं है, बल्कि निर्दिष्ट नियमों के निर्देश पर कार्य करना है। अहिसा सत्य वचन सर्वभूतानुकम्पनम्। समोदानम् यथाशक्ति गार्हस्थयोधर्म उत्तमः। महाभारत में भी-यथा नदी नदाः सर्वें सागरे यान्ति सस्थितिम्[3]। मनुस्मृति में तो इस आश्रम को सभी जन्तुओं को प्राण देने वाली शक्ति की तरह आवश्यक और महत्त्वपूर्ण माना गया है।

यथाद्वलु समात्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः
तथा गृहस्थमात्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः[4]।

तात्पर्यतः, गृहस्थाश्रम ब्रह्मचर्य द्वारा अर्जित तेज, शक्ति, वीर्य के उपयोग की कर्मभूमि है।

अपने समस्त कार्य-सम्पादन, कर्त्तव्य-निर्वाह, उत्तरदायित्व वहन कर चुकने के बाद अपेक्षा होती है-वाणप्रस्थ आश्रम की। डॉ० आत्रेय के अनुसार इस काल में व्यक्ति जीवन के अनुभूत, सत्यों के आधार पर शिक्षा, प्रशासन, विधि-निर्माण इत्यादि कार्यों में निर्देशन और परामर्श के कार्य का गुरुतर भार ढोता है[5] । यानी इस आश्रम में व्यक्ति स्वार्थ-प्रपच से ऊपर उठकर वीतरागी और आध्यात्मिक चेतना में अभिभूत रहता है। उसमें ऐकान्तिकता आ जाती है। इसीलिए इस आश्रम-वाले को आरण्यक भी कहा गया है। इन्द्रियों का सयमन, मन-वचन-कर्म का नियमन, धर्मपालन और कठोर तप के कारण यह आश्रम सहज नहीं है। समासतः, आत्मशुद्धि और चित्त-परिष्कृति इस आश्रम का मूल आधार है।

तपः पूत जीवन का अतिम अध्याय सन्यास आश्रम है, जिमें समस्त ऐश्वर्यो, सुखों, कायिक, वाचिक, मानसिक अभीप्साओं का त्याग करना प्रथम आवश्यकता है। सन्यास शब्द की व्युत्पत्ति है-सम्+न्यास-- अच्छी तरह से तन, मन को सासारिक प्रलोभनों आकर्षणों, सीमाओं से अलग करना। ससार में रहकर भी सासारिकता से परे होना, जैसे कीचड में पैदा होकर भी कमल आकाश के सूर्य

---

1 ऋग्वेद 10/85/42 ।
2. अध्यात्म रामायण-1/12 ।
3 शान्ति पर्व-महाभारत-295/39 ।
4 मनुस्मृति-3/77 ।
5 डा० बी० एल० ऐत्रेय-द स्प्रिरिट आफ इण्डियन कल्चर (1952) स० पृष्ठ 51, शीर्षक-डिविजन आफ लाइफ इन टू योर डिर्स्टिक्ट पीरियड ।

से प्रेम करता है। जाति, धर्म, समुदाय, अपने-पराये, की सीमाओं और सकीर्णताओं से ऊपर उठ जाना इस आश्रम का सर्वोच्च आदर्श है[1]।सन्यास समस्त काम्य कर्मां का त्याग है-- कामयानाम् कर्मणाम् न्यासम् सन्यास कवयोविदु.[2]। या फिर बिहित कर्म नाम् विधानेन फलानिच्छया काम्य कर्म त्यागो वा सन्यासः इत्याहु.[3]।

भारतीय सस्कृति ने इस आश्रम को बहुत पवित्र, लोक हितकारी और उदात्त बताया है। दुनिया में रहकर निर्लिप्त भाव से जीवन-यापन करते हुए दुनिया वाले की सेवा करने से बडी त्याग-भावना और क्या हो सकती है ? मात्र बौद्ध सस्कृति इसके समकक्ष अपने आदर्श और निर्देश देती है। शेष सस्कृतिया इस सबध में सर्वथा मौन हैं। बौद्ध-सस्कृति में भारतीय सस्कृति के चार आश्रमों में मात्र प्रथम और अतिम को महत्ता प्रदान की गयी है। ब्रह्मचर्य पालन करते हुए साधना, तप करना और तदनन्तर अमरत्व पाकर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय सन्यास ग्रहण कर लेना बौद्ध सस्कृति के आदर्श हैं। इन आश्रमों में प्रतिष्ठित लोगों के लिए अलग-अलग वस्त्र का विधान है। इसका तात्पर्य है, अन्य से इनका पार्थक्य बनाना जिसमें इनकी पवित्रता खडित और बाधित न हो। वैसे मात्र वस्त्र-धारण करने से न कोई ब्रह्मचर्य बनता है, न सन्यासी ओर न भिक्षु। वस्त्र दूसरों के लिए सकेतक कि वे विशेष वस्त्र-धारण करने वालों को पवित्र बनाये रखे। विशेष रंग के वस्त्रों का मनोवैज्ञानिक परिवेशिक रासायनिक प्रभाव भी पडता है। विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन-विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उत्तर वैदिक काल में सन्यास और भिक्षु जीवन का प्रारम्भ हुआ ।

सस्कृति के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर उसकी व्युत्पत्ति, स्वरूप, व्यापकता और विशेषताए सर्वथा स्पष्ट हो गयी हैं। समासतः, यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल से आर्य सस्कृति का अजस्र प्रवाह बहता आ रहा है। कालान्तर में वह सस्कृति हिन्दू और भारतीय सस्कृति का पर्याय बन गयीं। वैसे यह कहना असगत नहीं होगा कि भारत में बाहर से आनेवाले विदेशियों-शक, हूण, द्रविड, ग्रीक, मुगल, अगरेज इत्यादि ने यहाँ की मूल सस्कृति को काफी झकझोरा और प्रभावित किया। इसक कारण सस्कृति के रूप कुछ-कुछ बदलते रहे, फिर भी यह सस्कृति गगा की तरह पवित्रता, समुद्र की तरह गाम्भीर्य और हिमालय की तरह विशालता बनाये रखने और अपने अतीत के गौरव को सजोये रखने में बहुत हद तक सक्षम रही। प्राय· सभी सस्कृतियाँ सत्य के अनुसरण, मानव कल्याण, दान,

---

1 डा० राधाकमल मुखर्जी भारतीय समाज विन्यास-1951 सस्करण, पृष्ठ 44 । शीर्षक-हमारी आश्रम व्यवस्था ।

2 गीता-18/2 ।

3. न्याय कौष-पृष्ठ 837 ।

पुण्य के निर्वाह\ में समानता रखती है। सस्कार और मान्यताओं में अन्तर अवश्य होते हैं और यही भिन्नता एक सस्कृति को दूसरे से अलग करती है।

भारतीय सस्कृति, जिसे आर्य सस्कृति, वैदिक सस्कृति या हिन्दू सस्कृति की सज्ञा दी जाती है, सोलह आने आर्यों के प्रयास की परिणति नहीं है। उसमें आर्य और आर्येत्तर सस्कृतियों, वैदिक और प्राग्वैदिक सस्कृतियों का नीर-क्षीर मिश्रण है। ई0 पूर्व सातवीं सदी के पाणिनि ने श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि श्रमण के प्रादुर्भाव के बहुत पूर्व भारत में आर्य सस्कृति वर्तमान थी। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य श्रमण-ब्राह्मण के सर्प-नकुल सबध के अनेक उदाहरण और दृष्टातों से भरे हैं। पाणिनि के अनुसार ऐसे सघर्षों के चित्र बुद्ध के पूर्व भी मिल जाते हैं।

पुराण, मनुस्मृति, विष्णु स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रमाणों से स्पष्ट है कि तत्कालीन ब्राह्मणों ने वेद को निजी सम्पदा के रूप में कट्टरता से सुरक्षा प्रदान की और आर्येतर वर्ग को उसके सपर्क से वचित रखा। पुराण उनका नियत्रण नहीं मिलने के कारण आर्येतर के लिए सुलभ हो गये और वे आर्येतर जाति और उनकी सस्कृति के अस्तित्व की सूचना देते हैं। पुराण में उनके मौखिक साहित्यों का अश मिलता भी है। पुराण में ईश्वर के तीन रूप वर्णित हैं -- एक वेदों में कल्पित दूसरे प्राग्वैदिक भारत में पूजे जाने वाले, जो कालातर में वैदिक धारा में समाहित हो गये। तीसरे वे जो आर्य-द्रविड-मिश्रण के परिणाम थे। वायुपुराण के अनुसार पुराण की रचना ब्रह्मा से पहली हुई। वेद तत्पश्चात् आये। इस प्रकार यह मानना उचित होगा कि भारतीय सस्कृति कई परस्पर विरोधी सस्कृतियों का युग्म है। और, इसी कारण इसे सामासिक संस्कृति कहा जाता है। ऋग्वेद में आर्यों के पराक्रम की चर्चा इस बात को प्रमाणित करती है कि वे कर्मशील, साहसी थे, पलायनवादी नहीं। वे सन्यास को प्रश्रय नहीं देते थे। वैदिक सस्कृति अपने चतुर्दिक भारतीय प्राग्वैदिक सस्कृति से घिरी थी । इस सदर्भ में यह सत्य प्रतीत होता है कि भारतीय सस्कृति के बीच वैदिक सस्कृति समुद्र में टापू के समान है[1]। निगम आगम से युक्त सस्कृतियों में सघर्ष बराबर होने के प्रमाण मिलते हैं। निगम वेदों के सुनिश्चित स्वरूप है और आगम परम्परा से प्राप्त ज्ञान का समवाय। निगम अपौरुषेय माने जाते हैं और आगम शिव, शक्ति और विष्णु की वाणी। निगम वेदान्त का स्वरूप है और आगम निश्छल भक्ति का। दोनों में सास्कृतिक समन्वय का श्रेय भगवान् कृष्ण द्वारा रचित गीता को है, जिसमें आगम की भक्ति, वेदान्त का ज्ञान और साख्य का दुरूह और सूक्ष्म दर्शन का अदभुत समाहार है।

आर्य सस्कृति में जाति प्रथा की कट्टरता रूढ हो गयी थी। इसका कारण तत्कालीन समाज में ग्राम्य सस्कृति की वर्त्तमानता थी। शहरों में परिवर्तन की

---

1 दिनकर, सस्कृति के चार अध्याय-पृष्ठ 60 ।

सभावनाए अधिक रहती है, किन्तु गावों में जाति-व्यवस्था, सकीर्णताए अधिक रहती है। वस्तुत , सिन्धु सस्कृति के विध्वस के बाद नगर सस्कृति प्राय· सम्पूर्ण भारत में लुप्त प्राय थी। फिर भी सास्कृतिक उदारता का एक प्रमाण इससे भी प्राप्त होता है कि उस काल में आर्य-आर्येतर में रक्त-सबध होता था। पुराण के सर्वप्रमुख रचयिता व्यास धीवर कुक्षि की सतान थे, जो दोनों सस्कृतियों के समन्वय में विश्वास करते थे। सभावना है कि वे दोनों सस्कृतियों के समन्वित रूप होने के कारण दोनों के उत्तराधिकारी थे[1]।

आर्य-द्रविड सबध और सस्कृति के बारे में विद्वानों और विचारकों में विचार' वैभिन्न्य है। वैसे दोनों के साहित्य की प्रकृति एक थी, सस्कृति भी बहुत कुछ समानान्तर। कुछेक विद्वान् दोनों के स्वभाव और मान्यता में भिन्नता की कल्पना करते हैं। सभवत इसीलिए आर्य द्रविडों से अधिक कर्मकाडी और आशावादी थे, प्रकृति के सौन्दर्य पर हृदय लुटाने वाले थे। द्रविडों में उतनी कठिन साधना का विधान नहीं था। तदनन्तर दोनों निकट आते गये और दोनों की आदतें, विश्वास, सबध एकाकार हो गये। वैसे प्राचीन सस्कृति नदी के समान है, जिसका सही उद्‌गम जानना कठिन है। हिन्दू सस्कृति के साथ भी यही बात लागू होती है, जो उसके विस्तार और प्राचीनता से प्रमाणित है। आर्य और द्रविड इसकी दो धाराओं और विशेषणों के रूप में जाने जा सकते हैं। दिनकर की यह धारणा है कि आरम्भिक आर्य आरम्भिकों, द्रविडों से अपेक्षाकृत अधिक भावुक थे। कालान्तर में सभ्यता की प्रगति हुई। वैसे द्रविड-सभ्यता आर्य सभ्यता से प्राचीन थी। प्रथमतः व्यक्ति भावुक और कवि बनता है, तदनन्तर चिन्तनशील, किन्तु आर्य भारत आने के पूर्व घुमक्कड, प्रकृति प्रेमी और मौजी थे[2]। इस तरह यह स्पष्ट है कि भारतीय सस्कृति भारतेतर आर्यों की देन है, किन्तु अहिसा, सहिष्णुता और वैराग्य विशुद्ध रूप से द्रविडों की देन है। भारत में आर्य आगमन के पूर्व पर्याप्त सहिष्णुता, संतोष और अहिसा के भाव थे। हा, आर्यों ने आकर आशावादिता के माध्यम से जीवन को विशेष सरस बना दिया। कालान्तर में जब यज्ञवाद और भोगवाद का प्रचलन हुआ, तब जिह्वा-तृप्ति के लिये ब्राह्मणों ने जीव-हिसा को धर्म का रूप दे दिया। भारतीय सस्कृति ने जीव-हत्या और यज्ञ के इस स्वरूप से पर्याप्त विद्रोह किया। यह सच है कि यदि ब्राह्मणों द्वारा आडम्बर, जीव-हिंसा, धर्म को निजी भोग-विलास का साधन बनाने को प्रश्रय नहीं मिलता, तो वैदिक धर्म का न विरोध होता, न उसमें कटुता आती और न महावीर और बुद्ध की निवृत्त्विादी विचार-धारा पल्लवित होती। आर्य-सस्कृति का यह अध्याय अत्यत रोचक और रोमांचक लगता है।

वस्तुतः, वैदिक युगीन आर्य ससार के प्रति आसक्त थे, न कि मोक्ष के प्रति

---

1. दिनकर, सस्कृति के चार अध्याय-पृष्ठ 63 ।
2 वही, पृष्ठ 70 ।

लालायित। वैदिक ऋचाओं की प्रार्थनाए जीवन का दीर्घायु, समृद्धशाली, आनन्दयुक्त, सरस, जीवन्त और प्रफुल्ल बनाने के लिए थीं। आर्य-सस्कृति में वर्णित सन्यास जैन और बुद्ध के उत्थान के समय अधिक प्रखर और गतिशील हो गये। भरी जवानी म आर्यों को यह सन्यास-भावना मात्र घबराहट का प्रतिफलन प्रतीत होती है। उनकी मौलिक भावनाए और विचारधाराए ऋग्वेद तक सुरक्षित रहीं। वैसे निवृत्ति, मोक्ष और सन्यास उपनिषदों में वर्णित हैं, जो मूल आर्यों के ग्रन्थ नहीं, बल्कि भारतीय आर्यों के हैं और जिनपर प्राक्वैदिक सस्कृति का पर्याप्त प्रभाव देखने को मिलता है। ज्ञान और भक्ति इसी सस्कृति की देन है।

विभिन्न साक्ष्यों से यह प्रमाणित है कि निवृत्ति और अवसाद प्राचीन भारतीय यानी प्राग्वैदिक सस्कृति की देन है। विश्व इतिहास और सस्कृतियों में यह मान्य सत्य है कि भारतीय सस्कृति जितनी उदार थी, उतनी अजेय। तभी तो, उसने विभिन्न सस्कृतियों को आत्मसात् करने के बाद भी अपना मौलिक रूप अक्षुण्ण रखा। इसने आर्यों की सस्कृति को आत्मसात् कर प्राक्वैदिक बना लिया और उनके बाद आने वाली सस्कृतियों को भी थोडे हेर-फेर के साथ स्वीकारा। प्रमाण स्वरूप प्राक्वैदिक भारतीय सस्कृति के तत्व-पूजा-विधान और भी प्रसारित और विद्यमान हैं। पूजा शब्द की व्युत्पत्यात्मक धारणा अब पहले से बदल चुकी है। इसे सस्कृत के 'पूज' धातु से निष्पन्न मानने से अधिक उपयुक्त प्राचीन तमिल की 'पू' और 'जै' (शह) के योग से बना मानना लगता है। तमिल की 'पू' धातु का अर्थ है-पुष्प और जै का कर्म। यानी देवताओं को पुष्पार्पण का कर्म। यहाँ एक बात स्पष्ट होती है कि द्रविडों की अहिसा परम्परा पुष्पकर्म में परिलक्षित होती है। कालान्तर में आर्यों में भी पशु कर्म के बदले पुष्प-कर्म का प्रचलन आ गया। आज भी भारतीय सस्कृति में यह अपने मौलिक रूप में विद्यमान है।

भारतीय संस्कृति में वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रचलन

अब तक यह तथ्य विवादास्पद है कि भारत आगमन के समय आर्यों में जाति-प्रथा और वर्ण-व्यवस्था किस रूप में थी, किन्तु यह तो प्रमाणित है कि प्राचीन काल में वृत्तियों एव कार्यों के आधार पर समाज को चार भागों में बॉटा गया था। यह प्रचलन ईरान में भी था और वहॉ भी चार जातियाँ थीं। यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने भी मनुष्य की चार जातियों का उल्लेख किया है[1]। भारतीय वाड्मय और साहित्य में वर्ण शब्द का उल्लेख पहले मिलता है, जाति का उसके बहुत बाद। वैदिक सहिताओं में जाति शब्द का प्रयोग नहीं प्राप्त होता। मात्र शतपथ ब्राह्मण के एक सदिग्ध स्थल में वर्ण के अर्थ में जाति का प्रयोग हुआ है[2]। यह मात्र अनुमानित है कि व्यक्तियों के रगभेद के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की गयी होगी, किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। मात्र महाभारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

1 दिनकर, सस्कृति के चार अध्याय-पृष्ठ 73 ।

2 शतपथ ब्राह्मण-1/8/3/6 ।

और शूद्र के लिए क्रमश· श्वेत, रक्त, पीत और श्याम वर्णों का उल्लेख है। लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने भी रग के आधार पर वर्ण-विचार को दुर्बल और निराधार माना है[1]। डॉ० अम्बेदकर के शोध-निष्कर्ष के आधार पर वर्ण-निर्धारण के प्राथमिक आधार व्यवसाय, स्वभाव और सस्कृति रहे हैं। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'विश' शब्द का अर्थ है-- बसने वाला। सभव है, कालान्तर में जाति प्रथा के लिए 'विश' से वैश्य बनकर रूढ को गया होगा। प्राचीन वैदिक काल में वर्गीकरण के प्रमाण कहीं नहीं मिलते हैं। ऋग्वेद सहिता के पुरुष सूक्त में मात्र एक स्थान पर 'शूद्र' शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु भाषा-शैली की दृष्टि से पुरुष सूक्त की मौलिकता और प्राचीनता स्वय् सदिग्ध है। डॉ० मगलदेव शास्त्री के भी यही विचार हैं। ऋग्वेद में प्रयुक्त (ब्राह्मण, क्षत्र और विश से तीन वर्णों के सकेत मिलते हैं। डॉ० अम्बेदकर के अनुसार 'शूद्र' मुख्य क्षत्रिय शाखा से ही उद्भूत थे[2]।)

इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्य सस्कृति में प्रधानत· तीन वर्णों के स्थान थे। कुछ कर्म, सस्कार और स्वभाव के कारण आर्येतर थे, जिन्हें 'शूद्र' की सज्ञा दी गयी होगी। मनुस्मृति और महाभारत में प्रयुक्त वृषल आर्येतरों के लिए है। यथा--शक, यवन, किरात, पारद, दारद, पौन्ड्र, चौन्ड्र, चीनी इत्यादि। हा, यज्ञ द्वारा उनकी परिशुद्धि का विधान प्रचलित था। तभी वे आर्य-सस्कृति के अग माने जा सकते थे। महाभारत के 'शातिपर्व' का इन्द्र-मान्धाता प्रसग इसका प्रमाण है, जिसमें मान्धाता को राज्य के दस्युओं द्वारा यज्ञ कराकर वेद-मत्र की दीक्षा देने का उपदेश है।

प्राचीन आर्य-सस्कृति में अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन था। क्षत्रिय पुरूरवा वशीय गाधि की पुत्री का विवाह ब्राह्मण, परशुराम के पितामह ऋचीक, से हुआ था। कृष्ण-द्वैपायन व्यास भी धीवर कन्या सत्यवती की सतान थे। जाबाला का ब्रह्म-विद्याधिकरी पुत्र सत्यकाम ब्राह्मण की तरह पूज्य था, किन्तु उसके पिता का पता उसकी माँ को भी नहीं था। अनेक तथ्य इस बात के प्रमाण देते है कि अध्ययन, साधन और सस्कार के बल पर किसी जातिवर्ण की प्रोन्नति ब्राह्मणों में होती थी और सस्कार भ्रष्ट होने पर अवनति निम्न जातियों में। डॉ० अविनाश चन्द्र दत्त और लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने इसके अनेक प्रमाण जुटाये हैं। परशुराम ब्राह्मण होकर भी क्षात्र-तेज युक्त थे। भृगु काष्ठशिल्प में प्रवीण तथा भृगुगण धातु-शिल्प काष्ठ-शिल्प के पारगत थे। कालातर में ब्राह्मणों ने अपने क्षेत्र और कार्य निश्चित कर लिये। प्रधानतः ब्राह्मण, पुरोहित, राजगुरु और मत्री होते थे और क्षत्रिय पराक्रमी राजा और साहसी योद्धा। डॉ० अविनाशचद्र और काणे के अनुसार आर्यों द्वारा विजित समुदाय कार्यक्षमता के अनुसार जाति में सम्मिलित किये जाते थे। जिनका सास्कृतिक स्तर निम्न था, वे शूद्र वर्ण के अधिकारी थे। सस्कारच्युत ब्राह्मण भी

---

1 लक्ष्मण शास्त्री जोशी-वैदिक सस्कृति का विकास ।

2 डॉ० अम्बेदकर-हू वेयर द शूद्राज ।

वृषलत्व और शूद्रत्व के अधिकारी होते थे। ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि शूद्र वेद और यज्ञ के अधिकारी नहीं थे। तैत्तिरीय सहिता उसके प्रमाण दती है। शूद्र मात्र ब्राह्मणों की सेवा करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वे यथाकामप्रेष्य और यथाकाम बध्य थे। यानी इच्छानुसार ब्राह्मण उसे कहीं भी भेज मकते थे, कभी किसी तरह दडित कर सकते थे। इसके विपरीत डॉ० अम्बेदकर ने माना है कि शूद्र पहले यज्ञ और उपनयन के अधिकारी थे। फिर भी भारतीय सस्कृति में उन शूद्रों और दासों का अस्तित्व अरस्तू के दासों से भिन्न था। भारत के दासों से भिन्न था। भारत के दासों को धन-सचय और धन वापस कर दासत्व से मुक्ति पाने की पूरी छूट थी। महाभारत में प्रमाण मिलते हैं कि सन्यास के अतिरिक्त अन्य तीनों आश्रमों में जीवन-यापन की सुविधा उन्हें थी।

विवाह-अवस्था

उच्च और निम्न दोनों वर्णों में परस्पर विवाह होते थे। उच्चवर्णी पुरुष और निम्नवर्णी स्त्री के विवाह को अनुलोम और इसके विपरीत विवाह को प्रतिलोम कहा जाता था। पहले अनुलोम विवाह निन्दनीय नहीं था, मात्र प्रतिलोम गर्हित था। कालान्तर में दोनों से उत्पन्न सतति वर्णसकर मानी जाने लगीं और उन्हें शूद्र वर्ण में रखा गया। कई प्रकार के प्रसगों (सयोग) से उत्पन्न सतान विभिन्न नामों से जानी जाती थीं। इन आर्यों की ऊची जातिया प्रायः धनी, कुशल और पढी-लिखी थीं, इसीलिए उनकी सस्कृति ऊची थी, किन्तु शिक्षा, वैभव के अभाव के कारण अछूतों, गरीबों की सस्कृति नीची थी। फिर भी द्रविड जाति की सभ्यता और सस्कृति अधिक समृद्ध और ऊँची थी।

नारी की स्थिति

नारी का स्थान सदा से उच्च रहा है। चाहे विवाह जिस वर्ण और प्रणाली में हो, नारी सम्मान पाती रही। नारिया सस्कृति की पालिका मानी जाती रहीं। भारत के ,सास्कृतिक समन्वय में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। वैदिक सस्कृति में उनका पूजनीय स्थान था। यही कारण है कि हिन्दू-संस्कृति के आधार पर धार्मिक सस्कार की पूर्णता के लिए वे अपेक्षिता थीं। अधिकार भी उन्हें कम नहीं मिले थे। भाई के अभाव में पिता की सपदा पर उसी का अधिकार होता था । आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार पति-पत्नी, स्त्री-पुरुष दोनों समान रूप से धन के अधिकारी थे[1]। कन्या को वर-चयन की छूट रहती थी। मनुस्मृति ने तो यहाँ तक स्वीकारा है कि जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं-यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः और जहाँ अपमान होता है, वहाँ सारे कर्म निरर्थक हो जाते हैं। किसी नारी के विवाह से पूर्व के प्रेमी के लिए ऋग्वेद में 'जार' शब्द का प्रयोग हुआ है जिनका अर्थ होता है-प्रणयी[2]। वैदिक युग में भी दहेज प्रथा का प्रचलन

---

1 आपस्तम्ब धर्मसूत्र-2/29/3 ।

2 लक्ष्मण शास्त्री जोशी-वैदिक सस्कृति का विकास ।

था, किन्तु आज की हिन्दू-सस्कृति की प्रथा के विपरीत वर-पक्ष को हो यह भार वहन करना पडता था। तत्कालीन सस्कृति के अनुसार अविवाहित कन्या आजीवन पिता के घर ही रहती थी[1]। ऋग्वेद मे इसके उदाहरण प्राप्त हैं[2]। वैदिक युगीन सस्कृति के अनुसार भवसागर से उद्धार हेतु नर की सहायिका और माध्यम नारी ही थी--'नर' नारीप्रोद्धरति मज्जन्त भववारिघौ'। या फिर 'यः सदार· स विश्वास्य तस्मात् दारा परा गति '। यानी सपत्नीक को ही उद्गति प्राप्त होती थी,। पत्नी पुरूष की परागति मानी जाती थी। सहधर्मिणी, सहभागिनी, वामागी आदि सज्ञाएँ भी नारी (पत्नी) की श्रेष्ठता अनिवार्यता, महत्ता के द्योतक हैं।

ब्राह्मण का स्थान

तत्कालीन सस्कृति से पोषित धर्मशास्त्रों ने ब्राह्मण को बहुत उच्च स्थान और महत्त्व दिया था। इसका प्रधान कारण यह भी था कि आधिकाधिक शास्त्रकार ब्राह्मण ही होते थे। वे शस्त्र-शास्त्र दोनों के निष्णात होते थे। वैसे उन्हें शस्त्र उठाने की आवश्यकता प्रायः नहीं पडती थी, क्योंकि अपनी क्रोधाग्नि और शाप शक्ति से ही वे विनाश करने में सक्षम थे। कहा जाता है कि क्रुद्ध ब्राह्मण समग्र राष्ट्र का विनाश कर सकता है-- क्रुद्धो ब्राह्मणों हन्ति राष्ट्रम्। वे समाज के नैतिक प्रहरी, जीवन परिष्कारक और सस्कृति में निहित शील, स्वभाव, चरित्र की उच्चता के प्रतीक थे। वस्तुतः वे विवेकपोषक और मार्ग-निर्देशक थे, जिन्हें किसी कुमार्ग पर चल रहे राजा तक को रोकने और टोकने का अधिकार था। उनका सर्वस्व था धर्म और कर्त्तव्य परायणता। निर्धनता उनका आभूषण थी, क्योंकि धन, चारित्रिक पतन अह का जन्म और कर्त्तव्य से विमुख कराने में बडी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मनुस्मृति में ब्राह्मणों को आडम्बरों और यश पाने के लोभ से अलग रहने के निर्देश दिये गये हैं, क्योंकि सम्मान और कृत्य तप वृद्धि के बाधक होते हैं- असम्मानात्तपोवृद्धि सम्मानान्तु तपः क्षयः। वे सस्कृति पोषित कठोर सस्कारों और नियमों की व्यवस्था में जीवन-यापन करते थे। मनुस्मृति ने माना है-- जन्मना जायते शूद्रः सस्काराद् द्विज उच्यते। वेदपाठी भवेत् विप्रः ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः ।। यानी उसके विपरीत वर्ण-निर्धारण कर्म और सस्कार से होता है, किन्तु अत्रि संहिता के विचार से-जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः सस्काराद् द्विज उच्यते। यानी ब्राह्मणत्व एक गुण है, जो जन्म से ही रहता है। महाभारत के वन पर्व के सर्प-युधिष्ठिर-सवाद में युधिष्ठिर के अनुसार ब्राह्मण में सत्य, शील, क्षमादान, सुशीलता, सत्य गुण और तप के प्रति निष्ठा का होना नितान्त अनिवार्य है। यदि ये गुण शूद्र में आ जाय तो वह ब्राह्मण बन जायेगा। महात्मा व्यास की आत्मा की यह वाणी तत्कालीन सस्कृति, प्रथा और व्यवस्था उद्घाटित करती है। कुछ विद्वानों की यह शका है कि शूद्रा की सतान होने के कारण उन्होंने ऐसा पक्षपात पूर्ण वक्तव्य दिया, किन्तु बात ऐसी

1 लक्ष्मण शास्त्री जोशी-वैदिक सस्कृति का विकास ।

2 ऋग्वेद-2/17/7 ।

नहीं है । वैदिक कालीन बिचारकों क सकल्प-सिद्धान्त परवर्ती बुद्ध काल में भी प्रकारान्तर से दिखायी देते हैं, क्योंकि बुद्ध ने भी जाति-व्यवस्था को मानव-धर्म के लिए अहितकर बताया है। ये सकीर्णतायें मानव-मूल्य की प्रतिष्ठा-विकास की बाधिका होती हैं ।

सास्कृतिक समन्वय भारतीय सस्कृति (आर्य सस्कृति) की एक बहुत बडी उपलब्धि थी। यही कारण है कि निग्रो, मगोल, औष्ट्रिक, आर्य, द्रविड सब एक रगमच के पात्र थे। यह और बात है कि हिन्दू सस्कृति का जो रूप आज देखने को मिलता है, उसमें अधिकाश आर्य-आर्येत्तर सस्कृतियों के समन्वय का परिणाम है। भारतीय सस्कृति के प्रतीक मर्यादा पुरुष राम के आदर्श ध्यातक है, जिसमें उन्होंने कोल, झील, किरात, जगली, बानर, दीघ सबको सम्मान सद्भाव देकर सास्कृतिक आदर्श प्रस्तुत किया । डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी की यह धारणा सत्य प्रतीत होती है, कि हिन्दू सस्कृति के अधिकाश उपादान आर्येतर सस्कृतियों की देन है[1]। वस्तुतः वेदों में आर्य-सस्कृति के मात्र बीज उपलब्ध हैं। इनका पल्लवन और प्रस्फुटन द्रविड-सस्कृति के सहयोग से हुआ है[2] । यह सच है कि आर्य स्वभाव और सस्कार-वश अपनी सस्कृति का प्रचार-प्रसार अवश्य करते थे, किन्तु आर्येतर स्त्रियों से विवाह सबध के बाद उनके रीति-रिवाज और सास्कृतिक प्रभाव से बच नहीं सके। यानी दोनों में निरन्तर हो रहे वैवाहिक सबधों के कारण सस्कृति का नीर-क्षीर-सम्मिश्रण हो गया और दोनों के प्रगाढ सम्मिश्रण और एकाकार का परिणाम हिन्दू-सस्कृति के रूप में सामने प्रकट हुआ। आर्यों के वेद और द्रविडों के पुराण, उपनिषद् हिन्दू-सस्कृति के दयादान और हिन्दू-समाज के साहित्य के रूप में मर्यायित हो गये। वैसे भौगोलिक दृष्टि से सामान्यतः विन्ध्योत्तर आर्यों का और उससे दक्षिण द्रविडों का क्षेत्र माना जाता है। दोनों सस्कृतियों के मिलन के बाद कुछ वर्षों तक हिन्दू-सस्कृति के पोषण और हिन्दूत्व का नेतृत्व उत्तर भारत ने सभाला। कालान्तर में बुद्ध का प्रभाव बढ जाने पर शकराचार्य-काल में दक्षिण भारत ने नेतृत्व सभाला। दक्षिण भारत में भी अनेक नेता, दार्शनिक और महात्मा उत्पन्न हुए। समासतः, आर्य-सस्कृति का अद्यतन रूप विभिन्न सस्कृतियों के समाहार और विकास का परिणाम है। आर्य और द्रविड-सस्कृति के समन्वय के पर्याय का नाम है हिन्दू-सस्कृति, जो अद्यतन काल में सम्पूर्ण भारत की सीमा रेखा में व्याप्त है। हिन्दू सस्कृति के समुद्र का भडार भरने में विभिन्न सस्कृतियों का योगदान रहा है। अतः यह कहा जा सकता है अद्यतन हिन्दू-सस्कृति मात्र वेदकालीन आर्यों की नहीं और न आर्यों और द्रविडों के समवेत प्रयास का परिणाम है। अपितु बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद इत्यादि विभिन्न धर्म प्रवर्तकों के सद्गुणों और विचारों के ग्राह्य सार तत्व का रूप है। यही कारण है कि विश्व की सभी सस्कृतियों से अधि

1 डॉ० राधाकृष्णन्-हिन्दू विउ आफ लाइफ ।

2 दिनकर-सस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 87 ।

िक उदारता, विशालता, लोकप्रियता और लोककल्याणमयता का समाहार इस छ हजार वर्ष पुरानी सस्कृति में हुआ है, जो वरेण्य है और स्पृहणीय भी।

हिन्दू सस्कृति में अद्भुत लचीलापन है, जिसके कारण इसमें विभिन्न सस्कृतियों का समन्वयन हो सका। इसमें अद्वितीय पाचन शक्ति है, जिसने निरन्तर विष पचाकर अमृत लुटाने के कितने उपक्रम किये हैं। इसके प्रबल प्रमाण हैं-मुसलमान, जिनका धर्म तो इस्लाम है, किन्तु सस्कृति भारतीय। प्रसिद्ध इतिहासकार, डाडवेल, ने माना है-"भारतीय सस्कृति महासमुद्र के समान है जिसमें अनेक नदिया आकर विलीन होती रही हैं।" स्मिथ ने भी माना है इन विदेशी लोगों ने भी अपने पहले आने वाले शकों और यूचियों के समान ही हिन्दू-धर्म की पाचन-शक्ति के सामने घुटने टेक दिये और बडी शीघ्रता से वे हिन्दुत्व में विलीन हो गये। प० नेहरू ने भी इस विचार का समर्थन किया है-'ईरानी, यूनानी, पार्थियन, वैक्ट्रियन, सीथियन, हूण, तुर्क, ईसाई, यहूदी एक के बाद एक भारत में आये सबके सब भारतीय सस्कृति के महासमुद्र में विलीन हो गये। उनका कहीं कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा। मिस्टर सी० एम० जोड ने यह धारणा व्यक्त की है कि भारतीय सस्कृति के मार्ग पर चलकर ही विश्व सस्कृति बन सकती है, जो विश्व मानवता के लिए वरदान बन सकती है। उन्नीसवीं शताब्दी में मैक्समूलर ने माना है कि मात्र हिन्दुस्तान की सस्कृति और साहित्य में सर्वाधिक मानवीयता और विश्वजनीनता है। बीसवीं के चिन्तक और विश्व मानवता के उपासक स्व० गेम्या रोला ने भी भारतीय सस्कृति की उच्चता स्वीकारी है।

समासतः, आर्य सस्कृति की गगा किसी देश-विदेश को नहीं, प्रत्युत सामग्री विश्व को स्नात कराती है और ऐसी लक्ष्मण-रेखा खींचती है, जिसमें सब जन हिताय, विश्व-बन्धुत्व और आत्ममोक्षार्थम् जगत् हिताय के सदेश निर्वहित होते हैं।

●●●

द्वितीय अध्याय

प्रसाद के नाटकों का वर्गीकरण और उनके कथानक

वर्गीकरण की दृष्टि से प्रसाद जी के नाटक दो भागों में विभाजित किये जा सकते है-

(क) शुद्ध ऐतिहासिक नाटक

(ख) अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक

राज्यश्री, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चद्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी प्रसाद जी के शुद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं । इन नाटकों के प्रणयन के पूर्व प्रसाद जी ने इतिहास का अध्ययन किया और अतीत के जिन मोहक चित्रों से उनकी आत्मा को परिशात मिली, उसे उन्होंने अपने साहित्य का आधार बनाया । शुद्ध ऐतिहासिक का यह अर्थ नहीं कि प्रसाद के ये नाटक शुद्ध रूप से इतिहास हैं । न तो नाटक इतिहास हो सकता है और न ऐतिहासिक तिथिया नाटक । कलाकार इतिहास से तथ्य लेता है और उसमें अपनी मन की माधुरी मिलाता है । इस सम्मिश्रण से सभावना की सृष्टि होती है । वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में प्रसाद जी को अतीत का गौरव उपस्थित करना था । इसलिए उनके नाटकों में अतीत के प्रति आस्था, वर्तमान के प्रति असतोष और भविष्य के लिए आशा-किरण दिखायी पडती है । प्रसाद जी निराशावादी नहीं थे, इसलिए विपन्नावस्था में भी उन्होंने आशा का सचार किया है । इन नाटकों के कथानकों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमान के प्रति विह्वलता व्यक्त करते हुए भी प्रसाद जी ने भविष्य के लिए आशा का सचार अवश्य किया है ।

प्रसाद की तिथिया ऐतिहासिक तिथियों से मेल खाती भी हैं और नहीं भी। कारण स्पष्ट है विभिन्न इतिहासों में भी तिथिया एक नहीं अनेक मिलती हैं । दिग्भ्रम का प्रारभ तो यहीं से होता है । प्रसाद के सामने भारत की स्वतत्रता का प्रमुख स्थान था । वे बिखरे राज्यों को एक सूत्रता प्रदान करना चाहते थे । इसीलिए उन्होंने अपना क्षेत्र इतिहास चुना ।

'विशाख' और 'जनमेजय का नाग यज्ञ' अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक हैं । विशाख की कथावस्तु का आधार कल्हण की राजतरगिणी है । राजतरगिणी के प्रारभिक अश के इतिवृत्त को प्रसाद जी ने सभाव्यता की तुला पर कसा है । चूँकि कल्हण की 'राजतरगिणी' ही स्वय इतिहास की शुद्ध कृति नहीं, इसलिए उसकी ऐतिहासिकता से पृथकता भी अकाट्य नहीं ।

'जनमेजय का नागयज्ञ' वस्तुत: पूर्वजों के प्रति श्रद्धाभाव की अभिव्यक्ति है । राजा भगीरथ ने अपने पूर्वजों के उद्धार के लिए कठोर व्रत कर गगा को

पृथ्वी पर अवतरित कराया था, ताकि उनके पूर्वजों को मोक्ष की प्राप्ति हो सके । इस उद्देश्य में पवित्रता है, सौम्य, शान्ति और गभीरता है । नागयज्ञ में जनमेजय की शाति तो नहीं झलकती, किन्तु उसे उच्छृखल भी नहीं कहा जा सकता । प्रतिशोध जड-चेतन का जन्म सिद्ध अधिकार है । जनमेजय भी इस नियम का अपवाद नहीं ।

ऐतिहासिक हो या अर्द्ध ऐतिहासिक, प्रसाद का एकमात्र उद्देश्य रहा है-आर्य सस्कृति का गौरव-गान । ऐसी नहीं है कि उन्होंने मात्र आर्य-सस्कृति का वर्णन किया है, अपितु वर्ण्य-विषय के रूप में उनके सामने शक, हूण, आदिवासी तथा यवन सस्कृतिया भी आयी हैं । इसमें कोई सदेह नहीं है कि प्रसाद जी ने इतिहास के उस अध्याय को चुना है, जिनमें अन्य सस्कृतिया आर्य सस्कृति के समक्ष निस्तेज हो जाती हैं । प्रसाद के ऐतिहासिक अथवा अर्द्ध ऐतिहासिक नाटकों के कथानकों से इस बात की पुष्टि सभव है कि प्रसाद जी के प्रति अनन्य रहे हैं । इसलिए सस्कृति के सश्लेषण-क्रम में उनके नाटकों के कथानक प्रस्तुत हैं ।

राज्यश्री

सर्वप्रथम 'इन्दुकला' में प्रकाशित 'राज्यश्री' नाटक स्वर्गीय प्रसाद का प्रथम ऐतिहासिक रूपक है । इस पुस्तक के दो सस्करण प्राप्त हैं, और दोनों में पर्याप्त अतर है । पहले में लगता है 'सज्जन' और 'प्रायश्चित' के प्रसाद का परिपक्व रूप है, किन्तु दूसरे सस्करण में प्रसाद के प्रौढ व्यक्तित्व, अध्ययन और रचना-कौशल के दर्शन होते हैं । अभिव्यजना, संघटन, घटना, कथोपकथन आदि सभी दृष्टियों से विलक्षण अन्तर का पता चलता है ।

इसके कथा-स्रोत का सचयन वाणकृत 'हर्षवर्धन' और चीनी यात्री सुएन च्यांग के यात्रा-वर्णन से प्राप्त हुआ है । उस समय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ऐसी थी-गुप्त शासकों के पतन के बाद छठी शताब्दी के प्रारभ में उत्तर कर मालवेश यशोधर्मदेव ने अपनी शक्ति प्रदर्शित की थी । सातवीं शताब्दी के प्रारभ में स्थाणीश्वर के वर्धनवश ने शक्ति-सचय किया । महाराजाधिराज प्रभाकर वर्धन की मृत्यु के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र ने गद्दी सम्भाली । उसी समय उनकी बहन पर आपदा आयी । उसके पति की हत्या करके मालव शासक देव गुप्त ने उसे बन्दी बना लिया था[1] । सूचना पाकर हर्षवर्धन को शासन-भार सौंपकर राज्यवर्धन राज्यश्री के उद्धार के लिए चल पड़ा । मालव-सेना का विध्वस तो उसने किया, किन्तु स्वय भवर में फस गया । गौडाधिप शशाक ने अपनी पुत्री से विवाह करने का लोभ् दिला कर छलपूर्वक उसे मरवा दिया । तदन्तर हर्षवर्धन भाई की हत्या था बदला और विधवा बहन के उद्धार का व्रत लेकर आगे बढा । एक बौद्ध मित्र की सहायता से वह राज्यश्री के समीप जिस समय पहुचा, वह चिता में कूद कर आत्म हत्या करने जा रही थी । हर्ष काषाय वस्त्र में सिमटी राज्यश्री को लेकर

1 इपिग्राफिका इन्डिका-1, पृष्ठ 72, 74 तथा 4, पृ० 210 ।

लौट गया । कालान्तर में वह थानेश्वर और कन्नौज का अधिपति बन गया ।

प्रसाद के 'राज्यश्री' का आरम्भ कान्यकुब्ज के नदी तट के उपवन से होता है । भिक्षु शातिदेव और मालिन सुरमा के प्रेमालाप से दृश्यारम्भ होता है । सुरमा प्रेम-पीडा से बुरी तरह पीडित है । वह उतावली है, किन्तु शातिदेव राज्यश्री द्वारा भिक्षा-दान के समय अपनी भाग्य-परीक्षा करना चाहता है । शातिदेव भिक्षु है, किन्तु राज्यश्री पर आसक्त है । देवगुप्त भी राज्यश्री की असाधारण योग्यता और अपूर्व सौन्दर्य पर मुग्ध है । दूसरे दृश्य में ग्रह वर्मा अपनी दुर्बल भावनाओं के कारण चिन्तित मुद्रा में राज्यश्री के सामने प्रस्तुत हुआ है । तीसरे दृश्य में देवगुप्त के राज्यश्री के प्रति मधुर भाव प्रकट हुए हैं । इसी दृश्य में सेना के साथ वीरसेन के प्रस्थान और ग्रहवर्मा के मृगया हेतु जाने की सूचना मिलती है । पाचवें दृश्य में राज्यश्री देव-मन्दिर में उपस्थित होती है । शातिदेव के चचल मन में उठती तरगों पर नियत्रण करने की सलाह देती हुई वह कहती है-'तुम सयत करो अपने मन को भिक्षु । श्लाघा और आकाक्षा का पथ तुम बहुत पहले छोड चुके हो । यदि तुम्हारी कोई अत्यन्त आवश्यकता हो, तो मैं पूरी कर सकती हूँ, निश्चित उपासना की अवस्था करा दे सकती हूँ[1]-इसमें उसके चरित्र का सकल्प, उदारता एव प्रबल इच्छा शक्ति का परिचय मिलता है । कलुषित मन-बुद्धि वाला शान्तिदेव राज्यश्री की भावनाओं एव आदर्शों को न समझ पाता है, न आदर कर पाता है। सीमा-प्रान्त से आये युद्ध-सदेश का स्वागत करना उसके क्षत्राणीपन का गौरव है, किन्तु कुछ ही क्षण बाद विजय हेतु प्रार्थना करते समय राज्यश्री चेतना-शून्य हो जाती है । अगले दृश्य में देवगुप्त सुरमा का प्रेम प्राप्त करने में सफल होता है। इसी समय प्रभाकर वर्धन की मृत्यु के बाद राज्य वर्धन हूण-युद्ध के लिये पचनद जाते हैं ।

दूसरे अक में शान्तिदेव के चचल मन की व्यथा तब और बढ जाती है, जब सुरमा को वह प्राप्त नहीं कर पाता । अतृप्त इच्छा और सुरमा के विश्वासघात के कारण वह दस्यु बन जाता है । राज्यवर्धन की विशाल सेना में विकटघोष, नाम से वह अपनी सेवाए अर्पित करता है । देवगुप्त राज्यश्री से तिरस्कार पाकर राज्यश्री को बन्दी बनाता है । दुर्ग पर राज्यवर्धन के आक्रमण और देवगुप्त की मृत्यु के बाद विकटघोष (शान्तिदेव) सुरमा और राज्यश्री को मुक्ति का विश्वास दिलाकर कैद की लक्ष्मण-रेखा के बाहर निकाल देता है ।

तीसरे अक में फिर विकटघोष और सुरमा एक साथ बैठकर विगत जीवन की आपबीती दुहराते हुए एक दूसरे पर दोषारोपण करते हैं । नरेन्द्र गुप्त ऊपर से राज्यवर्धन का साथ देता है, किन्तु षडयन्त्र द्वारा विकटघोष और सुरमा को प्रलोभन दिलाकर राज्यवर्धन की हत्या करवा देता है । इधर राज्यश्री दो दस्युओं से मुक्त होकर दिवाकर मित्र की शरण प्राप्त करती है । रेवातट पर हो रहे

---

1 राज्यश्री, पृष्ठ 21-22 ।

हर्षवर्धन और पुलकेशिन चालुक्य के युद्ध के बादल मडराते हैं, किन्तु हर्षवर्धन अपने उदात्त चरित्त, त्याग और सतोष के कारण युद्ध करना सर्वथा अस्वीकारता है । यह भारतीय सस्कृति का आदर्श है । एक ओर उसके मन में भाई के मरण और बहन के अपहरण का दु:ख है, तो दूसरी ओर साम्राज्यवाद और विस्तारवाद के प्रति घोर अनास्था । अन्तत , मैत्री की सधि का सास्कृतिक आदर्श सफल होता है । इसके बाद एक नया प्रसग उभरता है । चीनी यात्री सुएन च्याग (ह्वेनसाग) विकटघोष के समाने बदी बनाकर प्रस्तुत किया जाता है । धर्म, सस्कृति, शान्ति की हजार दुहाई देने के बावजूद वह विकटघोष की पिशाच-बुद्धि में परिवर्तन लाने में सक्षम नहीं हो पाता । धन का लोभी विकटघोष धन नहीं मिलने पर उसकी बलि की तैयारी करता है, किन्तु चीनी यात्री की प्रार्थना के समय अचानक आये प्रकृति-प्रकोप के कारण उसे सुएनच्याग को मुक्त करना पडता है । तीसरे अक के अतिम दृश्य में राज्यश्री दिवाकर मित्र के तपोवन में दिखलायी पडती है । दैहिक-दैविक-भौतिक दु:खों से ऊबी हुई राज्यश्री नित्य की ज्वाला से चिता की ज्वाला में समाकर मुक्ति की भीख मागती है । दिवाकर मित्र आत्म हत्या को अधर्म बताकर उसे ईश्वरोन्मुख होने का उपदेश देता है । अग्नि-प्रवेश के अतिम क्षण में हर्ष मच पर आकर अपनी बहन को रोकता है । स्वय भिक्षु बनने का सकल्प प्रकट करता है, तब राज्यश्री का अहम्, नारीत्व, क्षत्राणीपन आहत होता है । वह उसके लिये जीवित रहने का सकल्प लेती है, साथ ही लोक-सेवा के कार्य व्रत पूरा कर काषाय व्रत लेने का निश्चय भी । उसके इस वाक्य में—'ऐसा ही होगा, मैं तुम्हारे ही लिए जीवित रहूँगी, मेरे अकेले भाई मुझे क्षमा करो, मैं कठोर हो गयी थी'[1] —एक ओर ममतामयी मातृवत्ता झलकती है, दूसरी ओर भारतीय संस्कृति में व्याप्त करुणा, शील, स्नेह और सौजन्य । बड़े विनम्र भाव से वह स्वीकारती है कि स्त्री स्वभाव-दुर्बल नारी होती है । इस दुर्बलता के अनुकरण की अपेक्षा पुरुष से नहीं की जा सकती । इस अंक के अन्त में उसका यह वाक्य-'चलो भाई, जहां तक बन पडे लोक-सेवा कर के अन्त में हम दोनों साथ ही में काषाय लेगें'[2]-भारतीय सस्कृति के उस अध्याय का आभास देता है, जहां नारियां लोक-सेवा और त्याग का व्रत निभाती हुई जीवन में पीयूष-स्रोत प्रवाहित करती हैं । वैसे भी नारी दया-क्षमा-करुणा की त्रिवेणी और कर्त्तव्य त्याग की जीवन्त प्रतिमा होती है ।

चतुर्थ अक में पुन: पुराना प्रेमी-युग्म प्रकट होता है । साधु-वेष में विकटघोष को देखकर सुरमा हैरान होती है, किन्तु अपने आन्तरिक चरित्र और गुणों को वह शीघ्र उद्घाटित कर देता है । उसका यह वेष प्रवचना की भूमिका है, जिसमें कितने भोले हृदय मूर्ख बनते रहे हैं । राज्यश्री ने कान्यकुब्ज में समस्त

---

1 राज्यश्री, पृष्ठ 66 ।

2 वही पृष्ठ 66 ।

कोष के दान का सकल्प ले रखा हैं । अगले दृश्य म हर्ष सपरिवार उपस्थित है । नरेन्द्र गुप्त क्षमायाचना करता है । हर्ष अपने हृदय के स्वर के विरुद्ध मात्र राज्यश्री की इच्छा के सम्मान के लिये उसे क्षमा कर देता है । महाश्रमण (सुएनच्याग) पर आक्रमण होता है, किन्तु वह बच जाता है । इन सारी असामान्य स्थितियों की जड में धार्मिक द्वेष है । भारतीय सस्कृति का पोषक हर्ष अपने विदेशी अतिथि पर आक्रमण सहने को तैयार नहीं है । उसके इस वाक्य में उसका चारित्रिक, उत्कर्ष, शौर्य एव सकल्प प्रोद्भाषित होता है-'क्षमा की भी एक सीमा होती है, जाओ डौंडी पिटवा दो, यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया, तो समस्त विरोधियों को जीवित जलना पडेगा[1] ।

तीसरे दृश्य में हत्या के षडयन्त्र में सलग्न अपराधी के पकड जाने की सूचना मिलती है । जब ढोंगी हवन-पूजा का स्वाग रचते है, तब पुण्य भी पाप का पर्याय बन जाता है । नाटक के अतिम अक के अतिम दृश्य में बुद्ध की प्रतिमा के सम्मुख सम्राट् हर्षवर्धन, प्रमुख सामत गण और चीनी यात्री सुएन च्यांग प्रस्तुत हैं । हर्ष उस वैभव, रत्न, मणि और कचन का सहर्ष त्याग करता है, जिसकी विभूति और प्रतिपत्ति के लिये हत्याओं के षडयन्त्र किये जाते हैं । उमके इस उद्घोष में राष्ट्रीय और सास्कृतिक गौरव प्रतिबिम्बित होता है-''मै आज सबसे अलग हो रहा हूँ, यदि कोई शत्रु मेरा प्राणदान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ[2] । चीनी यात्री इस 'देव-दुर्लभ दृश्य' पर विस्मयविमुग्ध है । वह स्वीकारता है-'यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देखकर, सम्राट । मुझे विश्वास हो गया है कि यही अमिताभ की प्रसवभूमि हो सकती है[3] ।' राज्यश्री हर्ष को काषाय वस्त्र देती है और स्वय महाश्रवण से उसकी याचना करती है । इस पर महाश्रमण के ये वाक्य जितने रोमाचक है, उतने ही भारतीय संस्कृति का एक विदेशी के शब्दों में-महानतम सिद्ध करने का सफलतम प्रयास-'सर्वस्व दान करने वाली देवी, मैं तुम्हें कुछ दूँ ये मेरा भाग्य । तुम्हीं मुझे वरदान दो कि भारत से जो मैंने सीखा है वह जाकर अपने देश में सुनाऊ[4] ।' इन वाक्यों में समस्त विश्व पर भारतीय संस्कृति की विजय की घोषणा है । विकटघोष हत्या के अपराध में उपस्थित होता हे । श्लाघा और आकाक्षा छोडकर सन्यास ग्रहण कर पुनः उसे आलिगन करने वाला शाति भिक्षु प्रायश्चित स्वरूप प्राणदड मागता है, किन्तु स्नेह-शीला, सस्कृति पोषिका राज्यश्री आज महाव्रत के उद्यापन के दिवस पर उसे क्षमा कर प्राण-दान देती है । अत में, राज्यश्री भारतीय सस्कृति के उस उच्चनम आदर्श-प्रायश्चित और चित्तशुद्धि पूर्वक उसे काषाय लेने के निर्देश देती है । सुरमा और विकटघोष-दोनों

1 राज्यश्री, पृष्ठ 70 ।
2. वही, पृष्ठ 72 ।
3 वही, पृष्ठ 72 ।

प्रेमीयुग्म-काषाय ग्रहण करत हैं ।

नाटक का अत जितना नाटकीय है, उतना ही हृदयस्पर्शी, प्रभावी ओर उद्बोधक । कुमार राज, उदित राज, महाश्रमण के आग्रह पर धर्म-रक्षा-हतु हर्ष को राजदड और मुकुट ग्रहण करना पडता है, क्योंकि भिक्षु का व्रत धारण कर, निज मुक्ति म तल्लीनता के साथ लोक-कल्याण का सम्यक् निर्वाह सम्भव नहीं । भारतीय सस्कृति का यह मूल मत्र है कि स्व-सुख कामनाविहीन, पर दु ख-कातुरता ही सच्चा लोक-धर्म है और उसका निर्वाह भारतीय सस्कृति में सबसे बडी तपस्या । कर्त्तव्य, आत्म मोक्ष से ऊपर और श्रेयष्कर है । हमारी सस्कृति त्याग के आदर्श सिखाती अवश्य है, किन्तु त्याग बुरी भावनाओं का, कुसस्कारों का, अधिकारों का न कि कर्त्तव्य और लोक मगलकारी भावनाओं का ।

अजातशत्रु

'अजातशत्रु' स्व० प्रसाद रचित दूसरा शुद्ध ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इसका कथानक-'कथा सरितसागर', हरिमात वद्धकिसूकर, बुद्धघोष, तक्षसूकर जातक, भद्दसाल जातक, अवदान कल्पलता, विष्णु पुराण, बौद्ध साहित्य तथा सस्कृत-साहित्य आदि के आधार पर संकलित किया है । 'अजातशत्रु' का कथानक चार स्थानों से सबधित है । प्रथम-मगध, द्वितीय-कोसाम्बी, तृतीय-कोशल और चौथा-काशी ।

बिम्बसार मगध का सम्राट है, इनकी दो पत्निया हैं-बासवी और छलना । बिम्बसार और बासवी गौतम से अधिक प्रभावित हैं । छलना जैन मत से प्रभावित है और स्वभाव से उग्र भी । बासवी से उसकी तनिक भी नहीं पटती । यहा तक कि उसे इस कारण अपने पति से सघार्ष चलता है । तभी वह अपने पति को राजसिहासन से हटाकर अपने पुत्र अजातशत्रु को राजसिहासन पर बैठाती है । बासवी की एक पुत्री है-पद्मावती । छलना को इससे भी नहीं पटती । पद्मावती की शादी कोसाम्बी के राजा उदयन के साथ हुई है । उसकी भी दो और पत्निया हैं-वासवदत्ता और मागधी । वासवदत्ता का उदयन पर विशेष प्रभाव है । मागधी युवती और रूपवती है । इस सौन्दर्य-जाल से वह उदयन को इस प्रकार फास लेती है कि वह पत्नी पद्मावती से भी विमुख हो जाता है । अपने माता-पिता की तरह पद्मावती भी गौतम बुद्ध से प्रभावित है ।

सपूर्ण कथानक तीन खडों में विभाजित है । महत्वपूर्ण बात यह है कि नाटक \विरोधमूलक है और आद्यन्त विरोध चलता रहता है । विरोध से ही इसका आरभ होता है, विरोध का ही विस्तार होता है और अंत भी विरोध में ही होता है । इसलिए अतर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व तो नाटक में भरे हुए हैं, किन्तु सधियों का रूप स्पष्ट नहीं हो पाता । यद्यपि कथा के क्षेत्र चार हैं, किन्तु प्रधान घटना-स्थल तीन हैं-मगध, कोशल और कोसाम्बी । विरोध की जो ज्वाला मगध में भडकी,

कोशल में उसका रूप प्रचण्ड हुआ और ज्वाला की लपट कोसाम्बी तक पहुँची है ।

नाटक का आरभ ही अजातशत्रु की क्रूरता से होता है । अजातशत्रु के चित्रक को खेलने के लिए प्रतिदिन एक मृग-शावक आता था, किन्तु शिकारी लुब्धक की आँखें उस दिन करुणा-द्रवित हो गयीं । वस्तुतः, मृग-शावक को पकडते समय उसकी माता की करुणा भरी दृष्टि देख वह दयाप्लावित हो उठा और उसे शावक को छोड देना पडा । अजातशत्रु उस पर क्रोधित हो उठता है और उसकी चमडी उधेडने के लिए कोडे मंगवाता है । उसकी बहन पद्मावती उसे क्षमा-दया का उपदेश देती है, तो अजातशत्रु की मा इसे छल का आयोजन मानती है । वह पद्मावती को यहाँ तक कह देती है कि अजातशत्रु को अयोग्य शासक बनाकर उसका राज्य आत्मसात करने के लिए वह कोसाम्बी से आयी है । 'पद्मा ! तू इसकी मगल-कामना करती है ? क्या तू इसे अहिसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भद्दी सीख है ? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिखमगों का पाठ नहीं पढाया जाता । राजा का परम धर्म न्याय है, वह दण्ड के आधार पर है । क्या तुझे नहीं मालूम कि वह भी हिसामूलक है[1] ?

क्रूर पुत्र की उद्दण्डता, पत्नी छलना के निरतर प्रताडन, अधिकार-लोलुपता, कुमत्रणा और पारिवारिक कलह से त्रस्त महाराज बिम्बसार सन्यास लेते हैं । महाराज बिम्बसार एकाकी बैठे हुए जीवन की क्षणभगुरता पर विचार कर रहे थे । मानव-स्वभाव के विश्लेषण-क्रम में उन्हें यह प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही थी कि आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन-सग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है । फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में ले जाकर उसका शातिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है, किन्तु वह कब मानता है[2] ?'

एकाएक छलना वहा उपस्थित होती है और पद्मावती की शिकायत करती है । इसी समय गौतम बुद्ध का प्रवेश होता है और वे बिम्बसार को कहते हैं कि शीतल वाणी, मधुर व्यवहार से मनुष्य ही नहीं, जगली पशु तक वश में हो जाते हैं । असल में सारे ससार में उपद्रवों का मूल व्यंग्य है । जितना तीखा प्रहार व्यग्य करता है, उतना कटार भी नहीं । इसलिए वाक्-सयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है । गौतम बुद्ध के सकेत से महाराज बिम्बसार अजातशत्रु को राज्य समर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं और अन्ततोगत्वा यह काम सपन्न हो जाता है । कुछ स्वामी भक्त सेवक इसका विरोध करना चाहते हैं, किन्तु बिम्बसार ऐसा होने नहीं देता । हां, प्रसेनजित अप्रत्याशित आशका भापकर अपनी बहन बासवी को मगवाने

1. अजातशत्रु, पृष्ठ 20 ।
2 वही, पृष्ठ 33 ।

के लिए भेजते हैं, किन्तु बिम्बमार के वाणप्रस्थ आश्रम-ग्रहण करने के कारण बासवी उन्हें अकेले छोडने में असमर्थता व्यक्त करती है । सूच्य रूप म यहॉं गौतमबुद्ध और देवदत्त के सघर्ष की सूचना मिलती हे और देवदत्त के साथ छलना के कुचक्रों का भी भान हाता है । सन्यास-ग्रहण करने के बाद महाराज बिम्बसार बहुत प्रसन्न हैं । यह तो युग-युगान्तर से व्यक्ति करता ही रहा है कि पुत्र को पिता सत्ता का हस्तान्तरण करते हैं । इसलिए ससारी को त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए वात्सल्य पहला और सहज साधन है । पुत्र का समस्त अधिकार सौपकर वीतराग हो जाने से असतोष नहीं रह जाता, क्योंकि मनुष्य पुत्र को अपनी ही आत्मा का प्रतिरूप और योग समझता है । अगर उन्हें कोई दु:ख है तो वह यह कि याचक उनके घर से निराश-लौट जाते हैं । उनको सतोष देन क लिए वासवी यह कहती है कि काशी का राज्य मुझे मेरे पिता ने आचल में दिया हे, उसकी आय से दान-पुण्य का क्रम चल सकता है ।

मगध की तरह कोसाम्बी में भी घटनाओं का आरभ विरोध से ही होता है । मागधी गौतम से प्रतिशोध लेना चाहती है । वह उदयन को पद्मावती के विरुद्ध कर देती है । एक षडयत्र द्वारा मागधी यह स्थिति उत्पन्न कर देती है कि पद्मावती उदयन का अन्त कर देना चाहती है, लेकिन भेद खुल जाता है और मागधी वहा से भागकर काशी चली आती है और वार विलाासिनी बन जाती है ।

प्रसेनजित एक हल्के अपराध के लिए विरुद्धक का युवराज पद छीन लेता है । मंत्री उसकी निर्बलता की ओर सकेत करता है । दूसरी ओर बन्धुत्व की शक्ति पर उसे सदेह होने लगता है । कुमार विरुद्धक बन्धुत्व को एकान्त में मिलने के लिए बुलाता है । इधर शैलेन्द्र डाकू के नाम से विचरण कर रहे विरुद्धक का आतक तेज हो गया है । मागधी, जो वारविलासिनी श्यामा बन गयी है, शैलन्द्र डाकू पर मोहित होकर प्रेम करने लग जाती है । कोशल को बिना जीते लौट जाने की स्थिति में अजातशत्रु को उसकी माता फटकारती है । अजातशत्रु युद्ध की भयकरता का वर्णन करते हुए सिहासन से हटकर पिता की सेवा करने को प्रस्तुत है । युद्ध की भीषणता उसके हृदय में कोमल वृत्ति उत्पादित कर देती है । वह पिता से क्षमा-याचना को भी प्रस्तुत है-"मैं आज भी सिंहासन से हटकर पिता की सेवा करने को प्रस्तुत हूँ-मा क्षमा हो । युद्ध में बड़ी भयानकता होती है, कितनी स्त्रिया अनाथ हो जाती हैं । सैनिक जीवन का महत्त्वपूर्ण चित्र न जाने किस षड्यत्रकारी मस्तिष्क की भयानक कल्पना है । सभ्यता से मानव की जा पाशववृत्ति दबी हुई रहती है, उसी को इसमें उत्तेजना मिलती है"[1] ।

इसी समय देवदत्त का प्रादुर्भाव होता है और अजात को वह फिर उत्तेजित कर देता है । वह यह सूचित करता है कि कोशल और कोसाम्बी की सम्मिलित

---

1 अजातशत्रु पष्ठ 127 ।

सेना मगध पर गरजती चली आ रही है । सहसा विरुद्धक आ जाता है । वह अजातशत्रु से मिलकर कोशल और कौसाम्बी की सेना के विरुद्ध लडना चाहता है । पहले तो अजात उसे अपना शत्रु समझकर उसकी बात नहीं मानता, कितु बाद में उसकी योजना स्वीकार कर लेता है । निश्चय होता है कि कोशल की सेना पर अजात आक्रमण करे और कोसाम्बी की सेना पर विरुद्धक । यहा आकर विरोध दूसरी बार चरम सीमा पर पहुँच जाता है । अब तक विरोध का केवल विकास ही हुआ है और दो चरम सीमाएँ मिली हैं । सम्पूर्ण द्वितीय अक में विरोध का विस्तार मिलता है । द्वितीय अक की समाप्ति के अवसर पर विरोध में व्यापकता और परिपूर्णता का आविर्भाव होता है ।

तीसरे अक का प्रारंभ मगध के राजकीय भवन में हुआ है । कोशल और कोसाम्बी के साथ युद्ध में मगध पराजित हो जाता है । अजानशत्रु को बन्दी बनाकर प्रसेनजित अपने साथ श्रावस्ती ले जाता है । सब कुछ विनष्ट हो जाने के बाद जब छलना को होश होता है तब वह सारे अपराधों का उत्तरदायित्व देवदत्त पर सौंपती है । इसी समय वासवीं का पदार्पण होता है । आवेश में छलना उसे भी जली-कटी सुनाती है, किन्तु वासवी इसकी किंचित् परवाह नहीं करती । उसमें आत्म विश्वास है । वह अपना कर्त्तव्य निर्धारित करती है कि एक बार उसे श्रावस्ती जाकर अजातशत्रु को मुक्त कराना होगा । तब तक छलना को आदेश देती है कि वह पति की देख-रेख करे । आरंभ में छलना को वासवी की बातों का विश्वास नहीं होता, कितु फिर उसे अपने कार्यों का पश्चाताप होता है और तब वह वासवी को जाने देती है। वासवी के आदेश पर ही वह देवदत्त को मुक्त करती है । छलना रोने लगती है । उसका अहंकार गल गया है । वात्सल्य की पुकार उसे अस्थिर बना देती है-'वासवी ! बहिन ! मेरा कुणीक मुझे दे दो, मैं भीख मागती हूँ । मै नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और स्नेह, सतान के लिए, इस हृदय में सचित था, यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वाग न करती[1] ।' वासवी का प्रत्युत्तर उसके व्यक्तित्व के अनुकूल प्रेम, गांभीर्य और उदात्त भावना का सूचक है-'यही जो जानती कि नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्‌गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आदर्श है, तो पुरुषार्थ का ढोंग क्यों करती । रो मत बहिन ! मैं जाती हूँ, तू यही समझ कि कुणीक ननिहाल गया है[2] ।'

तीसरे अक के द्वितीय दृश्य में प्रसेनजित की कन्या वाजिरा का स्वगत कथन है । कोशल के राजमहल से लगे हुए बन्दीगृह में वह अनुभव करती है कि प्रकृति स विद्रोह करके नये साधनों के लिए अनवरत प्रयास हो रहा है । अधी जनता अधेरे में दौड रही है-'भाई-भाई से लड रहा है, पुत्र पिता से विद्रोह कर रहा

1 अजातशत्रु, पृष्ठ 134 ।

2 वही, पृष्ठ 134 ।

है, स्त्रिया पतियों पर प्रेम नहीं करतीं, किंतु शासन करना चाहती हैं ? मनुष्य मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्र-कला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को लेकर कवि कविता करते हैं । सुन्दर राजकुमार ! कितनी सरलता और निर्भीकता इस विशाल भाल पर अकित है । अहा ! जीवन-धन्य हो गया है एक नवीन ससार इसमें बन गया है । यही यदि प्रेम है तो अवश्य स्पृहणीय है, जीवन की सार्थकता है[1] ।' प्रसेनजित की पुत्री अजातशत्रु के शौर्य और सौन्दर्य से प्रभावित होकर उससे प्रेम करने लगी है । अजात भी बाजिरा की ओर आकर्षित है । पहले तो बाजिरा परिचय देने की बात टालती है, क्योंकि उसका अनुमान है कि प्रतिद्वन्द्वी की कन्या जानकर अजात के हृदय में प्रेम-भावना की अपेक्षा घृणा-भावना ही जाग्रत होगी, किंतु बाजिरा का सही परिचय पाकर भी अजात का बाजिरा के प्रति प्रेम बना ही रहता है । वैसे तो बाजिरा उसे बन्दी गृह से मुक्त कर देती है, किंतु अब स्वय अजात चिर बन्दी बनकर उसके समीपस्थ रहना चाहता है । उसका अनुमान है कि उसके चले जाने पर प्रसेनजित बाजिरा को दडित करेंगे। अपनी माला अजात को पहनाकर बाजिरा सर्वस्व समर्पण का भाव अर्पित करती है । प्रेम के प्रतिदान स्वरूप वह भी बाजिरा को अगूठी पहनाता है । इसी बीच कारायन पहुँच जाता है । कारायन पहले बाजिरा को पत्नी बनाना चाहता था, किन्तु यहाँ अजात और बाजिरा के प्रेम-व्यापार को देखकर उसकी समस्त आशाओं पर पानी फिर जाता है-'यह क्या ? बन्दी गृह में प्रेम-लीला । राजकुमारी ! तुम कैसे यहाँ आई हो ? क्या राजनियम की कठोरता भूल गयी हो[2] ।'

कारायन अजात पर क्रोधित होता है । अजात उसे द्वन्द्वयुद्ध के लिए आमत्रण देता है, किन्तु बाजिरा जब यह कहती है कि वह आत्मसमर्पण कर चुकी है, तब कारायन निराश और शान्त पड़ जाता है । इसी बीच वासवी और प्रसेनजित उपस्थित होते हैं । वासवी अजातशत्रु को मुक्त कर अपने अक में भर लेती है । अजात को जीवन में पहली बार मा की गोद की शीतलता का अनुभव होता है । वह पश्चाताप में डूब जाता है तथा माता से क्षमा-याचना करता है । वासवी सदैव क्षमाशील रही है । वह शीघ्र ही अजात को मगध भेजना चाहती है, किन्तु अजात माता को छोड जाने को तैयार नहीं होता । वस्तुतः, यहा विरोध का शमन हो गया है । 'अशातशत्रु' नाटक का नायक फल की ओर अग्रसर होता है । तृतीय अक में यही विरोध की शांति और विरोध का परिहार है । वस्तुतः, कथानक की कार्य-अवस्थाए भारतीय सिद्धान्त के अनुसार न होकर पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के आलोक में विकसित हुई हैं । हां, लक्ष्य है-फलागम और उसमें भारतीयता स्पष्ट है ।

---

1 अजातशत्रु, पृष्ठ 135 ।

2. वही, पृष्ठ 138 ।

मगध तथा कोशल और कोसाम्बी के युद्ध में विरुद्धक भी घायल हो गया था । उसकी सेवा के लिए उसे भी मल्लिका अपनी कुटी में ले आती है । मल्लिका उसकी सेवा करती है और विरुद्धक पूर्णत. स्वस्थ हो जाता है । विरुद्धक को यह भ्रम हो जाता है कि मल्लिका उसे प्रेम करती है, किन्तु मल्लिका स्पष्ट कर •देती है कि अतरात्मा द्वारा कर्त्तव्य की पुकार पर ही उसने विरुद्धक की रक्षा की है-तुमने कपिलवस्तु के निरीह प्राणियों का किसी की भूल पर निर्दयता से बध किया, तुमने पिता से विद्रोह किया, विश्वासघात किया, एक वीर को छल से मार डाला और अपने देश के (जन्मभूमि के) विरुद्ध अस्त्र-ग्रहण किया । तुम्हारे ऐसा नीच और कौन होगा, किन्तु यह सब जानकर भी मैं तुम्हें रणक्षेत्र से सेवा के लिए उठा लायी । . तुम इसलिए नहीं बचा लिये गये कि फिर भी एक विरक्ता नारी पर बलात्कार और लपटता का अभिनय करो । जीवन इसलिए मिला है कि पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित करो[1] ।' ये हैं भारतीय सस्कृति के ध्यातव्य आदर्श ।

बाजिरा और अजात के प्रेम तथा विवाह की बात सुनकर कारायन बहुत दु:खी होता है । कारायन को पश्चाताप होता है कि जिस बाजिरा के लिए उसने विरुद्धक को धोखा दिया, वह भी नहीं मिली । अब तो वह विरुद्धक को मुह दिखलाने लायक भी नहीं है । शक्तिमती उसे धिक्कारती है कि तुम्हारे ही कारण मेरा पुत्र विरुद्धक घायल हुआ है और उसका कहीं पता नहीं है । अपनी वर्तमान स्थिति से शक्तिमती क्षुब्ध है । आवेश में आकर कारायन से वह पूछती है-'क्या स्त्रियॉ अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखतीं ? क्या उनका कोई जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं है ? क्या स्त्रियॉ अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखतीं । क्या उनका कोई जन्म-सिद्ध अन्धकार नहीं है ? क्या स्त्रियों का सब कुछ पुरुषों की कृपा से मिली हुई भिक्षा मात्र है ? मुझे इस तरह पद-च्युत करने का किसी को क्या अधिकार था[2] ।' इसके पश्चात् दोनों में स्त्री तथा पुरुष के पारस्परिक सबध पद वाद-विवाद होता है । तभी विरूद्धक और मल्लिका वहा पहुँचते हैं । शक्तिमती क्षमा-याचना करती है ।

पाचवें दृश्य में कोशल की राजसभा का वर्णन है । विवाहित अजातशत्रु और बाजिरा का प्रवेश होता है, साथ में प्रसेनजित, शक्तिमती, मल्लिका, विरुद्धक, वासवी और कारायन भी आते हैं । यहीं राजा प्रसेनजित अपनी परित्यक्ता पत्नी शक्तिमती को अगीकार कर लेते हैं । पहले तो राजा विरुद्धक को राष्ट्रद्रोही बतलाते हैं, किन्तु जब उसकी मा यह कहती है कि राष्ट्रद्रोही बतलाते हैं, किन्तु जब उसकी मा यह कहती है कि राष्ट्रद्रोही बनाने का उत्तरदायित्च उसके पिता पर है, तब विरुद्धक ग्लानि से भर जाता है । वह पिता से क्षमा-याचना करता है । प्रसेनजित

1 अजातशत्रु, पृष्ठ 144 ।

2 वही, पृष्ठ 148 ।

उसे क्षमा करते हैं और प्रवेश कर गौतमबुद्ध इस क्षमाशीलता पर सतोष व्यक्त करते हैं । गौतमबुद्ध उसे त्याज्य पुत्र भी नहीं कहने देते । प्रसेनजित उसे दासी पुत्र कहकर सिहासन से वचित करना चाहते हैं, किंतु गौतम बुद्ध इस मिथ्या अहकार का शमन करते हैं-'यह दभ तुम्हारा प्राचीन सस्कार है, क्यों राजन्! क्या दास-दासी मनुष्य नही हैं ? क्या कई पीढी ऊपर तक तुम प्रमाण दे सकते हो कि सभी राजकुमारियों की सतान ही सिहासन पर बैठी हैं क्या प्रतिज्ञा करोगे कि कई पीढी आने वाली तक दासी-पुत्र इस पर नहीं बैठने पायेगें[1] ?'

विरुद्धक को युवराज का पद-प्रदान किया जाता है । षष्ठ दृश्य में सूच्य रूप मिलता है । देवदत्त गौतम बुद्ध की हत्या करने के लिए आता है, किंतु समीप आने पर सरोवर में जल पीने के लिए उतरता है और वहीं खो जाता है । पता नहीं उसे मगर खा गया या लज्जा और आत्मग्लानिवश उसने जल-समाधि ले ली ।

दरिद्र ब्राह्मण की पुत्री मागधी आरभ में उदयन की रानी बनी, फिर काशी की वेश्या और अत में उसने आम्रपाली का रूप ग्रहण किया । उसे आरभ में अपने रूप का गर्व था, किन्तु कालान्तर में उसका रूपाभिमान शात हो गया । तभी गौतम बुद्ध का आगमन होता है । आरभ में उसने गौतम बुद्ध से प्रेम करने का प्रयास किया, किंतु सफल नहीं हो पायी । गौतम बुद्ध के पदार्पण पर अपनी पराजय के पश्चात् भी इस विषय पर उसे अत्यधिक गर्व है कि अन्ततोगत्वा गौतम बुद्ध उसके पास आये । अतीत का स्मरण कर उसे स्वय पर सहानुभूति होती है, किंतु बुद्ध उसे विस्मृति का उपदेश देते हैं । गौतम बुद्ध उसके आगे भिक्षापात्र बढा देते हैं । आम्रपाली उनके सामने आम की टोकरी रखती है और आम्रकानन गौतमबुद्ध को समर्पित करती हुई वह सघ, धर्म और बुद्ध की शरण में चली जाती है । छलना, पद्मावती से अपने कुकर्मों पर लज्जा प्रकट करती है । साथ ही वह वासवी के चरणों पर गिर जाती है । नवम दृश्य महाराज बिम्बसार के कुटीर में प्रारभ होता है । वे लेटे-लेटे उठते हैं और अपनी स्थिति पर विचार करते हैं । उन्हें ग्लानि होती है कि अधिकार लोलुपता के कारण ही वे काशी का राज्य ग्रहण करना चाहते थे तभी तो इतना उत्पात मचा । इसी बीच महाराज बिम्बसार को कुणीक के आगमन की सूचना मिलती है । अजात प्रवेश कर पिता के चरणों पर गिर पडता है तथा क्षमा-याचना करता है । यही काम छलना भी करती है । बिम्बसार दोनों को क्षमा करते हैं । पद्मावती पौत्र उत्पन्न होने की सूचना देती है और पुरस्कार में नवीन राजकुमार को एक स्नेह चुबन का आशीर्वाद देने की माग करती है । बिम्बसार इतना सुखभार एक साथ वहन नहीं कर पाते । वे उठना ही चाहते है कि गिर पडते हैं । तभी गौतम का आगमन होता है । वे अभय का हाथ उठाते हैं । इसके साथ ही यवनिका-पतन होता है ।

---

1 अजातशत्रु, पृष्ठ 157-158 ।

यह कार्य के फलागम की स्थिति- है । इसम कार्य की अवस्थाओं का विकास भारतीय पद्धति पर न कर पाश्चात्य पद्धति पर करना अधिक उपयुक्त होगा-'यदि सपूर्ण बाह्य और आन्तरिक विरोधों का शमन ही मानव-जीवन के विरोध ों का उद्देश्य मान ल, तब तो यह आवश्यक हो जायेगा कि विरोध का आरभ, विस्तार इत्यादि वर्णित करके शान्ति में ही उसका पर्यवसान दिखायें'[1] ।

स्कन्दगुप्त

तथ्य, कथ्य, शिल्प, शैली-सभी दृष्टियों से स्कन्दगुप्त प्रसाद के नाटकों में परमोत्कृष्ट रचना है । इसका प्रकाशन अजातशत्रु के छ वर्ष बाद हुआ । इसमें भारतीय जीवन के उस अध्याय को मुखरित किया गया है, जिसमें अन्तर्विरोध और स्वार्थपरता के ताण्डवनृत्य और आर्य-साम्राज्य के पतन-काल का चित्र प्रस्तुत है । उस समय गुप्त-साम्राज्य की राजधानी मगध विलासिता का केन्द्र बन गया था । पश्चिमी भारत पर हूणों के आक्रमण होने लगे थे, चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित गुप्त-साम्राज्य विनाश के कगार पर झाकता दीख रहा था । स्कन्दगुप्त जब प्रथम अक में सामने आता है उस समय वह गुप्त-वश के उत्तराधिकार-नियम की अव्यवस्था से उदासीन है । आक्रमणकारियों से युद्ध करने के लिए वह उज्जैनी गया हुआ है यानी राजनीतिक उथल-पुथल, पारस्परिक विद्रोह, द्वेष, कलह के वातावरण में स्कन्दगुप्त का पदार्पण ठीक वैसा ही प्रतीत होता है, जैसे बादलों के बीच घिरा हुआ सूर्य । वह अपने अधिकार-सुख की तुच्छता सूचित करता है तथा अपनी प्रतिभा के बल पर देश को उन्नति के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करता है । वह भारत की आर्य-परम्परा, सास्कृतिक चेतना का प्रबल पोषक है । उसका आत्म-विश्वास, कर्त्तव्य-निष्ठा, वीर-धर्म इस बात से सन्तुष्ट होता है कि 'मात्र सधि-नियम पालन करना ही नहीं, अपितु शरणागत-रक्षा करना भी क्षत्रिय-धर्म है। उसके अन्य पात्र भी यह धारणा रखते हैं कि अधिकार उन्हें मिलता है, जिनके हाथों में बल होता है । रोने-गिडगिडाने से भीख मिल सकती है, अधिकार नहीं। वैसे यह भी सच है कि प्रायः अधिकार पाकर व्यक्ति बुद्धि-विवेक-विहीन-सा हो जाता है । जिस समय स्कन्दगुप्त प्राणपन से देश का इतिहास और भविष्य सुधारने में लगा हुआ है, सस्कृति बचाने में जूझा हुआ है, उस समय उसकी विमाता अनन्तदेवी उसके विरुद्ध षडयन्त्र कर रही है, भटार्क आदि की सहायता से ।

पुष्यमित्रों और शकों का युद्ध समाप्त हो चुका है । स्कन्दगुप्त राज्याधिकार नहीं चाहता, वह पुरगुप्त के लिए त्याग करना चाहता है, किन्तु पुरगुप्त की माता स्कदगुप्त की मा को मारकर अपना मार्ग निष्कटक करना चाहती है । स्कन्दगुप्त समय पर आकर उसे बचा लेता है । त्याग की प्रतिमूर्त्ति स्कन्दगुप्त बन्धु वर्मा के बहुत आग्रह पर भी मालवा का राज्य स्वीकारना नहीं चाहता, पर स्कन्दगुप्त की

---

1 डॉ० जगन्नाथ राय शर्मा-प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ, 53-54 ।

प्रतिभा से प्रभावित, उत्साहित लोगों के आग्रह पर उसे सिहासनारूढ होना पडता है ।

कुमार गुप्त के आचार, विचार, व्यवहार से अप्रसन्न उसका भाई गोविन्द गुप्त वर्षों बाद प्रकट होता है । लाख कहने के बावजूद वह साम्राज्य का बलाधिकृत होना नहीं स्वीकारता । भटार्क अनन्त देवी के साथ मिलकर षडयन्त्र के अभियोग में बन्दी बनाया जाता है, किन्तु क्षमाशील स्कन्दगुप्त उसे प्राणदान दे देता है । कई स्थलों पर स्कन्दगुप्त ने अपनी देश-भक्ति और अपने सस्कृति-प्रेम का अद्भुत परिचय दिया है । नाटककार ने विशेष रूप से प्रतिकूल परिस्थितियों में स्कन्दगुप्त का चारित्रिक उत्कर्ष दिखाकर उसे गरिमा-मण्डित, प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व दिखाने की सफल कोशिश की है । आर्य जाति को आदर्श-पथ पर अग्रसर करना स्कन्दगुप्त का उद्देश्य है ।

काव्य की मधुरिमा और भावों की सुकुमारता से ओत-प्रोत द्वितीय अक मुख्यत· नाटक के अनेक पात्रों की मानसिक स्थिति के दिग्दर्शन का प्रयत्न है । द्वितीय अक के प्रथम दृश्य में अनुभवी युवती देवसेना के दर्शन होते हैं, उसके चारित्रिक गुणों के परिचय मिलते हैं । वह युवती तो है, किन्तु उसके कार्यों में यौवन की खुमारी नहीं, ईश्वरीय निश्छलता है, शैशव का भोलापन है । इस अक का स्कन्दगुप्त प्रथम अक के स्कन्दगुप्त से सर्वथा भिन्न है । प्रथम अक में वह वीर सैनिक शरणागत रक्षक था, किन्तु इस अक में जीव, जगत्, साम्राज्य, वैभव से उदासीन युवक । प्रथम अक में पर्णदत्त उसका उत्साह-वर्द्धन करता है, इस अक में चक्रपालित । विजया यौवन में सन्यास की भूमिका समेटे एक ऐसी पात्री है, जो पाप, घृणा, क्रूर, अनाचार, पाखण्ड से पृथक् रहकर जीना चाहती है । यद्यपि देवसेना, पाप, दु:ख, निराशा, अनाचार की सार्थकता सिद्ध करती है, जिनसे पुण्य, सुख, आशा, सदाचार के महत्व बढते हैं । स्कन्दगुप्त के त्याग का दर्शन बडा प्रभावी लगता है-ससार में जो सबसे महान् है, वह क्या है ? त्याग । त्याग का ही दूसरा नाम महत्व है । प्राणों का मोह-त्याग करना वीरता का रहस्य है[1] ।' लाभ, व्यक्तिगत स्वार्थ ऐसे व्यक्तियों को चाहे जितना प्रभावित कर दें, शर्वनाग जैसा व्यक्ति इस सिद्धान्त को नहीं मानता । उसके मुख से स्कन्दगुप्त की आत्मा का स्वर निकलता है-'लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता, तो पशु बना रहना ही उसके लिये पर्याप्त था[2] । किन्तु, उसका आदर्श भी दुर्बलता एवम् अस्थिरता के भवर में फस कर विचलित हो जाता है । इस अक में जयमाला भारतीय सस्कृति के एक मधुरिम स्वर को मुखरित करती है-'अपने स्वार्थ कार्य से ऊपर है ।' विश्व हित-समष्टि में भी व्यष्टि रहता है । व्यक्तियों से ही जाति बनती है । विश्वप्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है[3] ।' नाटक के तृतीय अंक में

1 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 51 ।
2 वही, पृष्ठ 59 ।
3 वही, पृष्ठ 71 ।

देवसेना, विजया, भटार्क के चरित्र का विश्लेषण हुआ है । स्कन्दगुप्त से क्षमा प्राप्त कर भी भटार्क आदर्श-पथ पर नहीं लौटता । वह षडयन्त्र का कर्म छाडता नहीं । देवसेना और विजया क्रमश· सस्कृति और असस्कृति के पर्याय बनकर आयीं है । विजया आक्रोश, ईर्ष्या की अग्नि में जलती-जलाती दीखती है, तो दवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लने का सकल्प निभाती है । कार्य-भार के आधिक्य स स्कन्दगुप्त की कोमल प्रवृत्तिया दब-सी गयी हैं । उसके जीवन में विजया दु·खपूर्ण रात्रि की समाप्ति की सूचना देने वाले, सुबह के तारे के समान थी, किन्तु अपन सस्कार, विचार और कर्मों के कारण उल्कापिण्ड क समान हो जाती है, जो आपत्ति का सूचक समझा जाता है । देवसेना स्कन्दगुप्त से अनायास प्रेम करने लगी है । वह 'महा वीभत्स श्मशान को भी ससार का मूक शिक्षक तथा जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का सुन्दर स्थल मानती है ।[1] स्कन्दगुप्त के लिए उसका 'प्रियतम' सबोधन हृदय का पवित्र प्रेम पकट करता है, तो 'देवता' शब्द का सम्बोधन वासना-सहित पवित्र, स्वर्गिक प्रेम का द्योतक है ।

अपनी अलग मानसिकता से पीडित भटार्क के विचार भी कम छिछले और हास्यास्पद नहीं दीखते । परिस्थिति परिवेश के कारण उसका सस्कार इस बात को स्वीकारता है-'जो विलासी न होगा, वह भी क्या वीर हो सकता है ? जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी ? जाग्रत राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है । वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं[2] ।'

भारतीय सस्कृति में पला भटार्क का अधीनस्थ सैनिक अपनी सस्कृति के अनुरूप इसे स्वीकारते को कतई तैयार नहीं । वह यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता को नागरिक वेश्या की सज्ञा देता है, जिसके चरणों में लोटकर भटार्क ऐसा आर्य अपनी सस्कृति रूपी कुलवधू का तिरस्कार करता है । सस्कृति से विमुख होने के पूर्व वह आत्म-हत्या पसन्द करता है । जयमाला और देवसेना के सवाद से प्रेम के कुछ रहस्य खुलते दीखते हैं । देवसेना प्रेम की पीडा समझती है, किन्तु अपनी ओर से प्रेम प्रस्ताव कर वह स्कन्दगुप्त का अपमान करना नहीं चाहती, क्योंकि तत्कालीन परिस्थिति में देश को स्कन्दगुप्त ऐसे कर्मवीर की आवश्यकता है, प्रेमवीर की नहीं । मिलन को सुषुप्ति और विरह को प्रेम की शाश्वत गति मानकर वह प्रेम-ज्वाला की आच में जलती रहती हे । वह मानती है कि प्रेम-भावना जीवन-पथ पर बहने वाली एक आवश्यक नदी है जिसे प्रेम पथिक को पार करना होता है । यह अपनी सस्कृति की पुकार है, कि प्रेम में पहल स्त्रिया नहीं करती । पुरूष करते हैं । यह मर्यादित प्रेम का आदर्श है ।

---

1. स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 89 ।
2 वही, पृष्ठ 94 ।

यहा एक आदर्श की झाकी प्रस्तुत है, जब महाबलाधिकृत बन्धु वर्मा आर उनके वीर मालव सैनिक का बलिदान भारतीय देश भक्त युवकों के नेत्र सजल कर देता है । परिस्थितिया बहुत करवट लेती हैं, किन्तु भटार्क अपन कुसस्कारों से मुक्त नहीं होता । उसके विश्वासघात के नये-नये रूप सामने आते हैं। हूण-सेना का पक्षधर बनकर वह कुभा का तटबन्ध तोड देता है-समस्त मगध-सेना सहित स्कन्दगुप्त को डुबोकर मार देने क लिए । इससे और जघन्य अपराध, देशद्रोह क्या हो सकता है ?

चौथे अक के प्रारम्भ में विजया और अनन्तदेवी के आन्तरिक भाव स्पष्ट हाते हैं । अपने पति (भटार्क) के देशद्रोह से क्षुब्ध होकर विजया शर्वनाग की देश-भक्ति सम्बन्धी विचारों की ओर आकृष्ट होती है । स्त्री पात्रों में कमला पर राष्ट्रीयता और सस्कृति का गाढा रग चढा हुआ है । उसके ये उद्‌गार-'परन्तु मुझे तुझको पुत्र कहने में सकोच होता है, लज्जा से गडी जा रही हूँ । जिस जननी की सतान-जिसका अभागा पुत्र ऐसा देशद्रोही हो, उसको क्या, मुह दिखाना चाहिये ? आह भटार्क[1] ।' आर्यावर्त्त के रत्न, अपने पुत्र स्कन्दगुप्त की मृत्यु का समाचार सुनकर देवकी प्राण त्याग देती है । वस्तुत, स्कन्दगुप्त अभी जीवित है, किन्तु उसका पता किसी को नहीं है । इस अक में मातृगुप्त के काव्यमय विचार बडे सरस और सजीव हैं । 'वियोगी होगा पहला कवि' के सिद्धान्त पर मातृगुप्त की प्रेमिका मालिनी के वियोग ने उसे कवि बना दिया है । देश-महिमा गाते-गाते वे उसी में तन्मय हो जाते हैं । भारत की सम्पूर्ण सस्कृति, गौरव का बखान करते वे अघाते नहीं-'भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है । अनादिकाल से ज्ञान मानवता की ज्योति विकीर्ण कर रहा है[2] ।' धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण भी बडा तटस्थ होकर किया गया है । धातुसेन के ये विचार-'उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवादपूर्ण है । जिस धर्म के आचरण के लिए पुष्कल स्वर्ण चाहिए वह धर्म जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं[3]-बड़े उच्च, आदर्श और भारतीय सस्कृति पोषित हैं । चन्द्रगुप्त की तरह ही इसमें भी ब्राह्मणत्व की महानता इसलिए बताई गई है कि वे त्याग और क्षमा की मूर्त्ति होते है, जिसके बल पर बडे-बडे सम्राट् उनके सामने नतमस्तक होते हैं । छठे दृश्य में कवि-नाटककार ने देश की परिस्थिति के अनुरूप कवियों को जागृति के गीत गाने को ललकारा है ।

स्कन्दगुप्त के लाख प्रयत्नों के बाद भी देश का उत्तरी भाग हूणों के अधिकार में आ गया, अत्याचारों का ताता बन गया । स्कन्दगुप्त का हताश, उदास, निस्तेज, हतप्रभ होना मर्मान्तक लगता है । उसकी स्थिति निर्वाण, समाधि और

---

1 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 113 ।

2 वही, पृष्ठ 119 ।

3 वही, पृष्ठ 122-123 ।

विस्मृति की हो गयी है । दार्शनिक प्रकृति का यह युवक ससार को भूलकर उस निर्जन में जाना चाहता है, 'जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर क कानों में गहरी निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे ।' रामा स्कन्दगुप्त के बुझते हृदय में अमृतधार की वर्षा कर उसके सोये साहस और शौर्य को जगाती है । रामा भारतीय नारियों के उस वर्ग की प्रतिनिधि है, जिसमें झासी की रानी ऐसी वीरागना, सीता-सावित्री ऐसी सती-साध्वी रहती है ।

नाटक के अन्तिम अक के प्रथम दृश्य में मुद्गल ने समस्त घटनाओं पर प्रकाश डालकर विजया के चरित्र पर आक्षेप किया है, क्योंकि वह स्वार्थ और प्रतिहिसा के कारण देवसेना को नीचा दिखाने क लिए भटार्क और अनन्त देवी का साथ देती है । भटार्क अपने नीच कर्मों पर पश्चाताप करता है । अपनी मा के सामने सन्मार्ग पर चलने की शपथ लेता है । दृश्य दो में प्रसाद जी ने पुन राष्ट्रीय चेतना का उद्घोष किया है । देवसेना का पवित्र, निर्मम, आदर्श मूलक चरित्र के कारण स्कन्दगुप्त उसे एकान्त वास की दी गई सलाह वापस लेता है और स्वय मा की समाधि के सामने कुमार जीवन व्यतीत करने की शपथ लेता है । स्कन्दगुप्त मानवीय अच्छाइयों-बुराइयों, दुर्बलताओं-सबलताओं के कारण बडा स्वाभाविक, प्रभावशील और आकर्षक दीखता है । भटार्क की क्षमा-याचना और उसका सकल्प न कोई सामाजिक महत्व रखता है, न राजनैतिक । विजया की आत्म-हत्या के पश्चात् भटार्क भी आत्महत्या का प्रयास करता है, किन्तु स्कन्दगुप्त रोक लेता है ।

तृतीय दृश्य में विलासी नागरिकों के उद्दाम विलास का चित्रण हुआ है । चौथे दृश्य में हूणों के शासन से बौद्धों में फैले असतोष, पुरगुप्त की विलासिता और हूणों के विरुद्ध नागरिक जागरण के सकेत मिलते हैं ।

पाचवें दृश्य में अन्तिम और निर्णायक युद्ध की झाकी मिलती है । साथ ही, वीर पर्णगुप्त की मृत्यु, स्कन्दगुप्त की विजय, उसकी कैकेयी रूपी विमाता अनन्त देवी की क्षमा याचना, स्कन्दगुप्त की विजय, उसकी कैकेयी रूपी पुरगुप्त के लिए साम्राज्य-त्याग के दर्शन होते हैं । नाटक के छठे और अन्तिम दृश्य में देवसेना-स्कन्दगुप्त मिलन बडा ही रोमाचक और हृदय-स्पर्शी है । सासारिक सघर्ष से थका स्कन्दगुप्त देवसेना की मधुर मुस्कान और प्रेम की स्नेहिल छाया में विश्राम कर कष्टों को भूल जाना चाहता है, किन्तु उसका कुमार-जीवन बिताने का अपना ही सकल्प उसका आदर्श निर्धारित करता है । भारतीय सस्कृति मानती है-'कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है'[1] । अपने इस जीवन के 'देवता' और उस जीवन के 'प्राप्य' के लिए देवसेना के इन शब्दों के साथ नाटककार ने बडा ही सुन्दर सास्कृतिक परिवेश उपस्थित किया है, जिसमें भारतीय स्त्रिया स्नेह-सरिता में

स्नात भी करती है और समय पर आदर्श जीवन, उदात्त विचार हेतु अग्रसर होने की प्रेरणा का स्रोत भी बनती हैं ।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त भारतीय सस्कृति के पोषक, राष्ट्रीय चेतना के उद्घोषक, राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित कवि-नाटककार श्री जयशकर प्रसाद की अद्भुत कृति है। इसमें उनकी ऐतिहासिक रूचि और अन्वेषणात्मक प्रतिमा का परिचय मिलता है। इसमें चन्द्रगुप्त के बाल्य, यौवन और शासन-काल के मधुर, साहस पूर्ण और गरिमा-मण्डित इतिहास की झलक मिलती है। तक्षशिला के गुरुकुल में चाणक्य और सिहराज के वार्त्तालाप से नाटक का आरम्भ होता है, आम्भीक जैसे कुछ राष्ट्र-विरोधी के राजनीतिक कुचक्रों की सूचना मिलती है। मालव-कुमार सिहरण राष्ट्र के प्रति समर्पित मात्र एक व्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व के रूप में उभरता है। वह एक विनम्र, किन्तु निर्भीक छात्र है, सस्कृति के मूलमत्र से वह परिचित हैं इसी कारण लोभी, स्वार्थी, कुचक्री, आम्भीक के भाव-विचार उसे पसन्द नहीं आते, भावनाओं को झकझोरते ही हैं। चाणक्य अपनें ब्राह्मणत्व के गौरवपूर्ण अतीत के बलबूते पर विशुद्ध राष्ट्रीय मानवतावादी चरित्र के रूप में उभरा है। वह कहता है। --- 'ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता हे, न किसी के अन्न से पलता है। स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है[1]।' सिहरण आम्भीक के कटु शब्द सहन नहीं कर पाता, क्योंकि वह जानता है-विद्यार्थी की सस्कृति ही अलग होती है। वह गुरुकुल में मात्र आचार्य की आज्ञा का कायल है, अन्य आज्ञायें अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं। उसके ओजपूर्ण सम्भाषण में भारत की आत्मा, सस्कृति, चेतना समाहित-सी दीखती है। अलका उसके इन्हीं गुणों के कारण उसपर मुग्ध होती है। बडे गाढे मौके पर आकर चन्द्रगुप्त सिहरण पर आम्भीक की उठी तलवार गिरा देता है, क्योंकि अकारण रक्तपात नीति-विरुद्ध है। चाणक्य राष्ट्रीय एकता का उद्बोधन करते हुए कहते है--'मालव और मागध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह तुम्हें मिलेगा[2]।'

प्रथम अक में ही मगध के विलासी सम्राट् नन्द के दर्शन होते हैं, जो अपनी ऑखों में सुकुमार सकेत लेकर यौवन के विभ्रम और संकोच की अर्गला खोलने के अतिरिक्त कुछ जानता ही नहीं। वह ब्रह्मास्त्र से अधिक सुन्दरियों के कुटिल कटाक्ष से डरता है। नाटककार ने सस्कृति के अन्धतम पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए उसे नाट्य-पटल पर लाया है। उसकी अलग ही असास्कृतिक संस्कृति है। उसे न तो राज्य को बेचने में सकोच है, न प्रतिभा के अपमान करने में । बौद्ध-विहार की आड़ में उसके राज्य में बसन्तोत्सव और साज-श्रृगार के व्यापार

---

1 चन्द्रगुप्त - प्रथम अक, पृष्ठ 56 ।

2 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 57 ।

दीखते हे चाणक्य क मार्ग-निर्देशन को वह अपने अहम की हार मानता हे। सस्कृति और ब्राह्मण द्वेषी नन्द चाणक्य की शिखा पकडवाकर प्रतिहारी स बाहर करवा देता है। उसकं व्यक्तित्व में सयम, सद्बुद्धि का नामोंनिशान नहीं हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक का ताना-बाना विभिन्न परस्पर विरोधी तन्वा से बना हुआ हैं। आस्तीन के सॉप की भूमिका में गाधार के राजकुमार ओर नरेश कम आकर्षण-केन्द्र, नही हैं, क्योंकि वे विशुद्ध निजी स्वार्थ से प्ररित हो राष्ट्र को यवन क हाथों नीलाम करने के उद्देश्य से उत्तरापथ की अर्गला खोलने मं भी सकोच एव ग्लानि का अनुभव नहीं करते। अलका उस परिवार रूपी कीचड मं उगी कमल-सदृश है, जो कहीं फूलों की माला बनती हैं, कहीं लोह-शृखला। वह ऐस व्यक्तित्व-चाणक्य-के प्रभाव में है, जो त्याग, क्षमा, तप, विद्या, तेज, सम्मान को एक साथ समेटे है। जिसका दर्शन है भाषा ठीक करने के पहले मनुर्ष्यां को ठीक करना, यानी उसका सुसस्कार, विचार, सुमार्ग प्रशस्त करना। भाषा को व्यक्ति बनाता है, व्यक्ति को भाषा नहीं। उसका 'श्वयुवमधोना' सिद्धान्त जितना दार्शनिक है, उतना ही तात्त्विक, सस्कृति पोषित और सामयिक। प्रसाद ने अलका के रूप में एक ऐसी नारी को प्रतिष्ठित किया है, जिसकी पूजा युगा से होती रही है। विश्वास और श्रद्धा की देवी जीवन में पीयूष स्रोत बहाती राष्ट्र की चेतना की प्रतीक बन जाती है। अपने पिता गाधार नरेश को सुमार्ग पर लान में उसका ही श्रेय है।

प्रथम अक के अन्त में सिधु तट पर दार्शनिक दाण्ड्यायन के दर्शन होते हैं। सिधु के समान विस्तृत, पर्वत के समान उच्च इस अद्भुत दार्शनिक के समान चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है। यवन अलक्जेन्डर का अहम्, मिथ्याभिमान यहॉ आकर चूर-चूर हो जाता है। वह अपने को बहुत बौना महसूस करन लगता है। यह मानने को बाध्य हो जाता है कि 'भूमा का सुख्र और उसकी महत्ता का जिसको आभास-मात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते[1] ।' विश्व-विजय का आशीर्वाद प्राप्त करने की उसकी इच्छा कण्ठ में घुटक कर रह जाती है, जब एक साधारण बालक की ओर इगित कर उसे आर्यावर्त्त-सम्राट् होने का आशीर्वचन देकर इस सत्यता की निर्भीक भविष्य वाणी करते हैं। नाटक का द्वितीय अक सिन्धुतट पर स्थित ग्रीक-शिविर के पास बैठी कार्नेलिया के गायन से प्रारम्भ होता है। इस गीत में भारतीय ऋषियों, राष्ट्र-वीरां की आत्मा उमडती-सी दिखाई है प्रसाद जी ने । जैसा भूमिका से स्पष्ट हे इस नाटक की रचना का प्रधान उद्देश्य था--राष्ट्रीय चेतना को परिपुष्ट करना, राष्ट्रीयता की भावना व्यक्तियों के हृदयों में जगाना। स्वदेशी से नहीं, बल्कि विदेशी कार्नेलिया से ऐसे शब्द कहलवाये गय हैं, जिनसे भारत की सस्कृति धर्म, आदर्श

---

1 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 95 ।

बाहर झाकते दिखाई देते हैं। अपना अमृतमय देश सर्वथा अद्भुत और अद्वितीय है। इस सामान्य सिद्धान्त के परे कि जब स्वदेश-भारत की झाकी सामने आ जाये, तो दर्शक को अपनी ही लघुता का सहज भान होता है। तभी अह भावना अपर सत्ता के सामने सन्मन से नत होने को विवश होती है। यूनान भी दार्शनिकों का देश रहा है, जिसमें अरस्तू और प्लटो जैसे विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक हुए हैं, किन्तु भारत की भूमि को देखकर कार्नेलिया को ऐसा ही भान हुआ है। जैसे देश और काल की सीमा को लाघकर वह अलौकिक जगत् के धरातल पर सहज भाव से प्रतिष्ठित हो गयी है। उसे तो ऐसा अनुभव होने लगा है कि भटकती आत्मा को सहज सहारा सुलभ हो गया है- 'अरुण यह मधुमय देश हमारा। जहाँ पहुच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा[1]।' यह हमारे देश की सस्कृति है कि इसने बराबर अनजान क्षितिज के उस पार से आने वालों को शरण दी है, अज्ञानता दूर की है और विश्वासघात होने पर धक्के देकर बाहर भी निकाल दिया है। एक ओर चन्द्रगुप्त के शालीन, शौर्यपूर्ण, तरग-सकुल व्यक्तित्व पर कार्नेलिया आकृष्ट है और दूसरी ओर नगे दार्शनिक ब्राह्मण की भविष्य वाणी से सिकन्दर आतकित, क्योंकि उसका मोह-भग दार्शनिक दाण्ड्यायन ने कर दिया था। राष्ट्रीयता के पोषक, देश-मोह से अभिभूत प्रसाद ने सिकन्दर के मुख से-'यहाँ दार्शनिक की परीक्षा तो तुम कर चुके। दाण्डयायन को देखा न । थोडा ठहरो, यहाँ के वीरों का भी परिचय मिल जायेगा। यह अद्भुत देश है[2]-यह कहलवाकर अपनी सस्कृति की महानता सिद्ध की है। भारतीय जितने वीर हैं, उतने ही स्वाभिमानी, देवत्व के गुणों से युक्त और कृतज्ञता के भाव से ओत-प्रोत। द्वितीय अक में राजनीति, कूटनीति के दर्शन भी होते हैं। काली घटाओं से घिरे आकाश, चमकती बिजली, स्तब्ध पवन जिस तरह वर्षा की सम्भावनाओं की भविष्यवाणी करते हैं, उसी तरह कतिपय स्वार्थी, लोलुप, अकर्मण्य व्यक्ति जब देश-द्रोह पर तुले हों, तब धर्मप्राण, कर्मशील कर्त्तव्यनिष्ठ वीरों का उत्तरदायित्व बढ जाता है। प्रसाद ने एक अलग चाणक्य-नीति की योजना की है। जैसे पौधे अधकार में बढते हैं, चाणक्य की नीति-लता भी विपत्ति-तम में लहलही होती है। वह सिद्धि देखता है, साधन नहीं। युद्ध-भूमि में पुराने बाज और क्रुद्ध सिह की तरह, पर्वत के समान अचल होकर पर्वतेश्वर ने बतला दिया कि भारतीय लडना जानते हैं। हमारी सस्कृति कहती है-'यदि शान्ति में हम कुसुमादपि मसृण हैं, तो युद्ध-भूमि में वज्रादपि कठोर भी। धर्मयुद्ध में प्राण भिक्षा मागने वाले भिखारी नहीं[3]। अन्ततः सिकन्दर को कहना पडता है 'मैंने एक अलौकिक वीरता का स्वर्गीय दृश्य देखा है। होमर की कविता में पढी हुई, जिस कल्पना से मेरा हृदय भरा है, उसे यहाँ प्रत्यक्ष देखा । भारतीय

---

1 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 100 ।
2 वही, पृष्ठ 103 ।
3 वही, पृष्ठ 114 ।

वीर पर्वतेश्वर। अब मैं तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करूँ[1]।' सिकन्दर के मैत्री प्रस्ताव पर पर्वतेश्वर का कहना कि 'वीरता भी एक सुन्दर कला है, उस पर मुग्ध होना आश्चर्य की बात नहीं[2]। ऊपर के कथनों में भारतीय सस्कृति का उज्ज्वल अध्याय मुखरित होता है। द्वितीय अक में कहीं-कहीं चाणक्य से चन्द्रगुप्त को बौना दिखाने में भी प्रसाद जी का महत् उद्देश्य है। भारतीय सस्कृति में बहुत उत्कर्ष पा लेने पर भी शिष्य गुरु से उन्नीस ही रहता है। क्योंकि-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वर,

गुरुसाक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गुरवेनम· । सर्व स्वीकृत सास्कृतिक आदर्श है।

द्वितीय अक के अन्त में रेखाकित महत्त्व की घटनाए, सामने आती हैं। मालव-दुर्ग पर आक्रमण करते समय सिहरण के हाथों सिकन्दर घायल हो जाता है[3]।और, व्यूह रचना में सेल्युकस फस जाता है। चन्द्रगुप्त दोनों को मुक्त कर अपनी वीरोचित उदारतापूर्ण-भारतीय सस्कृति-का परिचय देता है, किन्तु प्रसाद ने अपने नाटक में यह शुभकार्य करने का मौका सिहरण को दिया है। सिकन्दर घायल होकर गिर जाता है।उसकी ऑखें दया की भीख मागती हैं। सिहरण ने यवन सैनिकों को कहा 'तुम्हारे सम्राट की अवस्था शोचनीय है, ले जाओ इनकी शुश्रूषा करो .. .सिकन्दर को शीघ्र उठा ले जाओ, जबतक और मालवों को यह न विदित हो जाय कि यही वह सिकन्दर है[4]।.... .. .क्रुद्ध मालव सैनिक रक्त का बदला चुकाने को उद्यत हैं, किन्तु सिहरण प्रतिशोध की अग्नि के बदले, पर्वतेश्वर के प्रति की गयी उदारता का ऋण चुका रहा था। भारतीय सस्कृति-इतिहास इस बात के साक्षी हैं कि हम कृतघ्न नहीं होते, क्षमाशीलता, दया, स्नेह, करुणा, सद्भाव हमारी चारित्रिक विशेषताए हैं।

नाटक का तृतीय अक विपाशातट के शिविर से आरम्भ होता है। मानव-शरीर में दानव की आत्मा समेटे क्रूर, मूर्ख, विलासी, पशु की प्रतिमूर्ति मगध सम्राट् नन्द के अमात्य राक्षस के स्वगत से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह भी नन्द की लक्ष्मण-रेखाओं से निकलने के ऊहापोह में व्यग्र है। भले ही मगध पर यवन-सेना का आधिपत्य हो जाये, लोग कटें-मरें, किन्तु नन्द का मोह-भग और नाश तो हो। चाणक्य की उदार नीति राक्षस का हृदय-परिवर्तन करने लगी है। चाणक्य की आज्ञा है कि 'जब-तक यवनों का उपद्रव है, तब-तक सबकी रक्षा होनी चाहिए, भले ही वह राक्षस क्यों न हो[5] ।' यह भारतीय सस्कृति का आदर्श है कि हम महत् आदर्श के लिए छोटे स्वार्थ और व्यक्तिगत विरोध भुला देते हे राक्षस के ये कथन -- 'मैं चाणक्य का कृतज्ञ हू। . .. चाणक्य विलक्षण बुद्धि

---

1 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 115 ।

2 वही, पृष्ठ 115 ।

3. हिस्ट्री आफ एनसिएट इडिया, पृ० 136-139 ।

4 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 137 ।

5 वही, पृष्ठ 140 ।

का ब्राह्मण है। उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति क साथ दिन-रात जेस खिलवाड किया करती है[1]।' उसकी पराजय का बाध कराती ह। साथ ही मानसिक समर्पण का सकल्प भी बताती हे। पर्वतेश्वर अपनी भूल का प्रायश्चित करने को तत्पर हे, किन्तु चाणक्य उसके वय और अनुभव का सम्मान करता है। इसी कारण अपन निर्णय पर स्वीकृति की मुहर लगवाने उसके पास जाता है पर्वतश्वर की यह उक्ति 'चन्द्रगुप्त आर्यावर्त्त का एकच्छत्र सम्राट् होन के उपयुक्त है[2]।' तत्कालीन करोडों भारतीयों की आत्मा का स्वर है, जो 'वृषल' का सही अर्थ और सदर्भ नही समझत थ। चाणक्य बुद्धि और नीति के आधार पर स्वय भी मूर्धाभिषिक्त हो सकता था, किन्तु ब्राह्मण न राज्य करना चाहता है, न जानता है। उसमें राजा बनाने ओर उसके नियमन की क्षमता होती है। सभ्यता, सस्कृति, धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान म अग्रणी भारत कार्नेलिया को जन्मभूमि के समान स्नेहिल लगने लगा है। वह मानती है कि यह स्वप्नों का देश त्याग और ज्ञान का पालना है, प्रेम की रगभूमि है। उसकी यह स्वीकारोक्ति--'अन्य देश मनुष्यों को जन्मभूमि है-यह भारत मानवता की जन्मभूमि है[3]।' विश्व-सस्कृति पर भारतीय सस्कृति की विजय अनायास सिद्ध कर देती है। आक्रमणकारी की पुत्री यह मानने लगी है कि सिकन्दर और चन्द्रगुप्त का युद्ध ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का युद्ध नहीं, बल्कि दो परस्पर विरोधी सस्कारों, सस्कृतियों, बुद्धियों की लडाई है। अरस्तू और चाणक्य के दर्शन की टकराहट है। सिकन्दर और चन्द्रगुप्त तो उसके युद्ध अस्त्र हैं। विश्व-विजय के सपनों में जीनेवाला सिकन्दर भारत का अभिनन्दन करता है। उसे यहाँ हरक्यूलिस, एचिलिस, डिमास्थनीज, प्लेटो और अरस्तू की आत्माओं क दर्शन होते हैं। अन्तत. वह स्वीकारता है --'मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हू। विस्मय-विमुग्ध हू[4]।' जिनमे युद्ध में तलवारें मिली थीं, उनसे मैत्री का हाथ मिलाने की इच्छा जगने को बाध्य करने वाली भारतीय सस्कृति में सदैव उत्तम गुणों की पूजा होती रही है। इसी अक में चाणक्य और शकटार के स्वगत के माध्यम से उनके हृदय की विभिन्न परतें उभरती हैं। परिस्थितियाँ ऐसे सदर्भ ला देती हैं कि मनुष्य पर विश्वास नहीं रह जाता। कभी वह हिस्र पशु के समान नोंच डालता है, कभी जाक के समान बिना कष्ट दिये रक्त चूस लेता है। सात-सात गोद के लालों को भूख से तडप कर मरते देखकर किसका हृदय प्रतिशोध और प्रतिहिसा मे भर नहीं उठगा।

राजा प्रजा का पिता पोषक और रक्षक अवश्य होता है, किन्तु जब उसका ही आधार और स्वरूप बिगड जाता है, तब अत्याचार की चिनगारी साम्राज्य के

---

1 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 140-148 ।
2. वही, पृष्ठ 143 ।
3 वही, पृष्ठ 145 ।
4 वही, पृष्ठ 149 ।

हरे-भरे कानन को जलाने में हिचक और विलम्ब नहीं करती। प्रेम न सही, भय भी शासन का तन्त्र होता है। राजा का अर्थ होता है -- समस्त पीडित, आघात-जर्जर, पददलित लोगों का सरक्षक। नन्द की हत्या यह सिद्ध करती है कि हमारी सस्कृति क्षमाशीलता, दया, करुणा का गुण रखती हुई भी घृणित पाशव-वृत्ति द्वारा किये गये अत्याचार, कदाचार पर दण्ड-विधान भी करती है। चाणक्य-नीति का यह दर्शन ग्राह्य और स्पृहणीय है कि मनुष्य स्वतत्र है, किन्तु स्वतत्रता उतनी ही हो कि वह दूसरों की स्वतत्रता में बाधा न डाले। यही राष्ट्रीय नियमों का मूल है।

चतुर्थ अक के प्रारम्भ में पर्वतेश्वर की हत्या होती है, अपने किये हुए कर्मों के दण्ड स्वरूप। कल्याणी भी आत्म-हत्या कर लेती है। चाणक्य चन्द्रगुप्त को निष्कन्टक होने की बधाई देता है। यह बधाई एक ओर जितनी सुखद है उतनी ही क्रूर भी, किन्तु यह भी सच है कि 'महत्वाकाक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है[1]।' पिता की अनुपस्थिति में सुवासिनी जीविका के लिए अभिनयपूर्ण जीवन बिताने को बाध्य होती रही है। राक्षस की ओर आकृष्ट भी हुई, किन्तु पिता का पता लग जाते ही एक आज्ञाकारिणी पुत्री के रूप में हर निर्णय का साक्षी उसे ही बनाना चाहती है। यहाँ भी भारतीय सस्कृति की झलक स्पष्ट है । यहाँ विवाह हो जाने तक पिता ही रक्षक निर्णायक होता है उसके जीवन-भाग्य का। परिणाम में भलाई को काम की कसौटी मानने वाला चाणक्य घटना-चक्र का इस तरह नियमन करता है कि मालविका चन्द्रगुप्त के जीवन को सुखमय बनाने के लिए आत्मोत्सर्ग कर देती है। चन्द्रगुप्त सत्ताधिकारी होकर भी स्वय को परतत्र अनुभव करता है। अपने मा-बाप के निर्वासन से आवेश में आता है, किन्तु नीति और सस्कृति की लक्ष्मण-रेखाओं से बाहर नहीं निकल पाता। यह जानते हुए कि उसे बहुत कुछ अधिकार प्राप्त नहीं है, पुनः पुनः आनन्द-समुद्र में शान्ति-द्वीप के अधिवासी ब्राह्मण का दामन नहीं छोडता। स्वर्गीय कुसुम मालविका को मच से हटाकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का मार्ग प्रशस्त किया, जिससे मुक्त होकर वह प्रणय-व्यापार अन्यत्र कर सके। चन्द्रगुप्त और यवन-बाला कार्नेलिया (जो आपादमस्तक आर्य-सस्कृति में पगी है) का परिचय उसी चाणक्य के मस्तिष्क की ही उपज है, जिसकी हंसी भी क्रोध से अधिक भयानक रही है। और, जिसने स्वतत्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति को बराबर महत्त्व दिया । चाणक्य सुवासिनी के विलब और असामयिक प्रणय-निवेदन को ठुकराकर अपने चारित्रिक उत्कर्ष का परिचय देता है। क्षणिक क्रोध में चन्द्रगुप्त से दूर जाकर भी वह गाढे समय (सिल्युक्स-चन्द्रगुप्त युद्ध) में व्यवस्था का नियमन, सचालन, निर्देशन सब करता है । उसका अलग हटना चन्द्रगुप्त में आत्म विश्वास और स्वावलम्बन जगाने

---

1 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 177 ।

के लिए था। अन्यथा चन्द्रगुप्त अश्व की पीठ को शिविर मानकर मरण स भी अधिक भयानक का वरण नहीं करता। सिल्यूकस के लाख समझाने पर भी उसने युद्ध में मुँह नहीं मोडा, क्योंकि भारतीय सस्कृति में क्षत्रियत्व झुकता नहीं। अन्तत वीरतापूर्वक लडता हुआ सुबह का भूला शाम को घर लोटकर आभीक वीर गति प्राप्त करता है। सेल्यूकस बुरी तरह परास्त होता है। मुट्ठी में आने पर भी भारतीय सास्कृतिक कृतज्ञतावश चन्द्रगुप्त उसे प्राण-दान दे देता है । अक के अत में सिल्यूकस और सिकन्दर की पुत्री कार्नेलिया से चन्द्रगुप्त का विवाह कराकर नाटककार ने भारतीय दर्शन और सस्कृति की उदारता की उस ऊचाई का परिचय दिया है, जहॉ सदैव अनजान क्षितिज के उस पार से आने वालों को सहारा-सम्मान मिलता रहा है । भारत की सम्राज्ञी के रूप में कार्नेलिया की प्रतिष्ठा विश्व-बन्धुत्व का प्रबल प्रमाण है । इतिहास में इस बात का प्रमाण मिलता है कि सधि को स्थायित्व प्रदान करने के लिए दोनों देशों में वैवाहिक सबध स्थापित हुआ था, किन्तु इतिहास में कहीं इसका प्रमाण नहीं मिलता कि पराजित सेल्युकस ने संधि स्वरूप चद्रगुप्त को कन्यादान किया था । नाटक इतिहास नहीं हो सकता। ऐतिहासिक सभाव्यता की सुरक्षा के लिए चद्रगुप्त और कार्नेलिया का वैवाहिक सबध कथानक के उत्कर्ष में नया मोड ला देता है । प्रसाद की कला की यही विशेषता है कि ऐतिहासिक सत्य में सभाव्य परिवर्तन से भी न तो सेल्यूकस की मर्यादा का हनन होता है और न चद्रगुप्त के अहकार की श्रीवृद्धि । तथ्य से यह साफ पता चलता है कि इतिहास के दो आयाम का नैसर्गिक मिलन पुरूष और प्रकृति के स्वाभाविक मिलन को देश के धरातल पर लाता है । यहाँ राष्ट्र प्रमुख हो गया है, व्यक्ति गौण । प्रसाद की कला का प्रतिफलन यही रहा है कि भारत सदा गर्वोन्नत रहा है। श्री, शक्ति, बुद्धि और प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी यूनान उन्नीस नहीं है । उसका स्थान वही है, जो वर की मा के सामने कन्या की जननी का होता है। पिता और गुरु दो किनारों के बीच टकराते चन्द्रगुप्त का धर्म-संकट चाणक्य ही दूर करता है, क्योंकि राजा न्याय कर सकता है, किन्तु ब्राह्मण को क्षमा-प्रदान का शाश्वत अधिकार है । लगता है, नाटक के हर अश में संस्कृति के उज्ज्वल आदर्श विराजमान हैं । चाणक्य द्वारा मन्त्रित्व का त्याग भारतीय सस्कृति के उस अध्याय को खोलता है, जहॉ कहा गया है--

न त्वहं कामये राज्य,
न मोक्ष, न पुनर्भवम् ।
कामये दुःख तप्ताना,
प्राणिना आर्त्तनाशनम् ।

प्रसाद के कथ्य का सही लक्ष्य है । यद्यपि यह बात इतिहास द्वारा प्रमाणित नहीं है । लगभग समस्त इतिहासकारों ने यह बताया है कि चन्द्रगुप्त के शासन-काल में समर्थ मत्री के रूप में चाणक्य ने सेवाए अर्पित की थीं, जीवन

का शेष भाग उसने मत्री के रूप में चद्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार की शासन-नीति को सवारने में अर्पित किया । प्राप्ति में अहकार है, त्याग और बलिदान में देवोपम उत्सर्ग, इसलिए त्यागी वद्य होता है, अहकारी वरण का पात्र नहीं। चद्रगुप्त नाटक के अतिम अश में चाणक्य का सन्यास उसे विश्व विश्रुत अर्थशास्त्र का प्रणेता कौटिल्य बना देता है । उसे सामान्य मत्री जैसा वेतनभोगी सेवक बनाने से बचा लेता है । प्रसाद की नाटकीयता की यही उदात्त भावना है और जड प्रकृति के चेतन रहस्य का काव्यात्मक उत्कर्ष ।

ध्रुवस्वामिनी

गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में चन्द्रगुप्त का चयन किया था । यह सत्य है कि अवस्था-क्रम में वह अपने अग्रज रामगुप्त का अनुज था, किन्तु पुरुषार्थ, प्रत्युत्पन्नमतित्व, धैर्य, शौर्य और रणकुशलता में वह सर्वथा अद्वितीय था --- अनुपमेय । इसीलिए रामगुप्त की अपेक्षा सम्राट् समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को शासनाधिकार सौंपने का उचित ही निर्णय लिया था, किन्तु कठिनाई यह थी कि स्वय चन्द्रगुप्त अपने साम्राज्य के प्रति अथवा सम्राट् बनने की लिप्सा के प्रति सर्वथा उदासीन दीखता है । लिप्सा अगर न भी हो, तो उत्सुकता और उत्कठा की स्थिति में साम्राज्य का सूत्र-सचालन सहज रूप से सभव है । ऐसी उत्कठा दिखाकर चन्द्रगुप्त गृह-कलह उपस्थित नहीं करना चाहता था, जिसके परिणाम स्वरूप शिखर स्वामी के साथ रामगुप्त बौनों ओर हिजडों का नाच देखने में अपने जीवन की सार्थकता मानता है । इस बात की पुष्टि मात्र इस बात से मिलती है कि प्रवेश कर प्रतिहारी यह सूचना देता है कि 'चिन्ताजनक समाचार निवेदन करने के लिए अमात्य के द्वारा वह प्रेषित दूत है' किन्तु इसके प्रत्युत्तर में रामगुप्त की तुच्छ बातें उसके सामर्थ्य का आभास देने के लिए पूर्ण पर्याप्त है --- 'चिन्ता करते-करते दैखता हूँ मुझे मर जाना पड़ेगा[1] ।'

प्रतिहारी-अपेक्षाकृत अधिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है, यह सुनकर भी कि कोई भी दुश्चिन्तापूर्ण समाचार सुनने के लिए इसके पास अवकाश नहीं है, वह निवेदित कर देता है कि 'शकों ने किसी पहाडी राह से उतर कर नीचे का गिरिपथ रोक लिया है, हमलोगों के शिविर का सबंध राजमहल से छूट गया है । शकों ने दोनों ही ओर से घेर लिया है[2] । रामगुप्त पर इसका कोई असर नहीं पडता। वह बेहयाई पूर्ण अनसुनी करता है --- 'दोनों ओर से घिरा रहने में शिविर और भी सुरक्षित है[3] ।' रामगुप्त भी एक युद्ध का शिकार है, किन्तु जिसकी आखों में वासना के लाल डोरे अधिक प्रखर हो गये हों, उन्हें देश के प्रति प्रेम नहीं,

---

1 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 15 ।
2 वही, पृष्ठ 16 ।
3. वही, पृष्ठ 16 ।

राज्य के प्रति आसक्ति ही सर्वोपलब्धि दिखाई पडती है। ऐसी भयकर सूचना पाकर भी उसे यह कहने में सकोच नहीं होता कि उसके हृदय में भी द्वन्द युद्ध चल रहा ह, वह राजाधिराज ही क्या, जिसके सामने भाग के सारे साधन ही सुलभ न हों, वह अपने को अभागा घोषित करता है, क्योंकि जगत् की अनुपम सुन्दरी उससे स्नेह नहीं करती । राजाधिराज के शासन में रहकर, प्रेम-प्रस्ताव पाकर भी यदि प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है तो उसमें गभीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा । उसे पाने के लिए रामगुप्त देश को हवन की वेदी पर चढा देता है । सच तो यह है कि वासना भी प्रमुख नहीं, प्रेम का नाम ही लेना शब्द का उपहास करना है । जब उसे यह पता चलता हे कि शकराज ने सधि की जो शर्त रखी है उसमें ध्रुवदेवी को उसके पास भेजने की बात है, रामगुप्त के शरीर पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती । प्रसादजी ने एक एसे चरित्र को सामने रखा है, जिसे वासना का क्षुद्र कीडा--कहना ही समीचीन होगा । वह नि·सकोच, सहज, इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकारता है । धर्म की पुकार है कि असहाय अबला की पुकार पर प्राणों की बाजी लगा देनी चाहिए । इतिहास इस बात का साक्षी तो है ही, आधुनिक युग में भी आये दिन साधारण जीवन में घटित घटना इस बात को पुष्ट करती है। ध्रुवस्वामिनी आर्त्त स्वर में रामगुप्त से पार्थना करती है -- 'मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष ----- प्राणों का पन लगा सके ----- मेरी रक्षा करो --- मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो, राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ। मैं स्वीकार करती हूँ कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किन्तु वह मेरा अहकार चूर्ण हो गया है । मैं तुम्हारी होकर रहूगी । राज्य और सम्पत्ति रहन पर राजा को-पुरुष को-बहुत सी रानिया और स्त्रिया मिलती हैं, किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता[1] ।

रामगुप्त उसे उपहार की वस्तु घोषित कर जेसे अपनी पथभ्रष्ट, विकृत सस्कृति, राजनीति की घोषणा करता है, जा शत्रु की वासनावेदी पर अपनी पत्नी का हवन कर सकता है, उसके सामने साम्राज्य की बहू-बेटियों के सतीत्व की बात अनर्गल प्रलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ऐसे साम्राज्य की युग-युग की उपेक्षिता नारी तीव्र प्रतिरोध के लिए जैसे विस्फोट करती है ---- 'निर्लज्ज, मद्यप, क्लीव, ओह तो मेरा कोई रक्षक नहीं[2] ।

भारतीय संस्कृति की कहानी यह स्पष्ट करती है कि अबलाआ के करुण पुकार पर पत्थर को भी पिघलना पडा है, स्वय देवताओं को भी नगे पाव पृथ्वी पर दोडकर पहुचना पडा है । प्रसाद ने इस आस्था का मात्र पोषण नहीं किया,

---

1 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 26 ।

2. वही, पृष्ठ 27 ।

प्रत्युत इस परिवेश में चन्द्रगुप्त को उतार कर (उपस्थित कर) इसका पल्लवन भी किया है ।

शील परस्पर सम्मान की घोषणा करता है । यह और बात है कि शिखर स्वामी इसे सर्वोत्तम गृह-विधान की सज्ञा देकर पुरुषता और कुलगौरव पर रगीन पर्दा डालने का प्रयास करे ।

कैसी विडबना है कि उस राजा की भी रक्षा हो, जिसमें राष्ट्र की रक्षा करने की भी क्षमता न हो । पराये व्यक्तियों को भी एक बार युद्ध का आह्वान का उन्माद (ऐसी परिस्थिति में) उद्वेलित कर देता है। अमात्य मृत्यु दड स्वीकारने को प्रस्तुत है। शकराज के घर अकशायिनी बनकर जाने की अपेक्षा आत्म हत्या को ध्रुवस्वामिनी वरेण्य मानती है । तभी मदाकिनी कहती है --- 'सब लोग जब प्राणों की आहुति देने को तैयार हों, तब फिर एक बार युद्ध का ही आह्वान क्यों नहीं कर दिया जाय , प्रवेश कर चन्द्रगुप्त ही इस समस्या का सहज समाधान कर देता है । वह निर्णय लेता है --- ध्रुवस्वामिनी का वेश धारण कर अन्य सामन्त कुमारों के साथ वह शकराज के पास पहुचेगा । यदि सफल हुआ, तब तो कोई बात नहीं, अन्यथा उसकी मृत्यु के बाद वे दूसरा कदम उठाने को स्वतत्र हैं । इसे कहा जा सकता है आत्मोत्सर्ग-यह वह गरिमा है, जिसने आर्य-सस्कृति को सदैव उज्ज्वल बनाया है दीप्तिमय प्रकाशपुज । जो काम सम्पूर्ण सेना लेकर भी रामगुप्त के लिए सभव नहीं हो सका उसका बीडा अकेले चन्द्रगुप्त उठाता है । उसे पुराण की वह पक्ति याद है-'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ।' देवता रमण करें या नहीं, किन्तु चन्द्रगुप्त यह जानता है कि जिस दिन ध्रुवस्वामिनी को विदेशी शक की वासना की भट्ठी में भेज दिया गया, उस दिन उसके कुल की मर्यादा तो समाप्त होगी ही, सम्पूर्ण भारतीय सस्कृति और इतिहास का मुख काला करने में शेष ही क्या बचेगा ? किन्तु ये जगाते हैं देश को-देशवासियों को-

सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हो चूम रहे
तब भी गिरिपथ का अथक पथिक, ऊपर ऊँचे सब झेल चले[1] ।

यही प्रसाद का कथ्य है, ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त, चद्रगुप्त, शकराज आदि इस नाटक के ऊपरी आवरण हैं, आत्मा--प्रसाद की राष्ट्रीयता, सस्कृति का पोषण उनके मन में अतीत के प्रति आस्था, वर्त्तमान के प्रति असतोष और भविष्य के लिए प्रेरणा रही है । प्रसाद-साहित्य का यही चरम सत्य है कि वे देश और देशवासियों को उठाना चाहते थे, भारतीय नारियों को उन्होंने देश की विमल विभूतिया माना है । ऐसा नहीं कि स्त्रियों के लिए उनके मन में सहज आदर है, स्कन्दगुप्त की अनत देवी का चित्रण इस प्रकार हुआ है कि श्रद्धा की बात कौन कहे, उसके प्रति सहानुभूति भी नहीं होगी । मन घृणास्पद क्षोभ से भरता है तो इसमें आश्चर्य

1 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 33 ।

कैसा ? नाटक के प्रथम अक में भारतीय ललनाओं का सतीत्व डूबने से उबर गया है । वह भी सम्मान किसी परिस्थिति जन्य समझौता पर टिका नहीं । वीरता उदारता की अनुपम छटा पर सहसा प्रतिष्ठित है ।

ध्रुवस्वामिनी नाटक के द्वितीय अक की कथा शक-शिविर में घटती है । शक-शिविर की उन्मुक्तता में कोमा का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है । वह सजीव प्रतिमा ही नहीं, प्रकृति की स्निग्ध अनुकृति प्रतीत हाती है । ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रसाद जी ने उसकी काव्यात्मक परिकल्पना की है । प्रकृति के उपादान में किल्लोल करती हुई कोमा जैसे प्रकृति में प्राणों का मत्र फूकती है । वसन्त के उदास और अलस पवन के मादक स्पर्श से व्यक्ति परिचित नहीं हो ऐसा जीवन में नहीं होता । कोमा यह मानती है कि ससार की नैसर्गिक वस्तुओं में प्रेम का शीर्ष स्थान रहा है । इतना ही नहीं, इसके लिए ऋतु-निर्धारण होता है --- 'प्रेम करने की एक ऋतु होती है, उसमें चूकना --- सोच-समझकर चलना दोनों बराबर है । सुना है दोनों ससार के चतुरों की दृष्टि में मूर्ख बनते हैं[1] ।' प्रसाद के सौन्दर्य के दर्शन में और दर्शन अध्यात्म के कगार पर अवस्थित है । कोमा यह नहीं जानती कि बचपन की परिसमाप्ति के बाद यौवन का अनायास पदार्पण कैसे होता है । किन्तु होती है एक आतुरता, एक मादकता, अभिलाषा जो यौवन के रस-पान के लिए नैतिकता की तिलाजलि को भी बाध्य करता है । कोमा यह स्वीकारती है --- कि उसके पदार्पण के साथ ही भौतिक चमक तो आती ही है कुछ उत्कठा और आत्म समर्पण की कामना भी जगती है । प्रसाद जी शैव-दर्शन से प्रभावित रहे हैं और कोमा जैसी किशोरी के मुह से भी वे यह कहला देते हैं --- 'सारी चमक-दमक अस्थायी है ससार क्षणभगुर है, जीवन के स्थायित्व के सामने प्रश्नवाचक चिह्न उपस्थित होता है, फिर यौवन किस खेत की मूली, जो पल भर बाद भी अपनी चमक-दमक के साथ अपनी सत्ता को चरितार्थ कर सके । शकराज भी समझ गया है कि जवानी की अट्टालिका की अंतिम परिणति उसका ध्वस होना है, तब फिर उसका खुलकर उपभोग क्या न किया जाय ? यह पाश्चात्य सस्कृति है । भारतीय सस्कृति यम-नियम, क्षमा, दया, तप, तेज, त्याग पर बल देती है, जहाँ दूसरे की स्त्री मा समझी जाती है । --- पर द्रव्येषु लोष्ठवत् पर-दाराषु मातृवत्-शकशिविर में इस मर्यादा का सहज-स्खलन है । कोमा को इसी बात की चिन्ता है । अपने भविष्य के विषय में उसे मात्र आशका ही नहीं, वह तो शकराज के विनाश के आधार को प्रत्यक्ष देख रही है और उसका उपादान और स्पष्ट है ध्रुवस्वामिनी, जिसे बरवश शकराज अपने शिविर में ला रहा है । स्त्रियों के विश्वास को भग कर देने में बहुत बल की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु परिणाम इतना भयावह होता है, जो अस्तित्व को ही समूल विनष्ट कर देता है । प्रसाद

---

1 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 35 ।

जी ने इसके लिए नील-लोहित रग के धूमकेतु की परिकल्पना की है । नक्षत्र-लोक से इस अभिशाप से आतकित शकराज काप उठता है, किन्तु पुन: वासना का जोर उस पर पडता है और जैसे विनाश काल में उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है-विभ्रम में खो जाती है । ध्रुवस्वामिनी आती है और शकराज को यह ज्ञात होता है कि उसकी सहचरी भी रूपसुषमा में उससे उन्नीस नहीं तो वह दोनों को आलिंगन पाश में बाधने को जैसे पागल हो जाता है । किन्तु सौन्दर्य को सागर भी नहीं बाध सका है । प्रतिशोध की अग्नि समाप्त हो या न हो , किन्तु चद्रगुप्त की तलवार शकराज को समाप्त कर उसकी लौकिक लीला और लिप्सा की इतिश्री कर देती है । यह पुन: विदेशियों पर भारतीयों की विजय का वह स्वप्न है जिसे प्रसाद जी ने अपने सभी नाटकों में देखा है । दूसरे अक के कथानक से मिली-जुली प्रतिक्रिया होती है । शिविर में ध्रुवस्वामिनी (ध्रुवदेवी) के सम्मान और अकेले चद्रगुप्त के प्राण तो उपस्थित थे ही, कोमा के प्रेम और मिहिर देव के दर्शन का भी निजी स्थान है । इन सब का उल्लघन हृदय में करुणा का सचार करता है, किन्तु अनीति की पराजय और अन्यायी के रूप में शकराज के मरण से अन्ततोगत्वा प्रसन्नता की लहर भी कम स्वाभाविक नहीं ।

नाटक के तीसरे अक की कथावस्तु चरमोत्कर्ष प्रस्तुत करती है । इसी अक में कथानक की नियताप्ति और फलागम है । विमर्ष और निर्वहन सधि है तथा अर्थ प्रकृति के रूप में कार्य की स्थिति है ।

शकराज की मृत्यु की सूचना जब रामगुप्त को मिलती है, तो वह इस आशातीत विजय पर प्रसन्न होता हुआ, इसे अपनी राजनीतिक उपलब्धि घोषित करता है । आज के ससार का यही नियम है कि स्वय दुराचारी ही दूसरे को अनाचारी मानता है । तभी रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को काल सर्पिणी स्त्री कहते हुए पूछता है कि उसे भारतीय धर्म का तनिक भी भय नहीं, साथ ही यह अभियोग लाता है कि परपुरुष में अनुरक्त ध्रुवस्वामिनी का हृदय अत्यंत कलुषित हो गया है । प्रसाद जी को इस बात का कभी विस्मरण नहीं हुआ कि धर्म की आड के अतिरिक्त भारतीय अबलाओं के सामने कोई सबल नहीं । वह पुरोहित से राषपूर्ण शब्द में कहती है कि उस से धर्म के नाम पर स्त्री की आज्ञाकारिता की पैशाचिक परीक्षा बलपूर्वक ली गयी है --- 'तुमने जो मेरा राक्षस-विवाह कराया है, उसका उत्सव भी कितना सुन्दर है ? यह जन-सहार देखो अभी उस प्रकोष्ठ में रक्त से सनी हुई शकराज की लोथ पडी होगी, कितने ही सैनिक दम तोडते होंगे और हर्ष-रक्त-धारा में तिरती हुई मैं भी राक्षसी-सी सास ले रही हूँ तुम्हारा स्वस्त्यन मुझे शाति देगा[1] ?

धर्म के बाह्याडबर के प्रति मदाकिनी विद्रोह करती है।

---

1 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 52 ।

वीर युद्ध करना जानते हे, जब आक्रमण हो ता उससे अपनी प्रतिरक्षा करने में जीवन की सार्थकता मानते हैं, किन्तु जीत का डका तो वे पीटते हैं जिनमे पुरूषार्थ आरोपित होता है, और जो मरने के पूर्व कई बार मर चुक होते हे। विजय के बाद चद्रगुप्त उदासीन है और म्याऊ की आवाज पर घर-ससार छोडकर भाग जाने वाला रामगुप्त आज शक-शिविर की विजय पर तिलक लगाना चाहता है। भारतीय सस्कृति का मूलमत्र है-सत्यमेव जयते-पुरोहित स्पष्ट घोषित करता हैं। --- ब्राह्मण केवल धर्म से भयभीत है, अन्य किसी भी शक्ति को वह बहुत महत्वपूर्ण नहीं मानता। वह निर्णय लेता है --- 'जिसे अपनी स्त्री का दूसरे की अकगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ सकोच नहीं, वह क्लीव, नहीं तो और क्या है ? मैं स्पष्ट करता हूँ धर्मशास्त्र रामगुप्त स ध्रुवस्वामिनी के माक्ष की आज्ञा देता है[1]। अतिम स्थिति है फलागम की, जो नियमानुसार प्रमादान्त की घोषणा करता है। रामगुप्त की मृत्यु और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण से यह स्थिति तो स्पष्ट होती है, किन्तु इसमें उज्ज्वलतर प्रकाश तब आता है, जब परिषद् राजाधिराज चन्द्रगुप्त की महादेवी के रूप में ध्रुवस्वामिनी की घोषणा करती है। अपने शौर्य-कर्तव्य से ध्रुवस्वामिनी ने यह सिद्ध कर दिया कि "वह उपहार में देने की वस्तु शीतलमणि नहीं है उसमें रक्त की तरल लालिमा है। उसका हृदय उष्ण है और उसमें आत्म सम्मान की ज्योति है।" वस्तुत· यह ध्रुवस्वामिनी ही नहीं, प्रत्युत् युग युगान्तर से प्रताडित और प्रपीडित भारतीय नारी है, जिसे प्रसाद ने आत्मरक्षा के लिए खुला निमत्रण दिया है। प्रेम के नाम पर जलने वाली स्त्रिया यदि विद्रोह नहीं करतीं तो वह स्वय मरती हैं, दूसरों को मारती है। कोमा के जीवन में शकराज को छोडकर किसी अन्य पुरुष की परछाई तक नहीं पडी फिर भी वह प्रेमी द्वारा तिरस्कृत ही रही। मिहिर देव ने सबध-विच्छेद का सत्परामर्श दिया, किन्तु प्रेम की पुतलियाँ प्रेम की ज्वाला की छार बना करती हैं। कोमा ध्रुवस्वामिनी के पास निवेदन लेकर उपस्थित होती है---'रानी तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री की व्यथा को तुम न समझोगी. . .. सब के जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य, तुम्हारे भी जीवन में वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय-हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है। उदार बनता है और सर्वस्वदान करने का उत्साह रखता है ... .मुझे शकराज का शव चाहिए[2]।

ध्रुवस्वामिनी ने अपने व्यवहार से मानो यह प्रत्युत्तर दिया है कि स्त्रियाँ सच्चे अर्थ में 'नीर भरी दुःख की बदली' मात्र नहीं है। जो बदली की काली घटा में रोता-बिलखता और नाचता रहता है उसे शक मिलता है और जीवित जल मरने की परिस्थिति मिलती है, क्योंकि उसे दो प्रेमी के जीवन के शरीर की उष्णता भी

1 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 62।

2. वही, पृष्ठ 53।

नहीं मिली, किंतु अधिकार की सुरक्षा के लिए सत्य का सबल लकर आगे बढने वाली नारी राज रानी और महादेवी के पदो से गौरवान्वित-सुशोभित की जाती है। ध्रुवस्वामिनी का कथानक नारी जीवन की चिरतन समस्याओं के प्रति मात्र चिन्ता ही व्यक्त नहीं करता, बल्कि उनके समाधान का मार्ग प्रशस्त है । इस प्रशस्ति का दिशा-निर्देश करती है-नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी और पुरुष के सबल से उत्कर्ष लाने की भूमिका चद्रगुप्त निभाता है । इन सारी परिस्थितियों का सयोजन इतनी तटस्थता से किया गया है कि सारे पात्रों के व्यक्तित्त्व अलग-अलग मुखरित हुए हैं और, लक्ष्य की अनन्यता में स्वर्गीय प्रसाद जी पूर्णत· सफलीभूत हुए हैं ।

विशाख

स्व० जयशकर प्रसाद के नाटकों में 'विशाख' अपना रेखाकित महत्व और स्थान रखता है। ऐतिहासिक नाटक लिखने वाले अन्य साहित्यकारों की ही तरह स्व० प्रसाद भी इतिहास और धर्मग्रन्थ के खडहरों से सामग्रियॉ बटोरते रहे हैं। इस नाटक की रचना की प्रेरणा और आधार स्व० प्रसाद ने कल्हणकृत राजतरगिणी से प्राप्त किया, जिसका काल सुनिश्चित ढग से निश्चित करना अभी तक सभव नहीं प्रतीत होता है । विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर विभिन्न अटकलबाजिया लगायी जाती रही हैं । इसका कथाक्रम उस समय का है, जब कश्मीर में विभीषण द्वितीय के पुत्र नरदेव का शासन था । उसके शासन के प्रथम चरण में शान्ति, सुरक्षा और सुव्यवस्था की कोई शिकायत नहीं रही, किन्तु कालान्तर में वह अत्यन्त कामुक उच्छृखल और भ्रष्ट बन गया । उसके इस आचरण और व्यवहार से फायदा उठाकर किन्नर ग्राम के बौद्ध ने योगबल से उसकी पत्नी को कुमार्गगामिनी बना दिया । इस घटना से उत्तेजित और क्रुद्ध नरदेव ने समस्त बौद्ध विहारों को जला कर राख में मिला दिया और उस क्षेत्र की विहार-भूमि ब्राह्मणों के बीच वितरित कर दी । वितस्ता नदी के तट पर नरदेव ने बडा ही सुन्दर सुरम्य और मनोहारी नगर बसाया । वहीं आम्रवृक्षों से आवृत्त एक सुन्दर तालाब के पास सुप्रवा नामक निर्धन नाग अपनी दो अनुपम सौन्दर्यवती कन्याओं के साथ रहता था । दीनावस्था के कारण वे बेचारी यत्र-तत्र घूम कर वन्य फलदार वृक्षों के फल से सपरिवार जीवन निर्वाह करती थीं । एक दिन मालिवेश में मध्याह्न वेला में वे सेम की फलिया तोड़कर खा रही थीं, तभी एक ब्राह्मण कुमार से उनका साक्षात्कार हुआ, जो उसी सरोवर पर भोजन-आवास का उपक्रम कर रहा था । दो रूपशीला कुमारियों को देखकर उसकी जिज्ञासा बढी । उनकी दीनावस्था की बात जानकर वह अत्यन्त द्रवित और प्रभावित हुआ और उसने उन्हें अपने यहॉ अपने भोजन में सम्मिलित होने का विनम्र निमंत्रण दिया । शीलगुण सम्पन्न कुमारियों ने पिता की सहमति, स्वीकृति और साथ आने की बात कर आमन्त्रण स्वीकार किया । तदनन्तर अपने पिता के साथ तक्षक उत्सव के समय वे उपस्थित हुईं । सुश्रवा

न्म ब्राह्मण कुमार के गुण, आचरण और व्यवहार के बारे में पुत्रियों द्वारा अवगत हो चुका था । सुश्रवा ने बताया कि किस तरह एक बौद्ध मत्र द्वारा लहलहाती फसल युक्त खेतों की रखवाली करता है । मत्राभिषिक्त अन्न समय और पर्याप्त मात्रा म नहीं मिलने के कारण वे क्षुधा पीडित और आर्त बन गये हैं । दयार्द्र ब्राह्मण कुमार ने बडी कुशलता पूर्वक मत्राभिषिक्त खेत का नवान्न बौद्ध भिक्षु को खिलाकर नागों का अन्न प्राप्ति का अधिकार दिलाया । दया, क्षमाशील ब्राह्मण के आचरण, व्यवहार, स्नेह और कृपा से मुग्ध-प्रसन्न हो सुश्रवा ने चन्द्रलेखा का परिणय उसके साथ कर दिया । दोनों पति-पत्नी आमोद-प्रमोद, परस्पर स्नेह, सद्व्यवहार क साथ जीवन यापन करने लगे । चन्द्रलेखा की व्यवहार कुशलता स्पृहणीय आर अनुकरणीय थी । उसकी बहन इरावती इसके पूर्व ही वाग्दत्ता हो चुका थी । चन्द्र लेखा के गुण-श्रवण और रूप-वर्णन से कामुक नरदेव ने विचलित होकर उमकी प्राप्ति के कई प्रयास किया--'कभी दूत भेजकर, कभी ब्राह्मण को फुसलाकर । अन्तत· उसने सैनिकों द्वारा बल-प्रयोग की योजना बनायी, किन्तु इस विपत्ति की आशका से त्रस्त दम्पत्ति पहले ही नागपुर जा चुका था । नरदेव के आतक स क्षुब्ध और उत्पीडित होकर सुश्रवा और उसकी बहन रमण्या ने नरपुर का उजाड कर वीरान बना दिया और नरदेव को किये कुकर्मों के परिणाम स्वरूप प्राण गवाने पड़ । इस उथल-पुथल में मृत नरदेव का पुत्र सिद्ध बच निकला, जो कालान्तर में स्थिति सामान्य होने पर वहाँ का शासनाधिकारी हुआ । स्व० प्रसाद के नाटक विशाख की कथावस्तु में उपर्युक्त कथास्रोत का अविकल निर्वाह नहीं किया गया है, प्रत्युत् सास्कृतिक गरिमा, साहित्यिक सौन्दर्य तथा मौलिकता लाने के लिय घटनाओं के क्रम और स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन-परिमार्जन किया गया है । किन्तु परिवर्तन का दिशा-निर्देश ऐसा नहीं कि वह ऐतिहासिक सभाव्यता को झुठला सके । नाटकारभ में स्नातक विशाख का भाव प्रधान स्वगत मिलता है । यौवन भुग्न की वस्तु नहीं बल्कि आशामय भावी सुखों के लिये कठोर कर्मों का सकलन है । असताष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओं के बादल शैशव बीतते ही छा जाते ह । कश्मीर के एक कुज के पास हरे-भरे खेतों की पृष्ठभूमि में एक शिलाखण्ड पर बैठा विशाख कुसुम-रज से ढके कमल सदृश, श्रीसौरभ युक्त दो कुमारियाँ (चन्द्रलेखा और इरावती) के दर्शन प्राप्त कर मुग्ध होता है । जीर्ण-शीर्ण वस्त्रावृत किन्तु अद्भूत प्राकृतिक सौन्दर्य-श्री युक्त कुमारिया मेघाच्छन्न चन्द्र सी ज्योतित हा रही थीं । जीवन के अभिशाप, दारिद्रय के कारण वे वृक्ष के नीचे गिरी गयी मेम की फलिया खा और गीत गाकर मन को सान्त्वना दे रही हैं । विशाख क सामने आने पर उसे क्षेत्र-रक्षक समझकर तथा समृद्धि पूर्ण अतीत की कथा सुनकर विशाख उन पर सहानुभूतिशील होता है । साथ ही चन्द्रलेखा पर आसक्त भी । व दोनों भी इसकी पर-दुख-कातरता से प्रभावित होती हैं । क्षेत्र-रक्षक (भिक्षु) से विशाख तर्क-वितर्क में उलझता है, किन्तु उसे शरीर से सबल

देख चुपचाप निकल जाता है । पगडडी पर चल रहे सुश्रवा पर भिक्षु फसलयुक्त खेत रौंदने का मिथ्या आरोप लगाता है । दोनों के वाक्‌युद्ध मल्लयुद्ध बनने की स्थिति में पहुच जाते हैं । पाच-सात युवा भिक्षु सुश्रवा को पकड लेते हैं, किन्तु चन्द्रलेखा अनुनय विनय द्वारा उसे मुक्त कराकर स्वय बदी बन जाती है । विशाख राजा नरदेव के सहचर, प्रसाद के कल्पित पात्र, महापिगल से बडी बुद्धि और साहस पूर्वक तर्क-वितर्क करता है । यहॉ पर प्रसाद जी ने तत्कालीन बौद्ध विहारों के आमोद-प्रमोद राग-रग, भोग-विलास का बडा ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है । विशाख राजा नरदेव से निवेदन करता कि किस प्रकार उनके राज्य में कानीर विहार के प्रमादी बौद्ध महन्त ने कुछ मोटे निठल्लों की मदद से आतक फैला रखा है। बौद्ध विहार में अकारण एक नागकन्या को बन्दी बना रखा है, जिसका बाप द्वार-द्वार विलाप करता फिरता है । स्नातक विशाख की उक्ति और अभिव्यक्ति की शैली में तक्षशिला में पले राजनीतिक, कूटनीतिक ज्ञान-प्रथा, स्पष्टवादिता के दर्शन होते हैं । प्रिय-अप्रिय सभी सत्य का उद्‌घाटन वह बडे साहस और कौशल से करता है । राजा से वह यह भी कह सुनाता है कि सुश्रवा नाग की ही भूमि अपहृत कर उसके पिता ने बौद्ध-विहार में दान किया था । नरदेव मत्री द्वारा गुप्त रीति से जाच पडताल के बाद विशाख को न्याय का आश्वासन देता है । विशाख के चरित्र में एक अदम्य उत्साह, अपार साहस, सराहनीय स्पष्टवादिता का समावेश कर प्रसादजी ने तत्कालीन मगध कौटिल्य चाणक्य का लघु रूप प्रतिष्ठित किया है । भिक्षु हो या मत्री, राजा हो या अनजान व्यक्ति, सबको वह एक ही स्वर-ताल-शैली में स्पष्ट उत्तर देता है --- 'क्या तुम उसी स्थविर के चेले हो, जिसने कि एक अनूठी कन्या को पकड रखा है ? .. क्या तुमको शील और विनय की शिक्षा नहीं मिली है ?.. मिट्टी के बर्तन थोडी ही आच में तडफ चटक जाते हैं । नये पशु एक ही प्रहार में भडक जाते हैं । यह राजपथ है, यहॉ से हटाने का तुम्हें अधिकार नहीं है । बस अब तुम्हीं अपने विहार-बिल में घुस जाओ[1] ।

कहा जा सकता है कि विशाख युग के अनुरूप ईंट का जवाब पत्थर है । हृदय में पर दु.ख कातरता के उठे भाव को वह धर्म-भाव या परोपकार नहीं मानता, बल्कि स्पष्टत· स्वीकारता है कि 'चन्द्रलेखा को यदि न देखता, तो सभव है यह धर्म-भाव नहीं जगता[2]' या फिर इस झझट में 'मै तो कभी न पडता यदि इस ससार में पदार्पण करने की प्रतिपदा तिथि में यह चद्रलेखा न दिखलाई पडती[3]' प्रसादजी की कल्पना की उपज पात्र गुरु प्रेमानद का विशाख पर स्पष्ट

1 विशाख, पृष्ठ 33 ।

2 वही, पृष्ठ 32 ।

3 वही, पृष्ठ 16 ।

प्रभाव है, जो स्वय भी सस्कृति के पोषक हैं, शाश्वत सघ के अनुयायी और जो मानते हैं --- 'प्रेम की सत्ता को ससार में जगाना मेरा कर्त्तव्य है[1] ' सन्यास-वैराग्य के बारे में उनकी धारणा बडी स्वस्थ और ग्रहणीय है ---'जब तक सुख भोग कर चित्र उनसे नहीं उपराम होता, मनुष्य पूर्ण वैराग्य नहीं पाता है । .

वैराग्य अनुकरण की वस्तु नहीं, जब वह अतरात्मा में विकसित हो, जब उलझन की गाठ सुलझ जावे, उसी समय हृदय स्वतः आनदमय हो जाता है[2]' यह भारतीय योग सस्कृति और धर्म-दर्शन जितनी व्यावहारिक है उतना ही स्पष्ट, ग्राह्य और सरल ।

कानीर विहार के स्थविर सत्यशील वस्तुत. मिथ्याशील को पकडवाकर नरदेव उसके साथ चन्द्रलेखा के पास पहुचता है और अप्रतिम सौन्दर्य पर स्वय आसक्त हो जाता है । न्याय का स्वाग रचाकर दोषी-निर्दोष सभी भिक्षुओं और विहारों को जलवाने का आदेश देता है । परिव्राजक प्रेमानद के आदर्श और सस्कृति सगत विचार --- 'सत्ता का अपव्यय न करो, सत्ता शक्तिमानों को निर्बलों की रक्षा के लिए मिलती है औरों को डराने के लिए नहीं । . ...न्याय के दोनों ही आदेश हैं : दण्ड और दया । शासक के आचरण ऐसे चाहिए, जिससे प्रजा को उत्तम आदर्श मिले, प्रजा में दया आदि सद्गुण का प्रचार हो[3]--नरदेव का मस्तिष्क परिवर्तन करते हैं । विहार विध्वस से बच जाते हैं ।

द्वितीय अक के प्रारम्भ में कवि-नाटककार की कल्पना और काव्यात्मकता मुखर हुई है । विशाख-चन्द्रलेखा दोनों के प्रगाढ प्रेम तथा विवाह की निश्चितता के संकेत मिलते हैं । इरावती और उसकी बूआ रमणी प्रेमी-युग्म के प्रेम पर सामाजिक स्वीकृति की मुहर देती है । द्वितीय हृदय में नरदेव के प्रतिरूप उसके सहचर महापिगल और तरला का वार्तालाप तथा हास-परिहास कम मनोरजक नहीं है । वृद्ध शरीर में युवा मन लेकर महापिगलन नयी दूल्हन के सपने सजोया है । चन्द्रलेखा पर आसक्त कामुक नरदेव आखेट के बहाने रमण्याटवी की ओर जाता है, क्योंकि अकस्मात् उसका मन एक मनोहर मूर्ति का एकान्त भक्त होने लगा है । यद्यपि उसकी यह भक्ति रूप लोभ और वासना तृप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं । उद्योगहीनता को शिथिलता मानकर विशाख कुछ नये उद्योग के लिये चन्द्रलेखा को अकेली छोडकर बाहर जाता है । तभी नरदेव चन्द्रलेखा से प्रणय-निवेदन और राजरानी बनाने का प्रस्ताव करता है ।.. 'प्रिय यह नरदेव सचमुच तुम्हारा दास है,. मैं तुम्हारा होकर रहूगा'[4] । चन्द्रलेखा की डांट --'राजन्

---

1 विशाख, पृष्ठ 35 ।

2 वही, पृष्ठ 36 ।

3 वही, पृष्ठ 41 ।

4 वही, पृष्ठ 58 ।

मुझसे अनादृत न हूजिए । बस यहाँ से चले जाइये[1] पर मुह बनाकर लौट जाता है और उसकी प्राप्ति के लिये छल का सहारा लेता है । उमका विदूषक मित्र महापिगल एक बौद्ध भिक्षु तो तैयार करता है कि वह चैत्य की पूजा में आने पर चन्द्रलेखा को देवता बनकर राजा नरदेव से प्रेम करने की आज्ञा दे । यथासमय चैत्य की आड में छिपकर वह एसा कहता भी है कि कल्याण-कामना हेतु दीप-दान करने वाली, गृहस्थ सुख की आशाओं से लदी चद्रलेखा घबडाहट में गिर पडती है, तभी इस नाटक का कल्पित और सास्कृतिक आदर्श युक्त पात्र प्रेमानद उस दुष्ट और पाखडी भिक्षु का गला पकडते हैं । इसी क्षण विशाख अपनी प्रियतमा को खोजता हुआ वहा पहुचता है । प्रेमानन्द स्थिति स्पष्ट करते हुए उसे चन्द्रलेखा को कहीं नहीं भेजने का निर्देश देते हैं । भिक्षु पर विशाख की उठी तलवार गुरु के आदेश से रुक जाती है । प्रेमानद के शब्दों में भारतीय सस्कृति में --- 'क्षमा सर्वोत्तम दड है[2] और क्षमा सर्वथा सामर्थ्य तथा शक्ति सपन्न द्वारा ही जाने पर ही शोभती है । यह एक सास्कृतिक आदर्श है ।

तृतीय अक में नरदेव विदूषक पिगल और महारानी के वार्तालाप से यह स्पष्ट है कि रानी एक पति-सुख-वचिता है । निकट रहकर भी दूर हैं । उसे राज्य की वर्तमान अवस्था और राज की मानसिक अवस्था पर दया-दुख दोनों है । प्रहरियों द्वारा एक बौद्ध भिक्षु के लाये जाने पर यह रहस्य खुल जाता है कि नरदेव चन्द्रलेखा पर आसक्त होकर छल-बल द्वारा षडयन्त्र में सलग्न है । महारानी, महापिगलक और महाराजा को नरक के कीडे से अधिक महत्व नहीं देती है । अपना प्रभाव उन पर नहीं देखकर वह नदी में डूबकर आत्म हत्या कर लेती है । विशाख और चन्द्रलेखा कामान्ध नरपति से रक्षा हेतु हिमवान की सुरक्षित गुफाओं में जाने की योजना बनाते हैं । तभी विदूषक महापिगल चद्रलेखा के राजमहल में जाने का प्रस्ताव लेकर प्रस्तुत होता है, किन्तु विशाख की तलवार उसके गन्दे मन, प्राण, वचन को चिरनिद्रा में सुला देती है । सैनिक दोनों पति-पत्नी को बन्दी बनाते हैं । सुश्रवा, उसकी बहन रमणी और पुत्री इरावती कुछ नागों की मदद से उन्हें मुक्त कराना चाहतें हैं, किन्तु गुरू प्रेमानन्द उन्हें उत्तेजना-राक्षसी के पीछे पड़कर देश की शान्ति भग नहीं करने तथा आत्म बल पर भरोसा रख न्याय मागने के निर्देश देते हैं । तीसरे दृश्य में तरला और भिक्षु का प्रस्तुतीकरण एक प्रासगिक घटना है, जिसका न कथानक के लिये, कोई प्रयोजन और महत्त्व है और न उससे किसी विशेष आदर्श की प्रतिष्ठा होती है । चौथ दृश्य में राजदरबार की योजना है, जहाँ विशाख और चन्द्रलेखा कैदी के रूप में प्रस्तुत हैं । हत्या के अभियोग में नरदेव पहले विशाख को राज्य-निष्कासन का दड देता है, फिर दोनों पति-पत्नी को शूली पर चढाने का आदेश । बाहर काफी

1 विशाख, पृष्ठ 58 ।

2 वही, पृष्ठ 67 ।

कोलाहल है । नागजाति की जनता न्याय और विशाख-चन्द्रलेखा की मुक्ति चाहती है । रमणी नरदव के कुकृत्यों का इतिहास बताकर उसे ही दोषी घोषित करती हे । प्रेमानन्द के आदर्श प्रेरक, लोकरजक, निर्देश तक मानने को वह (नरदेव) तैयार नही । उल्टे उन्हें दरबार से निकाले जाने का आदेश देता है । उसके आदेश पर सैनिक नागा पर प्रहार करते है, किन्तु क्रुद्ध नागों द्वारा लगायी गयी आग में वह खुद घिर जाता है । चन्द्रलेखा और विशाख मुक्त हो जाते है । विषवृक्ष को भी अमृत से मींच कर उससे मधुर फल पाने के प्रत्याशी प्रेमानन्द भारतीय सस्कृति का अद्भुत आदर्श प्रस्तुत करते है, जब वे अग्नि में घिरे नरदेव को निकालकर अपनी पीठ पर लाद कर चल देता है । अतिम दृश्य में इरावती समाज में व्याप्त क्रोध, हिसा, रक्तपात स ऊबी दीखती है । क्रूरता, प्रति हिसा और आतक ने स्नेह, सौहार्द्र और करूणा को जैसे निगल लिया है । प्रेमानन्द उपचार द्वारा नरदव को स्वस्थ कर देते है । नरदेव अपनी पिशाच बुद्धि और प्रमादपन के लिए पश्चाताप करता हुआ यह अनुभव करता है कि "परमात्मा की सुन्दर सृष्टि को व्यक्तिगत मान-अपमान, द्वेष और हिसा से किसी को भी आलोडित करने का अधिकार नहीं है ।" वह प्रेमानन्द से शान्ति और शरण की भीख मागता है । चन्द्रलेखा राज मदिर से उत्तेजित नागों के हाथों नरदेव के पुत्र को बचाती है । नरदेव बच्चे को पाकर स्वर्गिक तृप्ति का अनुभव करता है और चन्द्रलेखा से क्षमा-याचना करता है । विशाख भी गुरुराज्ञा से उसे क्षमा कर देता है, क्योंकि पाशववृत्ति और राज्य का त्याग कर नरदेव सन्यासी का जीवन यापन का सकल्प लेता है । प्रेमानन्द विशाख को आदेश देते हैं कि वह उसके बालक को ले जाकर योग्य, प्रजा सेवी और धर्मपरायण, शासनाधिकारी बनाने की शिक्षा दें । क्षमा, प्रार्थना और शान्ति के सास्कृतिक सन्दर्भ में नाटक का समापन होता है ।

जनमेजय का नाग यज्ञ

'जनमेजय का नाग यज्ञ' स्वर्गीय जयशकर प्रसाद का एक अत्यत लोकप्रिय, प्रमुख, अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक है । इसका प्रकाशन सन् 1923 में हुआ था । वैसे रचना की पृष्ठभूमि के संबध में यह स्पष्ट है कि इसकी कथा विशुद्ध पौराणिक है । कलियुग के आरम्भ में पाडव-काल के बाद राजा परीक्षित के पुत्र के रूप में जनमेजय का परिचय मिलता है, जो इन्द्रप्रस्थ के सम्राट् थे । कौरव-पाडव तथा यादव के पारस्परिक गृह-कलह के परिणामस्वरूप हुए महाभारत युद्ध के बाद पांडव विजयी तो हुए, किन्तु किसी शक्तिशाली राज्य की स्थापना नहीं हो सकी । जमाने से दबी हुई जगली जातिया अपने आधिपत्य-स्थापन के लिए उपद्रव करने लगीं । ऐसी ही जाति में एक महत्वपूर्ण नाम नाग जाति का है । अर्जुन द्वारा खाडव वन-दाह के बाद सभवतः इस जाति ने गांधार पर अधिकार कर तक्षशिला को राजधानी बनाया । अर्जुन के उत्पीड़न से आहत ये नाग कुछ समय तक मौन साधे रहे । तदनतर, हस्तिनापुर पर आक्रमण कर तत्कालीन शासक परीक्षित का विनाश

कर दिया । कुछ साक्ष्या से पता चलता है कि परीक्षित के पुरोहित काश्यप गा ब्राह्मण की मदद से नाग राज तक्षक ने हत्या के षडयत्र म सफलता पायी थी । आस्तीक पर्व के पचासवें अध्याय के एक सूत्र में इसका विवरण मिलता है[1] ।

ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह विदित होता है कि उस काल म क्षत्रिय-ब्राह्मण सघर्ष जोर पकडने लगा था । प्रमुख रूप से नागों का सम्बन्ध-सम्पर्क काश्यपो म ही था । तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति अत्यत उथल-पुथल पूर्ण और असामान्य था । एक ओर नागों का विद्रोह, दूसरी ओर ब्राह्मण-क्षत्रिय-सघर्ष । इसी द्वन्द्वात्मक स्थिति में राजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने शासनाधिकार प्राप्त किया । शासन के प्रथम चरण में ही अनजाने उससे एक ब्रह्म हत्या हो गयी[2] । भारतीय सास्कृतिक परपरा के अनुसार किसी क्षत्रिय राजा द्वारा भयानक नर-सहार या ब्रह्म हत्या हो जाने पर अश्वमेध-यज्ञ कर उसे आत्म-शुद्धि करनी पडती थी । ब्राह्मण रावण की हत्या के बाद इसी कारण पुरुषोत्तम राम चन्द्र को अश्वमेध-यज्ञ करना पडा था । जनमेजय द्वारा आयोजित अश्वमेध यज्ञ के आचार्य इन्द्रोल देवापशौनक थे[3], जिनका उल्लेख महाभारत में भी प्राप्त होता है । अपने पिता की हत्या के षडयत्र म सलग्न काश्यप ब्राह्मणों को जनमेजय ने पौरोहित्य का भार नहीं दिया[4] । इसका प्रबल विरोध असितागिरस काश्यप ने किया था, किन्तु जनमेजय भी अपने सकल्प पर अटल रहे और यज्ञ में इनका ऐन्द्रमहाभिषक तुरकावषेय ऋषि ने कराया[5] । पौराणिक ग्रन्थों के साक्ष्यों से स्पष्ट है कि यज्ञ के समय जनमजय का कृत्या नाग विपत्ति का सामना करना पड़ा । सम्भावित नाग-विद्रोह से त्रस्त और आन्तरिक षडयत्रों एव उपद्रवों से सुरक्षा हेतु उसने नाग-कन्या से उत्पन्न नाग-दौहित्र सामश्रवा को बडे अनुनय-विनय पूर्वक पुरोहित बनाया था । कभी सरस्वती-तट की वासिनी भारतवर्ष की इस प्राचीन नाग जाति ने शक्ति-सचय कर यज्ञ के बीच में ही हस्तिनापुर पर आक्रमण किया । पूरी तत्परता के साथ जनमेजय ने उनका पूर्ण दमन कर तक्षशिला पर अधिकार कर लिया । इस मार से आहत नाग जाति ने विद्रोह समाप्त कर भारतीय साम्राज्य के साथ मैत्री सबध स्थापित कर लिया । श्री कृष्ण द्वारा सम्पादित नवीन महाभारत साम्राज्य की पुनर्योजना का श्रेय जनमेजय के प्रबल पराक्रम, दृढ़ सकल्प और सुशासन को ही हैं ।

स्व० प्रसाद की इस पुस्तक की समस्त घटनाएँ ज्यों-की-त्यों प्राचीन साहित्य में नहीं प्राप्त होतीं । कई स्थलों पर इसके उल्लेख और आभास प्राप्त होते हैं । पुस्तक के प्राक्कथन में स्वर्गीय प्रसाद ने स्वीकारा है कि इस पुस्तक के पाच पात्र कल्पित हैं, फिर भी आख्यान भाग में भारत-काल की ऐतिहासिकता की रक्षा का

1 जनमेजय का नाग यज्ञ प्राक्कथन, पृष्ठ 1 ।

2 शान्ति पर्व, अध्याय-50 ।

3 शत पथ ब्राह्मण, 13-5-4-1 ।

4 ऐतरेय ब्राह्मण, 7-27 ।

5 वही, 8-21 ।

गयी है । वे कल्पित पात्र भी चरित्र और व्यक्तित्व क माध्यम स भारत क इतिहास में अपना मौलिक अस्तित्व रखते हैं । स्वर्गीय प्रसाद की यह भी स्वीकारोक्ति है कि 'इस नाटक में ऐसी कोई घटना समाविष्ट नहीं है, जिसका मूल भारत और हरिवश म न हो[1] ।

प्रसाद के इस नाटक का प्रारम्भ कुकुरवश की यादवी सरमा और वासुकि की बहन मनसा के वार्तालाप से होता हे, जिसमें आर्य और नाग जाति क विरोध का स्वरूप प्रस्तुत हुआ है । मनसा के शब्दों में आर्यों के सदृश उनका (नाग का) भी विस्तृत राज्य था, उनकी भी एक सस्कृति थी । महाभारत युद्ध के बाद अर्जुन के साथ लौटती हुई यादव स्त्रियों को दस्युओं ने लूटा था । सरमा उन्हीं में एक थी, जिसका विवाह नागराज वासुकि से हुआ । मनसा, नागराज वासुकि की बहन थी, जिसका विवाह जरत्कारु ऋषि से हुआ । दोनों के वार्तालाप से यह तथ्य सामने आता है कि सास्कृतिक असमानता के बावजूद आर्यों और नागों में परस्पर वैवाहिक सबध होता था । वासुकि के शौर्य और साहस पर मुग्ध होकर ही सरमा ने आत्म समर्पण और प्रणय-निवेदन किया था, किन्तु इससे भी अधिक उस पर भारतीय आर्य सस्कृति का प्रभाव था जैसा कि वह स्वय स्वीकारती है --- 'मैंने विश्वमैत्री तथा साम्य को आदर्श बनाकर नाग-परिणय का यह अपमान सहन किया है[2] । ओजपूर्ण नाग-रक्त की उत्पत्ति वासुकि की बहन मनसा ने भी 'नाग जाति के कल्याण के लिए अपना यौवन एक वृद्ध तपस्वी ऋषि को अर्पित कर दिया' वह कहती है--'केवल जातीय प्रेम से प्रेरित होकर मैंने अपने ऊपर अत्याचार किया है[3] । प्रसाद जी ने यहाँ एक अद्‌भुत सास्कृतिक सामजस्य का उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें पशु को भी मनुष्य बनाने वाली और सारी सृष्टि तक अनत जीवन-लाभ के लिए प्रेम की धारा बहाने वाली मानव जाति (आर्य जाति) और झाडियों में छिपकर दस्युता करने वाली गुजान जगलों में पशुओं के समान दौडकर छिप जाने वाली इस नाग जाति[4] में पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तर्विवाह का विधान किया गया है ।

सस्कार और सस्कृति परिवेश बदलने पर भी अपना प्रभाव नहीं छोडते । सरमा नाग-पत्नी होकर भी अपने को नागों से एक-रस नहीं कर पायी और मनसा ऋषि-पत्नी होकर भी जाति, सस्कृतिगत अभिमान की लक्ष्मण रेखा से मुक्त न हो सकी । सरमा का अपने पुत्र के साथ प्रस्थान, सजातियों के चरण सिर पर धारण करने का निश्चय तथा हृदयहीन उद्‌दण्ड बर्बरों का सिहासन पैरों से ठुकराने की घोषणा, अपनी सस्कृति के प्रति आस्था, विश्वास एव व्यामोह का ही परिणाम है ।

1 जनमेजय का नाग यज्ञ, तृतीय संस्करण, प्राक्कथन, पृष्ठ 4 ।

2 वही, पृष्ठ 8 ।

3. वही, पृष्ठ 7-8 ।

4 वही, पृष्ठ 3 ।

प्रथम अक के द्वितीय दृश्य में गुरुकुल के उपवन का दृश्य है । कुलपति वेद की पत्नी दामिनी और उनका शिष्य उत्तक मच पर आते हैं । महीनों से अनुपस्थित गुरु की अग्निशाला इत्यादि की परिचर्या में वह तत्परता से विनम्र आज्ञाकारी शिष्य की भाति लगा है । उत्तक के पौराणिक अस्तित्व के कोई सकेत नहीं प्राप्त होते और स्वय प्रसाद के अनुसार दामिनी कल्पित है । गुरुपत्नी दामिनी के सवाद से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि वह उत्तक पर आसक्त है । "जो फूल ऋतु में विकसित हो, उसे अपनी तृप्ति के लिये तोड लेना चाहिए, नहीं तो वह कुम्हला जायेगा, व्यर्थ झड जायेगा । इसलिये उसका उपयोग कर लेना चाहिए"[1] उत्तक का हाथ पकड कर गूथी माला अपने जूडे में लगवाने का उपक्रम, पुरुष-स्पर्श से शरीर में कपन, उसकी उसी मशा के प्रमाण है । सभवतः, नाटककार ने उत्तक के आत्म सयम शील और चारित्रिक उत्कर्ष दिखाने के लिए ही दामिनी की काल्पनिक स्थिति निश्चित की थी । उत्तक के सबध में गुरू वेद की यह पक्ति-'तुम्हारे शील ने विद्या को और भी अलकृत कर दिया है[2] उसके आदर्श चरित्र के प्रमाण-पत्र हैं । पर-धन को तुच्छ त्याज्य और पर-दारा एव गुरु-पत्नी को मातृवत् मानने की भारतीय सास्कृतिक आदर्श स्व० प्रसाद ने उसके द्वारा प्रतिष्ठापित कराया है । गुरू से दक्षिणा की माला मागने पर गुरूपत्नी का रानी के मणिकुडल लाने के आदेश पर भी उसका अविचलित और सयमित रहना अद्भुत आदर्श का द्योतक है । प्रथम अंक का तृतीय दृश्य शौर्य, साहस और सस्कृति के पर्याय जनमेजय का तुरकावपेय के साथ वार्तालाप से प्रारभ होता है। तुर राजा को सम्राटों की संस्कृति और आदर्श के उपदेश देते हैं कि चक्रवर्ती को उदार-सहनशील और व्यक्तिगत मानापमान से परे होना चाहिए । उनके अनुसार दस्युओं-उच्छृखलों के दमन हेतु युद्ध-यात्रा राज-धर्म है, किन्तु सबसे ऊपर है-"मार्मिकता से प्रजा की पुकार सुनना. .विजयों का व्यवसाय न चलाना. ...सृष्टि की उन्नति के लिए ही राष्ट्र हैं । बल का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जहॉ उन्नति में बाधा हो । केवल मद से उस बल का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए[3] ।

दूसरी ओर अर्थ लोलुप काश्यप अपनी अलग भावना और सस्कृति का परिचय देता है । वह क्रोधाभिभूत हो तुर के पूर्वजों को क्या कुछ नहीं कह जाता। राजतंत्र पर भी अपना नियत्रण रखने की भावना से ग्रस्त, वह चाहता है कि राजतत्र अध्यात्म गुरु ब्राह्मण के निर्देश पर कार्य करे । उसकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है-'नियत्रित राष्ट्र के नियमन का अधिकार ब्राह्मणों को है[4] । प्रसाद जी के ही

---

1 जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ 12 ।

2 वही, पृष्ठ 15 ।

3 वही, पृष्ठ 17 ।

4. वही, पृष्ठ 18 ।

नाटक 'चन्द्रगुप्त' के नियता पात्र चाणक्य के ब्राह्मणत्व के सामने इसका ब्राह्मणत्व छिछला, दूषित और महत्त्वहीन प्रतीत होता है । उसका सारा अह, ब्राह्मणत्व मणिकाचन पूर्ण दक्षिणा की थाली पाते ही सतुष्ट और मौन हो जाता है तथा वह सम्राट-सम्राज्ञी के चाटुकारितापूर्ण गुणगान और उनकी मगल कामनाएँ करने लगता है ।

राष्ट्र की शीतल छाया सतुष्ट तपस्वी, महात्मा, त्यागी, तुर प्रजा-हितैषी राजा जनमेजय के ऐन्द्र महाभिषेक कराने का अपना कर्त्तव्य पालन कर, सारी दक्षिणा काश्यप को देकर विदा लेते हैं । काश्यप अभिषेक के बाद परिषद्-गृह में ही नाचरग के आयोजन की अपनी स्वीकृति[1], उत्तक के साथ अनाकाक्षित तर्क-वितर्क[2] तथा उत्तक के मणिकुडल की माग पर राजधर्म में बाधा डालते[3] तथा अपने चरित्र की दुर्बलता, ईर्ष्या, सयमहीनता और छिछोरेपन का परिचय देता है । ऐसा प्रतीत होता है कि वह असस्कृति का पर्याय है । अपने ही गुरुकुल के स्नातक ब्रह्मचारी के दर्शन कर जनमेजय गुरुकुल से सपृक्त अपनी स्मृतियों में खो जाता है । उत्तक को सम्राज्ञी वपुष्टमा विजय में प्राप्त तक्षक वश का अमूल्य मणिकुडल बिना झिझक सत्वर दे देती है । दृश्य के अत में नागराज वासुकि की पत्नी सरमा यज्ञशाला में घी जूठा करने के अभियोग में अपने पुत्र के पीटे जाने पर सम्राट् जनमेजय से न्याय की याचना करती दीखती है । नागों के प्रति घृणाभाव के कारण दृढ सकल्पवान सम्राट् दस्यु वश की पतिता, असभ्या महिला का कोई तर्क नहीं सुनता। सरमा कृत्या और कराल छाया से राजकुल के आक्रान्त होने के शाप देकर चली जाती है । सरमा अपने पुत्र माणवक् के साथ उपेक्षा और अपमान के प्रतिशोध की योजनाएँ बनाती है, किन्तु अपनी सस्कृति, उसे न तो गुप्तरूप से हत्या करने की प्रेरणा देती है, न नाग कुल से मदद लेने की । नागवश के रक्त की सतान माणवक प्रतिशोध, प्रतिहिसा की ज्वाला में कुछ भी करने को तैयार है-आत्मघात तक । पाचवें दृश्य में अर्थ-लोलुप, ईर्ष्यालु प्रवृत्ति का काश्यप उत्तक को मणिकुडल दिये जाने का दु:ख नहीं सहन कर सकने के कारण तक्षक से सम्पर्क स्थापित करता है । दोनों के वार्तालाप में क्षत्रिय-विरोध के स्वर निकलते हैं । नागनाथ तक्षक भी अपने हारे मणिकुडल की प्राप्ति के लिए लालायित है । क्षत्रिय प्राचीन सस्कार वश ब्राह्मण के नेतृत्व का विरोध नहीं करते । काश्यप नागराज को तपबल से क्षत्रिय बनाने का लोभ देता है और क्षत्रियों के साथ रक्त-मिश्रण (रक्त सबध) का परामर्श भी ।

मणिकुडल लेकर लौटता उत्तक विश्राम की खोज में तक्षक के पास पहुँचता

---

1 जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ 21 ।

2 वही, पृष्ठ 22 ।

3. वही, पृष्ठ 23 ।

है । तक्षक थककर सोये उत्तक की हत्या का प्रयास करता है, कश्यप चिल्लाकर उसे ब्रह्म हत्या करने से मना करता है और सरमा अकस्मात् प्रवेश कर उसका हाथ पकड लेती है । ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, सत्यशील, ब्रह्मतेज से युक्त उत्तक सक्रोध तक्षक के विनाश का शाप देता है-आक्रोश में तक्षक सरमा की ही हत्या करने की उद्यत होता है, किन्तु वासुकि उसका हाथ पकड लेता है । सरमा अपने पति वासुकि के इस मनुष्यतापूर्ण आचरण के लिये हृदय से बहुत प्रसन्न होती है और अपने साथ चलने का पति का आग्रह नहीं ठुकराती । छठा दृश्य गुरुकुल का दृश्य है, जहा कुछ स्नातक अपने उल्टे-सीधे विचार व्यक्त करते दिखाये गये हैं । दामिनी पुनः वासना की ज्वाला में जलती दिखायी गयी है । उसके मानस पटल पर उसकी कामना का लक्ष्य-उत्तक-छाया हुआ है । मणिकुडल लेकर प्रस्तुत होने पर उत्तक को अपने हाथों पहनाने का उसका आग्रह उद्दामवासना का अलबम है । वह कहती है-"उत्तक ! तुम मुझे छूने में हिचकते क्यों हो ? आज मैं स्पष्ट कहना चाहती हूँ[1] ।" इस पर सस्कृति के आदर्श पुत्र उत्तक का उत्तर-'चुप रहो देवि ! यदि ईश्वर का डर न हो, तो ससार से तो डरो । पृथ्वी के गर्भ में असख्य ज्वालामुखी हैं, कदाचित् उनका विस्फोट ऐसे ही अवसरों पर हुआ होगा । तुम गुरु-पत्नी हो, मेरी माता के तुल्य हो[2]-बडा ही आदर्शपूर्ण, सास्कृतिक और उत्प्रेरक है । इस अक के अतिम दृश्य में जनमेजय द्वारा मृग के धोखे में जरत्कारु ऋषि की हत्या का विवरण मिलता है । मन बहलाने हेतु मृगयाखेट के क्रम में हुई ब्रह्म हत्या के इस पाप की शाति का उपचार ऋषि ही बताते हैं कि उनका पुत्र आस्तीक इस ज्वाला से उसे शान्ति दिलायेगा । जनमेजय के हाथों जलग्रहण कर ऋषि उसे क्षमादान कर अपना प्राण त्याग देते है ।

दूसरे अक का प्रारम्भ तक्षक की पुत्री मणिमाला और मनसा से उत्पन्न जरत्कारु के पुत्र आस्तीक के वार्त्तालाप से हुआ है । वस्तुतः, दार्शनिकता से पूर्ण इस वार्तालाप से कथानक को कोई बल-सहयोग नहीं मिलता । मणिमाला के सवाद में आकुल हृदय की व्याकुल वाणी मुखर हुई है-'हम लोगों के कोमल प्राणों में एक बडी करुणामयी मूर्च्छना होती है । ससार को उसी सुदर भाव में डुबा दूँ, उसी का रंग चढा दूँ, यही मेरी परम कामना है ।... ऐसे कोमल हृदय पर हाड मास का आवरण क्यों, जो....हृदय को हृदय से मिलने नहीं देता[3] । मणिमाला के उद्गार जितने दार्शनिक हैं, उसकी भाषा उतनी ही काव्यात्मक । महर्षि च्यवन के आश्रम के समीप जलप्रपात के निकट जनमेजय की मुलाकात मणिमाला से होती है । पारस्परिक परिचय के बाद दोनों एक दूसरे पर आसक्त-अनुरक्त होते हैं । उदारशीला मणिमाला का तत्काल आतिथ्य तो वह नहीं ग्रहण करता, किन्तु पुनः

---

1 जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ 36 ।

2 वही, पृष्ठ 36-37 ।

3 वही, पृष्ठ 39 ।

उस पवित्र, सौन्दर्यपूर्ण, मुखमडल के दर्शन की लालसा लेकर वह विदा लेता है। आसक्ति के उसके स्वर कितने विनम्र, मधुर, मुखर और शिष्ट हैं-''मैं तो तुम सी नाग कुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ[1] मणिमाला की अनुरक्ति भी समानान्तर है । जनमेजय की 'उदारता व्यजक मूर्ति, तेजोमय मुखमडल, शत्रुता की वस्तु नहीं है[2]-ऐसा वह स्वीकारती है । मन में उठे इस तरह के विचार को पहले वह अपनी विश्वमैत्री का भाव तथा सरमा की शिक्षा का प्रतिफलन मानती है, क्योंकि हर सुन्दर व्यवहार वाले से वह स्नेह करती है, किन्तु कुछ ही पल बाद स्थिति उसे कुछ और ही दीखती है-'यहॉ तो अन्त करण में एक तरह की गुदगुदी होने लग गयी[3] । यह सात्त्विक प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण है, अपूर्व भी प्रथम दृश्य के अत में सोमश्रवा की भावी पत्नी शीला और मणिमाला का सुन्दर हास-परिहास प्रस्तुत है । दूसरे दृश्य में वेद की पत्नी दामिनी और सरमा के पुत्र माणवक की मुलाकात हुई । दामिनी रास्ता भूली हुई है । वह दर-दर की ठोकरें खाकर भी उत्तक से अपने प्रणय-अस्वीकार के लिये प्रतिशोध चाहती है । काव्यात्मक सवाद और दर्शन में खो जाने वाला माणवक तथा द्वेष, प्रतिहिसा, प्रतिशोध के लिये दामिनी तक्षक की शरण में जाती है तथा तक्षक को अपने पक्ष में मिलाने और विशेष भडकाने के लिये मणिकुडल देने का लोभ देती है और यह कहकर बरगलाती है कि अपनी हत्या के विफल प्रयास का बदला लेने के लिये उत्तक जनमेजय की शरण में जा चुका है । तीसरे दृश्य मं जनमेजय-उत्तक- वार्त्ता का सदर्भ है । जनमेजय की चिता व्यक्त हुई है कि जनपद में उसके स्वेच्छाचारी होने तथा जानबूझ कर ब्रह्म हत्या करने की अफवाहें फैलायी जा रही हैं । उसे पिता के हत्यारे तक्षक, कुमन्त्रणा देने वाले काश्यप तथा दरबार से अपमानित होकर निकाली गयी सरमा के षडयन्त्र का पता है । उत्तक उसे मनोबल सकलित कर, दृढप्रतिज्ञ हृदय से पिता का प्रतिशोध लेने की सलाह देता है । स्वय भी उसका सकल्प है-'क्रोधाग्नि में दुर्वृत्त नागों को जला कर भस्म करना ।'' उत्तक की प्रेरणा पर ही जनमेजय अश्वमेध यज्ञ के पहले नागयज्ञ की प्रतिज्ञा करता है । वह अपनी पत्नी से कर्म-समुद्र में कूदने, नागदमन और अश्वमेध यज्ञ का संकल्प दुहराता है। चौथा दृश्य तक्षक-निवास के एक प्रकोष्ठ का है । दामिनी प्रतिशोध के लिये भयानक स्थान और इन्द्रजाल में उलझकर चितित होकर भी विचलित नहीं होती। यह मानते हुए कि ''मनुष्य जब एक बार पाप के नागयज्ञ में फँसता है तब उसी में लिपटता जाता है[4] । नशे में चूर तक्षक-पुत्र अश्वसेन दामिनी के साथ अभद्र व्यवहार करना चाहता है । कलुषित मानस और पवित्र शरीर लिये वह सफाई देती

1 जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ 44 ।

2, वही, पृष्ठ 44 ।

3 वही, पृष्ठ 44 ।

4, वही, पृष्ठ 54 ।

और चिल्लाती है । मणिमाला आकर उसे बचाती है और अश्वसेन को धिक्कारती है । पाचवें दृश्य में तक्षक, काश्यप, सरमा, कुछ अन्य नाग और ब्राह्मण एकत्र हैं । तक्षक आर्य-विनाश का सकल्प दुहराता है, सरमा काश्यप से वाक्‌युद्ध में उलझ जाती है और अपने अपमान का बदला षडयन्त्र द्वारा नहीं, शौर्य द्वारा लेने का सकल्प सुनाती है । काश्यप की मत्रणा पर तक्षक उसे मार डालना चाहता है, किन्तु मनसा उसे मुक्त करा देती है । मनसा द्वारा जनमेजय की सेना के भयकर आक्रमण की सूचना मिलती है । बदी नाग रोषपूर्ण आर्य सैनिकों की विवेक शून्य स्थिति में अग्नि-दाह का दड भुगतने को विवश है । गाव-के-गाव दग्ध हो चुके । जनमेजय की क्रोधाग्नि में प्रतिकार स्वरूप नाग वैसे ही जलकर भस्म हो रहे हैं, जैसे उनकी ज्वाला में परीक्षित हुए थे । त्रस्त और आतकित तक्षक मनसा के साथ सुरक्षित स्थान की ओर चला जाता है और ब्राह्मण अपना आक्रोश काश्यप पर उतारते हैं । छठे दृश्य के प्रारंभ में शीला और सोमश्रवा का वार्त्तालाप है । सोमश्रवा राजपुरोहित रहना नहीं चाहता । वीभत्स हत्या काड उसके मन प्राण पर छाया हुआ है । च्यवन ऋषि सोमश्रवा को संस्कृति और ब्राह्मण-धर्म के उपदेश देते हैं कि ब्राह्मणों को राजधर्म और अवगुण से मुक्त हो दया, उदारता, शील, आर्जव, और सत्य का अनुसरण करना चाहिए । भारतीय सस्कृति के अनुसार ब्राह्मणों की सच्ची महत्ता धर्माचरण और त्याग करने में है । धर्म, अर्थाश्रित न हो। सातवें दृश्य में तक्षशिला की एक घाटी में जनमेजय का नागयज्ञ पूर्ण होता है । चण्डभार्गव और एक नाग के वार्त्तालाप में शाति, देशभक्ति को सर्वोपरि माना गया है । आर्य सस्कृति दया, क्षमा और शील के साथ ही दस्यु, अनार्य, क्रूर को क्रोध की धधकती ज्वाला में स्वाहा कर डालने के निर्देश भी देती है । नागयज्ञ में हुए सर्प-हवन के बावजूद मनसा और तक्षक बच निकलते हैं । आठवें दृश्य में प्रायश्चित करती दामिनी माणवक से निरापद स्थान पर पहुचाने का आग्रह करती है । उल्का सी अनन्त लक्ष्यहीन पथ में भ्रमण करती दामिनी पति-चरणों पर गिर कर क्षमा-याचना करती है । क्षमामूर्ति वेद मानसिक दुर्बलताओं से पीडित, किन्तु पवित्र और शुद्ध शरीर वाली पत्नी-दामिनी को क्षमा प्रदान कर साथ लेकर यज्ञशाला की ओर चल पडते हैं । उनके साथ माणवक और त्रिविक्रमणी हैं । सरमा जनमेजय के राजमन्दिर में पहले से ही विद्यमान है ।

नाटक के तीसरे अक के प्रारभ में जनमेजय और वेदव्यास की वार्ता है, जिसमें पाप एव नियति की दार्शनिक व्याख्या की गयी है । यह विश्वजनीन सत्य है कि 'दभ और अहकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीडा कन्दुक हैं । अन्य नियति मत्त मनुष्यों की कर्मशक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य करती हैं, ..इसमें व्यक्तितत्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता'[1] । परमात्मशक्ति द्वारा उत्थान

---

1 जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ 69 ।

का पतन और पतन का उत्थन कराना ही दभ-दमन हे । व्यास उसे अतरात्मा को प्रकृतिस्थ करने और शान्त रखने का निर्देश देत हैं । भविष्य जानने की उसकी प्रबल इच्छा पर ऋषि की यह भविष्यवाणी बडी कटु, किन्तु अवश्यभावी है --- 'तुम्हारा जीवन श्री कृष्ण के लिए हुए एक आरम्भ की इति करने के लिए है[1] । व्यास की भविष्यवाणी है -- 'ब्राह्मणों की उत्तेजना से तुमने अश्वमेध यज्ञ का जो दृढ सकल्प किया है, उसमें कुछ विघ्न होगा[2] । धर्म के नाम पर होनेवाली हिसा के रुक जाने के सकेत के साथ साहसपूर्वक यज्ञ करने की मत्रणा भी वे राजा को देते है, जिससे वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्ति पा सके । हृदय का आनन्द, उल्लास, शान्ति और रमणीयता देने वाली, भावना और कल्पना की प्रत्यक्ष सगमस्थली, वेदव्यास की तपोभूमि में सोमश्रवा, शीला, आस्तीक और मणिमाला, तन्मय दीखते हैं, जहॉ वन-लक्ष्मी स्वय आतिथ्य को तत्पर रहती है । वेदव्यास सस्कृति के मूलमन्त्र सुनाते हुए 'विश्व भर के कल्याण में सबको दत्तचित्त' होने का सदेश देते हैं, जिससे धर्म का शासन बिगडने न पावे । इस दृश्य में व्यास की व्याप्ति सबके मस्तिष्क और हृदय-परिवर्तन तथा सस्कृति को परिपृष्ट भूमिका देने के लिये हुई है । दूसरे दृश्य में महारानी वपुष्टमा के स्वगत बडे महत्व रखते हैं । नारी हृदय दया-क्षमा-करुणा का सगम स्थल होता है, वह भला यह क्यों सहन करे कि धर्म की आज्ञा और ब्राह्मणों के निर्णय पर एक व्यक्ति की हत्या के प्रायश्चित हेतु असख्य हत्याओं का विधान किया जाय । परिचायिका बनी कलिका सरमा का छद्म रूप है । वह वपुष्टमा को दो करुणा भरे गीत सुनाती है । आज के भौतिक विर्श्व में जब एक रोता है, तभी दूसरे को हसी आती है । महारानी को विशेष धैर्य, शान्ति और साहस उत्तक के आशीष और सान्त्वना से मिलते हैं । अगले दृश्य में पहाड की तराई में युद्ध और नागों द्वारा अश्वयज्ञ रोकने की तैयारियॉ दीखती है । मनसा प्रेरणा स्रोत बनी हुई है । आस्तीक और मणिमाला के लाख मना करने पर भी वे नहीं मानते । अश्व रोका जाता है, उत्साही आर्य सैनिक नागों पर टूट पडते हैं । भीषण रक्तपात के बाद जनमेजय अश्व छुडा लेते हैं । पुनः राजा के लिये मणिमाला के ये उद्गार बडे स्निग्ध, मसृण और हृदयस्पर्शी हैं-'क्या ही वीर दर्प से पूर्ण मुखश्री है । प्रणय-वृक्ष तू कैसे भयानक पानी से टकराने वाले कगार पर लगा है[3] । मणिमाला के कटुवाक्य, व्यग्यवाण की तरह उसके (मनसा के) अन्तस्थल को भेद देते हैं । अन्ततः पश्चाताप करती हुई वह स्वीकारती है-'यदि स्त्रिया अपने इगित की आहुति न दें, तो विश्व में क्रूरता की अग्नि प्रज्ज्वलित नहीं हो सकती । बर्बर रक्त को खौला

---

1. जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ 71 ।
2 वही, पृष्ठ 71 ।
3 वही, पृष्ठ 83 ।

देना इन्हीं दुर्बल रमणियों की उत्तेजनापूर्ण स्वीकृति का कार्य है[1] । चौथे दृश्य में सरमा निज मन की व्यथा में ऊभ-चूभ करती दिखाई गयी है । निरादर, तिरस्कार-पीडित, पति-पुत्र से अलग गीली लकडी की तरह वह मात्र धुधुआती है । इसी दृश्य में काश्यप पौरोहित्य छिन जाने के अपमान का आक्रोश व्यक्त करता है । काश्यप तक्षक से मिलकर यज्ञ-विध्वस के विभिन्न षडयन्त्र करता है । अश्वपूजन में सलग्न ब्राह्मणों को फोडता है । छद्मवेश में तक्षक को महिषी-अपहरण की मत्रणा देता है । सस्कृति और सस्कार वश सरमा काश्यप की नीचता का प्रतिकार करती है और आस्तीक की सहायता से वपुष्टमा को बचाने का उपक्रम करती है । दृश्य के अत में नियोजित दामिनी-शीला सवाद कोई तुक और महत्व नहीं रखते ।

पाचवें दृश्य में आस्तीक के सामने मणिमाला का योद्धा वेश में प्रगट होना बडा हृदयावर्जक लगता है । वह रमणियों के सबल रूप का परिचय देती है । कुछ नाग मूर्छित वपुष्टमा को बाहर ले जा रहे हैं । सरमा के रोकने पर भी वे नहीं मानते, किन्तु माणवक के आग्रह पर उसे सौप देते हैं । सरमा के रोकने पर भी वे नहीं मानते, किन्तु माणवक के आग्रह पर उसे सौप देते हैं । मणिमाला, तक्षक की रक्षा में बदी बनाई जाती है, किन्तु सरमा को पता है कि सस्कृतिवश 'आर्यलोग स्त्रियों की हत्या नहीं करते[2] । अगले दृश्य में वेदव्यास के आश्रम में वपुष्टमा, सुरमा, आस्तीक और माणवक के दर्शन होते हैं । सभी अपने उद्‌गार द्वारा पारस्परिक मधुर सम्बन्ध की महत्ता प्रतिपादित करते हैं । सरमा से वपुष्टमा की क्षमायाचना सस्कृति के उस अध्याय का सकेत देती है जहॉ कृतज्ञता करने वाले शत्रु भी मित्र से ऊपर होते हैं । माणवक का भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है । वह वपुष्टमा के प्रति उदार हो चुका है । आस्तीक-माणवक गले-गले मिलकर पुनः अपनी पुरानी मैत्री पर नई मुहर लगाते हैं । दो परस्पर शत्रु बनी भयकर जातियों के बीच शाति-स्थापन का माणवक का प्रस्ताव आज आस्तीक को सहज स्वीकार्य और प्रिय है । एतदर्थ, दोनों समवेत प्रार्थना करते हैं । सातवें दृश्य में मनसा-वासुकि वार्त्तालाप है । मनसा नाग-सहार का उत्तरदायित्व अपने कधों पर लेती हैं । कुछ-क्रुद्ध नाग तक्षक के बन्दी बनाये जाने पर सतुलन खोते हैं, पर वह शाति, सद्‌भाव और सधि कराने का आश्वासन देती है ।

नाटक के अतिम अक के अतिम दृश्य में महिषी के छिपाये जाने तथा अन्य उपद्रव की जड में ब्राह्मणों को समझकर जनमेजय उन पर क्रुद्ध हो निर्वासन-दण्ड देता है । उत्तक से नागयज्ञ का सकल्प दुहराता है, ताकि वह पूर्ण आहुति में तक्षक सहित सभी नागों की स्वाहा कर सके । उत्तक नाग-यज्ञ का आवाहन करता है, शीला के आत्मदाह का भय (एक ब्राह्मणी की आहुति) तक उसे विचलित नहीं

1. जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ 84 ।
2 वही, पृष्ठ 92 ।

कर पाते । प्रज्ज्वलित वहि्न में पडकर नाग क्रन्दन करते हैं । तक्षक की बारी आते ही वेद दामिनी के साथ उपस्थित हो उत्तक का रोकते हैं, किन्तु अतिशय क्रुद्ध जनमेजय इसे अभिनय कहकर यज्ञाहुति में तक्षक को डालने का आदेश देता है । तभी सरमा, मनसा, आस्तीक और माणवक के साथ व्यास का पदार्पण होता है । आस्तीक राजा से अपने ऋषि पिता की हत्या के न्याय में क्षतिपूर्ति की याचना करता है । व्यास की सहमति पर क्षात्रधर्म का निर्वाह करते हुए जनमेजय अपना रक्त देने को तत्पर होते हैं, किन्तु आस्तीक की क्षतिपूर्ति है-'दो जातियों मं शान्ति, अपने अह, क्रोध और ईर्ष्या को त्याग कर जनमेजय इसकी स्वीकृति देकर तक्षक को मुक्ति की आज्ञा देते हैं । आस्तीक के स्वर में यहॉ स्व० प्रसाद ने भारतीय सस्कृति के उच्चतम आदर्श को मुखर किया हैं ।

यादवी सरमा भी इसी क्षण अपने पुत्र पर हुए प्रहार का न्याय मागती है, किन्तु प्रतिदान में मणिमाला को वधू रूप में स्वीकृति का वर मागती है । व्यास के निर्देश पर जनमेजय कमल-वन से निकले हुए प्रभात के मलय पवन की भाति पवित्र वपुष्टमा को अगीकारते हैं और वपुष्टता की स्वीकृति-अनुमति पर मणिमाला को । स्व० प्रसाद ने दो परस्पर विरोधी राजकुलों को सबध सूत्र में बाधकर अद्‌भुत, स्पृहणीय आदर्श उपस्थित किया है, जैसे चद्रगुप्त में किया गया था । भारतीय सस्कृति इन्हीं गुणों के कारण विश्व पूज्या रही है, जहॉ उदारता, क्षमाशीलता चारित्रिक गुण-धर्म बनती हैं ।

व्यास इस प्रचण्ड वीर नाग जाति को क्षत्रियत्व का दर्जा देते हैं और सरमा नागों द्वारा आर्यों पर कभी विद्रोह न किये जाने का निश्चय दुहराती है ।

समस्त षडयत्रों के केन्द्र काश्यप की नागों द्वारा हत्या की सूचना और दडित, अपमानित, निष्कासित होने पर भी शाप न देने वाली स्तुत्य, गरिमामयी और क्षमाशीला ब्राह्मण-सस्कृति के गुणगान के साथ नाटक का समापन होता है ।

•••

तृतीय अध्याय

प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक आधार

नाटककार जब इतिहास से तथ्य लेकर ऐतिहासिक नाटक की रचना की ओर प्रवृत्त होता है, तब उसके सामने कुछ उद्देश्य होता है । वह इन कथानकों को आधार बनाना चाहता है, जिनका सबध इतिहास से रहा हो । फिर कथानकों की सत्यता की पुष्टि क लिए वह स्वय भी इतिहास के गह्वर में आकर अपन विषय की खोज करता है । कहा जाता है कि पाश्चात्य जगत् में एसे नाटककार इतिहास के पन्ने पलटते जाते थे और वे अपने श्रम को वहीं विराम देते थे, जहॉ उन्हें अनुकूल सामग्री मिल जाती थी । सच ता यह है कि विश्व के सभी देशों से ऐतिहासिक नाटकों की रचना इसी प्रकार हुई है । यूनान, रोम आदि नाटक के क्षेत्र में बहुत आगे माने जाते हैं । वहॉ भी यही हुआ । वहॉ भी नाटककार का कथानकों की बनी बनायी रूप रेखा मिल गयी है । नाटककार के सामने लक्ष्य रहता है और उद्देश्य रहता है । वह राष्ट्रीय महत्व के महापुरुषों को दिशा-निर्देश करने के लिए अतीत से सामग्री खोजता है और इसके लिए प्राचीन जीवन, समाज और सस्कृति का यथातथ्य चित्रण करता है । उसके सामने युग की अपनी समस्याए होती हैं, किन्तु निदान वह इतिहास में खोजता है । वर्तमान युग की समस्याओं के सीधे समाधान की बातें उतनी प्रभावपूर्ण नहीं हो सकतीं, किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं में प्राप्त निदान प्रकारान्तर से जो प्रभाव छोडते हैं, वे सार्वकालिक, दृढ और अटूट होते हैं । नाटककार युग का शिक्षक होता है, चूंकि वह भी साहित्यकार है, इसलिए नाटककार युगद्रष्टा ही नहीं, युगस्रष्टा भी है । इसलिए वह शासकों, शोषकों, महापुरुषों और समाज के विभिन्न वर्गों को यह सीख देना चाहता है कि अतीत में जिन्होंने ऐसे कर्म किये, उसका परिणाम यह निकला । नाटककार स्पष्ट कहता नहीं, किन्तु आखों में अगुलिया डालकर जैसे वह निर्देश देना चाहता हो कि आदर्श बनने हेतु ऐतिहासिक मान्यताओं के आलोक में अपने चरित्र का गठन आवश्यक है । सस्कृतिया अलग-अलग हो सकती हैं, लेकिन किसी भी सस्कृति में माता-पिता के प्रति कर्तव्य निर्धारण की कमी नहीं मिलती । जहॉ तक यौन सपर्क तथा विवाह-सबध का प्रश्न है--त्रेतायुगीन सस्कृति 'एक नारी ब्रह्मचारी' का सकेत देती है, किन्तु द्वापर युगीन सस्कृति की रूपरेखा कुछ दूसरे ही धरातल पर है । भारत में आज भी आदिवासी सस्कृति यौन सपर्क तथा विवाह सबध में अलग-अलग मान्यताएँ हैं । भारत की यही विशेषता है कि यहॉ विभिन्न सस्कृतियॉ अपने नैसर्गिक रूप में फूलती-फलती रही हैं । इसीलिए भारतवर्ष को सामासिक सस्कृति का देश कहा जाता है ।

प्रसाद इस सामजस्य को जानते थे और वे सामासिक सस्कृति के रहस्य से पूर्णत॰ परिचित थे । इसलिए उनके नाटकों में जो सस्कृति मिलती है, उनमें केवल आर्य सस्कृति नहीं, प्रत्युत यूनानी, ग्रीक, हूण और शक सस्कृति भी है । आकर्षण के तीन आधार हैं--उत्सुकता, उत्कठा और आत्म समर्पण । तीनों आधार व्यक्तिपरक है । सिल्यूकस की कन्या का हृदय कहीं खोया होगा, तो वह व्यक्ति पर राष्ट्र पर नहीं, किन्तु प्रसाद जी ने इसे उदात्त रूप किया है । यदि इतिहास के रूप को यथातथ्य यथावत् रूप दे देते, तो न तो घटना इतनी उदात्त, प्रशसित होती और न महिमा मडित । यह पराजय की विवशता होती, जिसमें प्रायः यौन परितुष्टि की प्रधानता होती है । किन्तु प्रसाद जी के सामने राष्ट्र प्रमुख हैं । अस्तु, 'चन्द्रगुप्त' नाटक में कार्नेलिया चद्रगुप्त के प्रति पहले आकर्षित नहीं होती, वह भारत के प्रति आकर्षित होती है-और अतरात्मा से कहती है-

अरुण यह मधुमय देश हमारा ।
जहाँ पहुच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा[1] ।

प्रसाद ने राष्ट्र के प्रति कार्नेलिया को आकर्षित कराकर केवल भारत का गौरव नहीं बढाया, बल्कि सिल्यूकस के मान की भी अभिवृद्धि की है । ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि सिल्यूकस की कन्या भोग्या नहीं राजरानी है । वह चद्रगुप्त की पत्नी इसलिए नहीं है कि चन्द्रगुप्त की विजय हुई थी, अपितु वह उसकी पत्नी इसलिए है कि वह भारत के गौरव के प्रति आकर्षित रही और उसके पिता तुल्य गुरु चाणक्य ने सन्धि-नियम के अनुसार आदर्श विवाह कराया । विवाह की यह वह रूपरेखा है, जो भारतीय संस्कृति में माता-पिता, गुरु अभिभावक का उत्तर दायित्व होता है । इतिहास में इसका प्रमाण मिलता है कि चद्रगुप्त और सिल्युकस में युद्ध हुआ था, सिल्युकस पराजित था और विजयी था चन्द्रगुप्त । लौकिक सपदाओं के अतिरिक्त वैवाहिक, सबधों के द्वारा दोनों में सुलह हुई थी, किन्तु इतिहास में इसका कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता कि सिल्यूकस ने चद्रगुप्त को कन्यादान किया था । कन्यादान कराकर प्रसाद जी ने दोनों ही सस्कृतियों को उच्चतर उठाया है ।

यह और बात है कि उन्होंने ऐतिहासिक सत्य में सोद्देश्य कल्पना का पुट मिलाया है । किन्तु, यह तो साहित्यकार का खुला अधिकार-कर्त्तव्य होता है । यदि वह ऐसा न कर सके तो इतिहास और नाटक दोनों ही शास्त्र की दो शुष्क विधाएँ रह जाय । सत्य में स्वल्प कल्पना के सहारे सरसता का संचार होता है । प्रसाद के नाटकों के ऐतिहासिक आधार के द्वारा इस बात की पुष्टि हो जाती है कि प्रसाद जी ने इतिहास के उन्हीं अशों को साहित्य के साचे में ढाला था, जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रेरणा दायक तो हो ही, उदात्त भी हो । इसलिए उनके समस्त नाटकों में इतिहास की कोई उच्छृखल घटना का नामोनिशान नहीं । सत्यता

1 चन्द्रगुप्त ।

और सभाव्यता की तुला पर प्रसाद के नाटकों का मूल्याकन प्रस्तुत है ।

राज्यश्री : ऐतिहासिक आधार

'राज्यश्री' नाटक के कथानक का ऐतिहासिक आधार मूलतः हर्ष-चरित है । काषेल एण्ड थामस ने जो हर्षचरित प्रस्तुत किया उस पर डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल की आलोचना -- हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन -- का भी महत्वपूर्ण स्थान है । नाटककार ने रत्नावली रचित श्रीहर्ष और मच्छकटिक शूद्रक का भी अध्ययन किया था ।

राज्यश्री के सबध में जो कथानक मिलते हैं उनका स्रोत -- इपिग्राफिका इण्डिका, वाल्टस रचित सुएनच्यांग की यात्रा तथा हिस्ट्री आफ कन्नौज आदि के प्रमुख स्थान हैं । वस्तुत, राज्यश्री से सबन्धित घटनाओं के विवरण स्व० प्रसाद ने चीनीयात्री सुएनच्याग के यात्रा-वर्णन से ही अधिक लिया है, वैसे वाण रचित हर्षवर्धन से भी उन्होंने विपुल सामग्री प्राप्त की है । इतिहास में जो सामग्री मिलती है, उससे यह ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी में गुप्त शासकों का प्रभुत्व जब नष्ट होने लगा, तब मालव नरेश यशोधर्मदेव ने हूण-मिहिर कुल को परास्त किया था। मगध की बढती हुई शक्ति उस समय क्षीण हुई थी और अपेक्षा कृत मालव-राज्य शक्तिशाली हो गया था । भौगोलिक स्थिति के अनुसार मालव उत्तर पश्चिम सीमा पर था, जहाँ हूणों का अविरल आक्रमण हुआ करता था । इसलिए मालव की सुदृढ़ और शक्तिशाली नींव सुदृढ़ नहीं रह सकी । लगभग सौ वर्ष बाद अर्थात् 7वीं शताब्दी में वर्धन वंश ने शक्ति-सचय किया । मालव के पूर्वी भाग मगध और गौड़ आदि प्रदेशों पर गुप्त शासकों का आधिपत्य था और मालव की स्थिति प्राय: छिन्न-भिन्न थी । इपिग्राफिका इण्डिका से इस बात का स्पष्ट आभास मिलता है कि नरेन्द्र गुप्त नामक गौड़ कुमार ने मौखरी और वर्धनों की सम्मिलित राज्यशक्ति को उलटने का सकल्प लिया था[1] । चीनी यात्री सुएनच्यांग के वर्णन में घटना का साम्य तो है, किन्तु नाम में अन्तर है । सुएनच्यांग के अनुसार उसका नाम शशाक था[2] । एपिग्राफिका इण्डिका से यह पता चलता है कि महाराजाधिराज प्रभाकर वर्धन की मृत्यु के बाद राज्यवर्धन स्थाणीश्वर के अधिपति हुए थे । राज्यवर्धन प्रभाकर वर्धन के ज्येष्ठ पुत्र थे । नरेन्द्र गुप्त ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की कि कान्यकुब्जाधीश ग्रह वर्मा की हत्या मालवेश देवगुप्त ने कर दी और प्रभाकर वर्धन की कन्या राज्यश्री बंदी बना ली गयी[3] । राज्यवर्धन को अपने बहनोई की हत्या का समाचार मिला और बहन पर आगत विपत्ति की आशंका से वह अस्थिर हो उठा । इसलिए बहन से मिलने के लिए वह कान्य कुब्ज की ओर चल पड़ा । राज्यवर्धन ने बड़ी निपुणता के साथ कान्यकुब्ज का

1 इपिग्राफिका इण्डिका, भाग 1, पृष्ठ 70 ।
2 वाल्ट्स सुएन च्वाग की यात्रा, पृष्ठ 343 ।
3. इपिग्राफिका इण्डिका, भाग 1, पृष्ठ 72 एवं 74 ।

उद्धार किया, किन्तु वह एक छल का शिकार हो गया । गौड राजकुमार नरेन्द्र गुप्त न अपनी कन्या का विवाह म दकर अधीनता स्वीकारने का नाटक तो किया किन्तु अवसर आते ही उसन राज्यवर्धन की हत्या कर दी ।

राज्यवर्धन ने जब कान्यकुब्ज की ओर प्रस्थान किया था तब उसने हर्षवर्धन को आज्ञा दी थी कि वह हस्तसेना और अश्वसेना लेकर पीछे से आये । हर्ष न अपनी अद्‌भुत शक्ति स मालव और गौड के षड्यत्र का ध्वस्त कर दिया किन्तु इसी समय नरेन्द एक चाल चल बैठा । उसने चाहा कि भण्डी को धाखा द दिया जाय और इस हेतु उसन कारागार से राज्यश्री को स्वतत्र कर दिया । इसी बीच हर्षवर्धन का भाई की मृत्यु का समाचार मिला । प्रतिशोध की ज्वाला में ज्वलित हर्षवर्धन ने प्रस्थान तो किया, किन्तु इसी बीच उसे यह ज्ञात हुआ कि राज्यश्री को कारागार से मुक्त कर दिया गया है और वह विध्याचल की ओर कूच कर गयी है । हर्षवर्धन ने सेना को गगा किनारे छोड दिया और राज्यश्री की खोज में वह विध्याचल की ओर चला । 'द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' स यह ज्ञात होता है कि हर्षवर्धन ने राज्यश्री का सती होने स रोका । वहीं दोना भाई-बहनों न यह सकल्प लिया कि दोनों भाई-बहन काषाय-ग्रहण करेंगे। फिर सयुक्त रूप से दोनों न लौटकर कन्नौज पर शासन भी किया[1] । इसी इतिहास म यह भी ज्ञात होता हे कि चालुक्य राज पुलकेशिन द्वितीय अत्यत प्रतापी था। उसे परास्त कर हर्षवर्द्धन क लिय नर्मदा नदी से आगे बढना सभव नहीं था । इसलिय हर्ष ने नर्मदा को ही अपनी सीमा मान ली । इतिहास से यह भी पता चलता है कि हर्षवर्धन ने धर्म की एक विराट् सभा का आयोजन किया था। इसमें धर्म का समन्वय वादी दृष्टिकोण अपनाया गया था । सुएनच्याग इस धर्म सभा में उपस्थित था । इसी तथ्य को आधार मानकर प्रसाद जी ने 'राज्यश्री' नाटक का ताना-बाना बुना है । इनके आधार पर राज्यश्री का जो रूप निखरा हे, उसमें वह निश्चय ही आदर्श पूर्ण आर्य नारी है । सरलता, सुन्दरता और स्वस्थता से विभूषित राज्यश्री पतिपरायण ओर विचारशील नारी है ।

नाटक के प्रथम अक के प्रथम दृश्य में नदी तट के उपवन में शान्तिदेव और सुरमा की वार्ता तथा देव गुप्त की उपस्थिति आदि के सबध में जो कथानक प्रस्तुत किया है उसका इतिहास से कोई सबध नहीं है । सम्पूर्ण दृश्य पूर्णत. काल्पनिक हे । इतिहास में इसका प्रमाण मिलता है कि ह्वेनसाग को एक डाकू न परेशान किया था । इसलिए सुरमा और शातिदेव का उद्देश्य सपन्न घटनाओं की सूचना देना है । महारानी राज्यश्री द्वारा बौद्ध भिक्षुओं को दान की बात तो इतिहास में मिलती है, किन्तु इतिहास स यह नहीं पता चलता कि ग्रह वर्मा की मृत्यु क पहले भी राज्यश्री दान-पुण्य किया करती थीं । हर्षवर्धन क पूर्व इस कुल

द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पृष्ठ 351 ।

के काई राजा बाद्धा क प्रति आकर्षित नहीं थे । हर्षवर्धन न अपने धर्म म समन्वयकारी प्रवृत्तियों का प्रश्रय दिया, जिसके परिणामस्वरूप राज्यश्री द्वारा भिक्षुआ का दान दना भी एतिहासिक सभाव्यता का सकेत देता हे । 'हर्षचरित' स यह ता ज्ञात होता ह कि मालव राजदव गुप्त न ग्रह वर्मा का वध किया था । कारागृह में राज्यश्री का बन्दी बनाया जाना भी इतिहाम द्वारा प्रमाणित है फिर भी इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि दव गुप्त न किम प्रकार विजय प्राप्त की । एतिहासिक सत्य में कल्पना का समावश ही इतिहास का माहित्य बनाता है । ग्रह वर्मा की युद्ध की आशका, मृगया के लिए उसका प्रस्थान तथा छद्मवेशी देव गुप्त द्वारा कान्यकुब्ज गढ पर विजय भी काल्पनिक घटनाए ह । ऐमी कल्पना का महारा लेने का एक उद्देश्य और भी है-वह है-राज्यश्री का रूप-सौन्दर्य-वर्णन । प्रथम अक के पाचवें दृश्य में राज्यश्री के साथ मत्री आदि जब प्रार्थना करते है, पुष्पाजलि अर्पित करते है, तो मदिर में अट्टहास होता है और राज्यश्री मूर्च्छित होती है । ये सारी घटनाएँ पूर्णत काल्पनिक हैं । अट्टहास से अपशकुन की आशका नाटकीय सौन्दर्य की अभिवृद्धि करती है ।

दूसर अक में सुरमा के उपवन में शातिभिक्षु उपस्थित हाता है और अपना अतर्द्वन्द्व अभिव्यक्त करता है । इसी बीच डाकुआ का प्रवेश होता हे ओर शाति भिक्षु विकटघाष दस्यु के रूप म अपना परिचय देता ह । शाति भिक्षु का उद्देश्य ह-आक्रमण के बीच स राज्यश्री का निकाल ले जाना । इमका इतिहास म कोई प्रमाण नहीं मिलता । 'हर्षचरित' स ज्ञात होता हे कि राज्यवर्धन की हत्या छल म हाती हे, किन्तु इतिहास द्वारा यह भी प्रमाणित हाता है कि हत्या किय जान क पूर्व उमन दवगुप्त का पराजित भी किया था । 'हर्षचरित' द्वारा यह बात प्रमाणित ह कि राज्यवर्धन ने मालव-नरेश का परास्त किया था और उसके उपरान्त छल पूर्वक उमका वध किया गया । प्रसाद जी ने इस नाटक में पहले नरेन्द्र गुप्त की मित्रता फिर दवगुप्त की जीत और तब राज्यवर्धन की हत्या की योजना की । अपन 'पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐनसियट इण्डिया' के द्वारा राय चौधरी न अपना यह विचार व्यक्त किया हे कि दामोदर गुप्त के बाद सेनगुप्त गद्दी पर बैठा था । वह 'हर्षचरित' में उल्लिखित कुमार गुप्त का पिता और मालव शासक था[1] ।

एतिहासिक नाटक के इम रचना तत्र में प्रसाद जी यह भूल गये कि हूणों पर आक्रमण करने राज्य वर्धन तब गये थे, जब प्रभाकर वर्धन जीवित थे । हूणों पर उसकी विजय हुई थी और जब वह स्थाणीश्वर लौटा था, तब उसे अपने पिता प्रभाकर वर्धन के स्वर्गवास की सूचना मिली थी । उसी दिन राज्य वर्धन का ग्रह वर्मा की हत्या का समाचार मिला था और तब उसन कान्य कुब्ज की ओर प्रस्थान

---

1 राय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंसियेंट इण्डिया पृष्ठ 371 ।

किया था । इस प्रकार ग्रह वर्मा और राज्यवर्धन की हत्या में बहुत अधिक अतराल है । यह अतराल 'राज्यश्री' नाटक से प्रकट नहीं होता । उपवन में देव गुप्त और सुरमा जब प्रेमालाप में विभोर थे, तभी विकट घोष यक्ष बनकर उसे सावधान करने का अभिनय करता है । देवगुप्त जिस सुरमा को जीवन की ध्रुवतारिका की सज्ञा देता है, उसके बारे में नेपथ्य में यह कहा जाता है कि यह "तुम्हारे दुर्भाग्य के मद ग्रह की प्रभा है... सावधान, अपनी विपत्ति और अलक्ष्मी से अलग हो जाओ, नहीं तो युद्ध में तुम्हारा निधन होगा । . .यदि तुम्हें मृत्यु का आलिगन न करना हो तो सुरमा के बाहुपाश से अपने को मुक्त करो"[1] । यह सारी घटना काल्पनिक है । इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता । 'हर्षचरित' से यह ज्ञात होता है कि 'गुप्त' नामधारी किसी कुल पुत्र के द्वारा राज्यश्री का निष्कासन हुआ है । प्रसाद जी ने विकट घोष दस्यु के द्वारा राज्यश्री को कारागृह से मुक्त करवाया है । इतिहास से इतर इस योजना का रहस्य स्पष्ट नहीं होता ।

राज्यवर्धन की मृत्यु की खबर सूच्य रूप में मिलती है । मदिरा का मुक्त प्रचलन होता है और साथ ही प्रारभ होता है-सुरमा का मादक नृत्य । तभी जब सुरमा गा रही थी, तो वहीं पास खडे राज्यवर्धन के हाथों मदिरा का पात्र था उसकी मदिर आखें सुरमा पर पडी थीं । अनुचर मद-विह्वल थे तभी सहसा विकट घोष की आँखें चमक उठीं और ज्योंही राजकुमार ने हाथ बढाकर सुरमा से दूसरा पात्र मागा, विकट घोष ने भीषणता से उस पर प्रहार किया । प्रहार इतना भीषण था कि कवित्त की बात कौन कहे वह छूरी पत्थर का भी कलेजा छेद देती । यह बात काल्पनिक प्रतीत होते हुए भी 'हर्षचरित' द्वारा समर्थित है । हा, घटना क्रम में स्वल्प परिवर्तन भी है । 'हर्षचरित' के अनुसार नरेन्द्र गुप्त ने राज्यवर्धन से छलपूर्ण सन्धि का प्रस्ताव किया । साथ ही उसने यह भी कहा कि वह राज्यवर्धन के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देगा । राज्यवर्धन इस जाल में फस गये और विवाह की आशा से प्रभावित होकर बिना किसी शस्त्र के ही शत्रु-सेना शिविर में प्रविष्ट हुए । वहीं उनकी हत्या की गयी । ह्वेनसाग ने भी यह स्वीकार किया है कि राज्यवर्धन की छल पूर्वक हत्या की गयी है । राज्य वर्धन की हत्या का आयोजन इतनी चालाकी से किया गया है कि इससे नरेन्द्र देव पर से संदेह उठ जाता है । परिस्थिति ऐसी है कि सुरमा पर मद्यप-सा आसक्त राज्यवर्धन अभिनय करता है । सुरमा का प्रेमी विकट घोष इसको सहन नहीं कर पाता और आवेश में वह राज्य वर्धन की हत्या कर देता है । इतिहास में इसका स्पष्ट प्रमाण भले ही न मिले, किन्तु ऐतिहासिक संभाव्यता की रक्षा में ये घटनाएँ पूर्णतः सक्षम हैं ।

दिवाकर मित्र के तपोवन में राज्यश्री चिता में प्रवेश का निर्णय लेती है और

1. राज्यश्री, पृष्ठ 43-44 ।

तदनुरूप तैयारी शुरू होती है । चिता प्रज्ज्वलित होती है और राज्यश्री उसमें प्रवेश करने का उपक्रम करती है । ठीक इसी समय हर्ष वहाँ पहुँचता है और बहन को चिता में प्रवेश करने से रोक देता है । अत में लोक-सेवा करके काषाय ग्रहण करने का दोनों निर्णय लेते हैं । यह घटना इतिहास द्वारा प्रमाणित है, किन्तु प्रसाद जी ने इसमें बहुत अधिक तोड-मरोड भी किया है । 'हर्षचरित' से यह ज्ञात होता है कि राज्यश्री ने जब राज्यवर्धन की हत्या का समाचार सुना तो उसने अनाहार रहना प्रारभ किया । जब वह अधिक जर्जर हो गयी, तब अत में उसने चिता में प्रवेश कर जाने का निर्णय किया । इसी बीच हर्ष अपनी बहन की खोज में इधर-उधर भटकता रहा, तभी उसे दिवाकर मित्र के आश्रम में आकर एक भिक्षु ने बताया कि हताश और निराश एक स्त्री अग्नि-प्रवेश की तैयारी कर रही है हर्ष वहा पहुचा और उसके बहुत समझाने-बुझाने पर राज्यश्री ने अपना हठ छोड दिया, किन्तु उसने काषाय-वस्त्र ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की । हर्ष की यह इच्छा नहीं थी कि राज्यश्री इस अल्पावस्था में ही काषाय-ग्रहण कर भिक्षुणी के रूप में जीवन व्यतीत करे । अभी हर्ष भी शत्रु से बदला लेना चाहता था, इसलिए उसने मुनि से प्रार्थना की कि कुछ दिनों तक वे राजधानी में रहें और इस प्रकार राज्यश्री का दुःख दूर करें । मुनि दिवाकर मित्र ने हर्ष के इस प्रार्थनायुक्त प्रस्ताव को मान लिया और हर्ष प्रार्थना स्वीकृति से प्रसन्न होकर निश्चिन्ततापूर्वक भागीरथी तट पर स्थित अपने सैन्य शिविर में लौट गये[1] । जहा तक उपर्युक्त घटना क्रम से 'राज्यश्री' का सम्बन्ध है, हर्षचरित और राज्यश्री में पर्याप्त सामजस्य मिलता है, किंतु इतिहास इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं देता कि मुनि दिवाकर मित्र ने दस्युओं की चगुल से राज्यश्री को मुक्त कराया था । तथा पतिसुखवचिता राज्यश्री ने वहीं आश्रम में आत्मदाह का निर्णय लिया था । सच तो यह है कि नाटक में दस्युराज की अनायास प्रविष्टि के कारण प्रसाद को घटनाचक्र में कुछ परिवर्तन करना पड़ा । वैसे सस्कृति-पोषक प्रसाद के सामने एक और उद्देश्य रहा । वह है-'मुनि दिवाकर मित्र के आदर्शचरित्र एवं लोकमगल की भावना का उद्घाटन तथा राज्यश्री की पति परायणता का सपोषण । इस परिवर्तन को कुछ समालोचक महत्वहीन 'और निरर्थक बताते हैं, तो वस्तु स्थिति के सदर्भ में उचित नहीं दीखता ।

प्रसाद के 'राज्यश्री' में मुनि दिवाकर मित्र राज्यश्री की रक्षा करते हैं और यह सूचित भी करते हैं कि रेवा तट पर हर्ष और पुलकेशिन का भयकर युद्ध चल रहा है । हर्षचरित में इससे पृथक् विवरण मिलता है । इसमें हर्ष के दिग्विजय-प्रस्थान की घटना अत में है और हर्ष-राज्यश्री मिलन की घटना काफी पहले की । इतिहास के इतने बड़े प्रमाण के विरुद्ध अपनी स्वतंत्र धारणा बनाने

---

1 हर्षचरित, पृष्ठ 310-648 ।

क पीछ प्रसाद का उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो पाता । नाटक म चालुक्य राज्य पुलकेशिन क सामन हर्ष की यह स्वीकारोक्ति 'म अकारण दूसरों की भूमि हडपने वाला दस्यु नहीं हू । यह एक सयोग है कि कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक, कश्मीर मे लेकर रेवा तट तक सुव्यस्थित राष्ट्र हो गया । मुझे और न चाहिए । मुझे और न चाहिए[1] । इस बात को प्रमाणित करती है कि राज्यश्री-मिलन के पूर्व हर्ष ने सम्पूर्ण उत्तर भारत पर विजय प्राप्त कर ली थी । इतिहासकारों के अनुसार हर्ष-पुलकेशिन-युद्ध 630 ई०-634 ई० क बीच हाने के प्रमाण मिलते हैं[2] ।

इतिहास से पृथक् प्रसाद ने अपने नाटक में हर्ष की पराजय के विपरीत एक मैत्रीपूर्ण सधि का सदर्भ नियोजित किया है । बहन की खोज की व्यग्रता उसे राज्य-विस्तार के मार्ग में अवरोध उपस्थित करती है । इससे पृथक् विवरण ऐहाडा के दान-पत्र में प्राप्त होत हैं । 'भय विचलित हर्षो येन् चाकारि हर्षो । नाटक में वर्णित हर्ष-पुलकेशिन सधि और उसका कारण भी ऐतिहासिक प्रमाणों से मेल नहीं खाता । दोनों भाई-बहनों ने लौटकर स्थाणीश्वर कन्नौज पर सयुक्त शासन किया[3] तथा अपनी सैन्य शक्ति क बल पर पुलकेशिन ने हर्ष को नर्मदा से आगे बढने नहीं दिया और हर्ष ने नर्मदा को ही अपनी राज्य-सीमा मान ली[4] । इतिहास क इन तथ्यों को बहुत अधिक महत्व नहीं देकर प्रसाद ने अपने नाटक को इससे मुक्त रखा । यहा तक कि भूमिका में इनका उल्लेख भी नहीं किया ।

चीनी यात्री ह्वेनसाग का अयोध्या से पूर्व जहाज द्वारा गगा में यात्रा करत समय अन्य यात्रियों सहित डाकुओं द्वारा पकडा जाकर दुर्गा की प्रतिमा के सम्मुख बलि हतु प्रस्तुत किया जाना एतिहासिक साक्ष्यों से समर्थित घटना है । डाकू सरदार ने कुछ डाकुओं को एक रमणीय स्थान पर गीली मिट्टी की वेदी बनाने का आदेश दिया। वेदी पर लाये जाने पर भी चीनी यात्री की निर्भीक, स्थित प्रज्ञ मुद्रा देखकर सब आश्चर्य चकित थे । यात्री द्वारा मैत्रेय के ध्यान मात्र पर भयकर तूफान के आ जाने से घबराकर भयभीत हो डाकू भाग खडे हुए[5] । इतिहास सम्मत इस घटनाक्रम की प्रस्तुति में प्रसाद जी ने घटना का विवरण तो ऐतिहासिक सदर्भ में किया है, किंतु यात्रा-विवरण और स्थान को ज्यों-का-त्यों नहीं दिया है । डाकू सरदार के नाम के सबध में इतिहास मौन है, किंतु यात्रा-विवरण और स्थान को ज्यों का त्यों नहीं लिया है । डाकू सरदार के नाम के सबध में इतिहास मौन है किंतु कल्पनाशील, प्रसाद ने विकट घोष को डाकू सरदार बताकर अपनी ऐतिहासिक सभाव्यता की परिकल्पना की है । यद्यपि इसका कारण स्पष्ट नहीं है । सभव

---

1 राज्यश्री, पृष्ठ 58-59।

2 अल्टेकर का लेख - इण्डियन कल्चर 1940, खण्ड 6, पृष्ठ 450 ।

3 द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 351 ।

4. वही, पृष्ठ 352-354 ।

द लाइफ ऑफ ह्वनसाग-श्रमण हुई ली एण्ड यन-जुग, पृष्ठ 86-89 ।

है-शातिभिक्षु बने विकट घोष के चरित्र क किसी विशेष पक्ष का उदघाटन करना उनका उद्देश्य रहा हो ।

कान्यकुब्ज का दान-समारोह प्रसाद की निजी कल्पना की उपज है, जिसका उल्लेख मात्र नाटक में हुआ है । नाटककार, महाश्रमण तथा सम्राट् की हत्या क प्रयत्न प्रयाग के दान-समारोह में बताते हैं, किन्तु एतिहासिक साक्ष्यों क आधार पर ये दोनों हत्या-प्रयत्न की घटनाएँ कन्नौज सभा की है प्रयाग-सभा की नहीं । कन्नौज में किसी दान-समारोह में बताते है किन्तु ऐतिहासिक साक्ष्यों क आधार पर य दोनों हत्या-प्रयत्न की घटनाएँ कन्नौज सभा की है, प्रयाग-सभा की नहीं । कन्नौज में किसी दान-समारोह का आयाजन इतिहास सम्मत नहीं है । वहा एक विराट् धर्म-सभा का आयोजन हुआ था, बुद्ध प्रतिमा स्थापित की गयी थी जिसका छत्र स्वय हर्ष हिलात थ । वहा हर्ष ने अपना समन्यवादी आदर्श प्रस्तुत करन के लिए सूर्य, शिव और बुद्ध तीनों देवों की उपासना की थी[1] । और इसी कारण उसके प्राण लेने के प्रयत्न हुए[2] । हेनसाग के अतिशय सम्मान से क्षुब्ध-क्रुद्ध उसके अन्य धर्मावलम्बियों से महाश्रमण का जीवन अरक्षित दीखने पर हर्ष न घोषणा की थी-'यदि किसी ने महाश्रमण के शरीर का स्पर्श तक किया तब उसकी हत्या कर दी जायेगी और यदि किसी ने विरोध में कुछ कहा, तब जीभ काट दी जायेगी किन्तु इनके उपदेश से लाभ उठान वालों का भय का कोई कारण नहीं है, यह मेरी घोषणा है[3] । काफी अर्थ और श्रम म निर्मित विशाल विहार में आग लग गयी और सम्राट् के प्रयत्नों पर बुझी । विध्वस-लीला देखने हर्ष एक स्तूप पर चढा, लौटते समय एक व्यक्ति न कटार से उन पर आक्रमण किया । पकडे जान पर उसने स्वीकारा कि वह बौद्ध विराधियों द्वारा पेरित-प्रषित था[4] । इस हत्या-प्रयास का नायक भी प्रसाद जी न विकट घाष को ही माना है । कन्नौज की घटना भी प्रसाद जी द्वारा प्रयाग में वर्णित हैं । इस स्थान-परिवर्तन का कुछ औचित्य नहीं ठहरता-न नाटकीय उद्देश्य सिद्धि म और न किसी पात्र क चारित्रिक उत्कर्ष-अपकर्ष-विश्लेषण में । हां, विकट घोष को बार-बार असामाजिक कार्यों में सलग्न दिखाकर उन्होंने उसका अतिशय चारित्रिक अपकर्ष दिखाने में सफलता अवश्य पायी है ।

प्रयाग का तत्कालीन महादान-महोत्सव (महामोक्ष-परिषद्) भी कम उल्लेखनीय नहीं है । इतिहास के अनुसार प्रत्येक पांचवें वर्ष के बाद इस महोत्सव का आयोजन होता था, जिसम असख्य बौद्ध, जैन धर्म सुधारक, ब्राह्मण, निर्धन, अनाथ दान-ग्रहण करते थे । समस्त राज-परिवार उन्मुक्त हृदय और खुले हाथ वस्त्र-रत्नादि के दान

---

1 द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 363 ।

2 वही, पृष्ठ 362 ।

3 वही, पृष्ठ 361 ।

4 वही, पृष्ठ 363 ।

करते थे । क्रमशः बुद्ध, आदित्य तथा शिव की पूजा-अर्चना के बाद महादान महोत्सव प्रारभ होता था, जो महीनों चलता था ।

हर्ष-काल में जिस समय वह चीनी यात्री के साथ दान-पुण्य में सलग्न था गगा-यमुना के सगम-प्रयाग-पर पचहत्तर दिनों तक पूजन-दान महोत्सव चलता रहा और अत में राजा हर्ष ने अपना सर्वस्वदान कर बहन राज्यश्री से एक पुराना वस्त्र मागकर बुद्ध-पूजा की शेष प्रक्रिया पूरी की[1] ।

इतिहास की इस घटना को स्व० प्रसाद ने लगभग इसी प्रकार ग्रहण किया है । किंचित् परिवर्तन हुए हैं-महोत्सव की अवधि और समारोह-समापन की प्रक्रिया में । नाटक में प्रसाद जी ने राज्यश्री द्वारा महाश्रमण से वस्त्र मंगवाकर उसके चारित्रिक उत्कर्ष, अपूर्व त्याग और आदर्श की प्रतिष्ठा की है । राज्यश्री की ही प्रेरणा पर विकट घोष और सुरमा काषाय-ग्रहण करते हैं और जीवन के निरुद्देश्य, कटकाकीर्ण पथ से सोद्देश्य पथ की ओर प्रेरित होते हैं ।

नाटक के अतिम अश में वर्णित कुछ घटनाए पूर्णतः इतिहास सम्मत नहीं होकर भी बडी जीवन्त, सप्राण, स्वाभाविक, मौलिक और प्रभावी प्रतीत होती हैं । गुप्त कुल के दुर्नाम नरेन्द्र को राज्यश्री की इच्छा पर क्षमादान हर्ष के चरित्र की महानता की उद्घोषणा है । नागरिकों के अनुसार 'वह राजा का प्रताप था, जो नीच हत्यारे का हाथ कापकर रह गया[2] । बुद्ध प्रतिमा के सामने हर्ष द्वारा अपनी समस्त विभूति और प्रतिपत्ति तथा सर्वस्व का दान, प्राण तक देने का सकल्प, चीनी यात्री द्वारा भारतवर्ष के लिए व्यक्त उच्च विचार -- 'यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य,.............. मुझे विश्वास हो गया यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है[3] । प्रसाद की ऐसी मौलिक उद्भावनाएँ-स्थापनाए हैं, जिनके माध्यम से वे अपने स्वर्गिक देश के स्वर्णिम विहान की सूचना देते रहे हैं, अतीत की गाथा गाकर संस्कृति, धर्म, दर्शन, राष्ट्रीयता और उच्चतम आदर्श की प्रतिष्ठा करते रहे हैं । इतिहास से विलग होकर मौलिक और काल्पनिक घटनाओं की सर्जना के पीछे उनका उद्देश्य रहा है -- अपने चरित्र को उत्तरोत्तर उत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित करना, रेखांकित महत्व प्रदान करना ।

नाटक का प्रसादान्त भी अत्यंत रोचक, हृदयावर्जक, प्रवाहमय, प्रभावशील तथा आदर्शयुक्त है, यद्यपि इतिहास के साक्ष्यों के समानान्तर और समर्थित नहीं ।

अजातशत्रु : ऐतिहासिक आधार

'अजातशत्रु' स्व० प्रसाद का एक घटना बहुल ऐतिहासिक नाटक है । अन्य

1. (क) द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 363-365 ।
   (ख) लाइफ आफ युवान च्वांग (सैमुअल बील), पृष्ठ 187।
   (ग) हिस्टरी ऑफ कन्नौज, पृष्ठ 156-162 ।
2. राज्यश्री पृष्ठ 71 ।
3. वही, पृष्ठ 72 ।

नाटकों की अपेक्षा इसमें वर्णित घटनाएँ और सघर्ष अधिक ऐतिहासिक और त्रिकोणात्मक हैं । त्रिकोणात्मक इसलिए कि सम्पूर्ण कथा एक सूत्र और क्रम में न होकर तीन ऐतिहासिक स्थलों -- मगध, कौशल और कौशाम्बी से जुडी है । वैसे सघर्ष का केन्द्र-स्थल काशी है । नाटककार ने इसके कथानक की सरचना इस प्रकार की है कि अजातशत्रु नाटक के प्रधान पात्र होकर भी कथानक के साथ सर्वत्र जुडे हुए नही हैं । कारण है अन्य कथाओं -- बिम्बसार, उदयन, प्रसेनजित और विरुद्धक सबधी -- की समानान्तरता । एक बात और ध्यातव्य है कि सपूर्ण कथा को एक सूत्र में पिरोने का दुष्कर कार्य भगवान गौतम बुद्ध द्वारा संपन्न कराया गया है । विभिन्न कथा सूत्रों की वर्तमानता एव उनके सफल-निर्वाह के प्रयास के कारण अजातशत्रु में अनायास कुछ जटिलता आ गयी है ।

'अजातशत्रु' के कथानक को जिन ऐतिहासिक तथ्यों और सूत्रों का आधार प्राप्त है, वे है -- महावश, कथा-सरित्सागर, बुद्धघोष, हरिमात, बद्धकी सूकर, तच्छसूकर जातक, भद्रसाल जातक, अवदान कप्पलता, जैनसूत्र जातक ग्रन्थ, थेरी गाथा, धम्म पद-अट्ठकथा, सुमगल विलासिनी, विनय पिटक, मज्झिम निकाय, अगुत्तर निकाय, विष्णु पुराण, अन्य पुराण एव प्राचीन सस्कृत साहित्य ।

ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न स्रोतों, ऐतिहासिक प्रसगों तथा साक्ष्यों के आधार पर स्व० प्रसाद ने अपने कथा-प्रसग को अतिम रूप दिया है । यह ऐतिहासिक सत्य है कि बुद्ध-काल में मगध एक अत्यन्त शक्तिशाली और सुदृढ राज्य के रूप में उभरा हुआ था । इसका शासक था बिम्बसार, जो शिशुनाक वशीय था । इसने अपनी राजधानी राजगृह बनायी थी । राज्य-विस्तार की उत्कट इच्छा के कारण उसने कई राजाओं की कन्याओं से विवाह किया था । इसकी मुख्य रानिया तीन थीं[1] -- लिच्छवी वश के राजा चेटक की पुत्री चेल्लना, प्रसेनजित की बहन कौशल देवी और भद्र (मध्य पजाब) की राजकुमारी खेमा (क्षेमा)[2] । किन्तु, बौद्ध साहित्य मात्र दो रानियों की पुष्टि करता है[3]--एक कोशला, दूसरी क्षेमा । वस्तुतः कौशला का ही अन्य नाम वासवी था, जो कोशल नरेश प्रसेनजित की बहन थी । अजातशत्रु की मा के नाम पर भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं[4], किन्तु अधिकाश विद्वान वैशाली की राजकुमारी चेल्लना के नाम पर सहमत हैं[5] । विभिन्न जैन ग्रन्थों में प्राप्त साक्ष्यों से भी यह नाम समर्थित है। बौद्ध

---

1. लेक्चर्स आन द एनसियंट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 73-74 ।
2. थेरी गाथा अट्ठ कथा, पृष्ठ 139-144 ।
3. लाइफ ऑफ द बुद्धा (राक दिल), पृष्ठ 63-64 ।
4. हेमचन्द्र राय चौधरी-पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एनसियंट इण्डिया, पृष्ठ 136-138 ।
5. (क) जे० एन० समादार-द ग्लोरिज आफ मगध, द्वि०सं० पृष्ठ 17-18 ।
   (ख) द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया-च० सं०, पृष्ठ 32-33 ।

सहित्य ने अजात शत्रु की मा कोशला को माना है[1] । तिब्बत के दुलवा में भी अजात की मा का नाम वासवी था, जा कोशला का ही दूसरा नाम था ।

प्रसाद जी न जैन साहित्य के आधार पर अपने नाटक में चेल्लना को ही अजात की मा स्वीकारा है । कुछ विद्वान् उसे वैदेही भी कहत हैं । उसके पूर्वज मगात्रीय महावीर के धर्म में आस्थावान थे । चेल्लना अपनी वश परम्परा में जैन मतावलम्बी थी । इसी कारण बुद्ध कभी उसके प्रिय नहीं बन सक और वह उनका किसी-न-किसी रूप से विरोध करती रही तथा सनातन धर्मावलम्बी देवदत्त अग्नि में समिधा डालने के उपक्रम करता रहा । यह विभिन्न जेन-बौद्ध साहित्यों द्वारा समर्थित सत्य है । चेल्लना अपने पति को ढोंगी मुनि बुद्ध की अहिसा नीति का अध समर्थक मानती थी[2] । मा के पूर्ण प्रभाव के कारण अजातशत्रु भी बुद्ध विरोधी थे[3] । बिम्बसार अपनो धार्मिक उदारता के कारण बौद्ध हाते हुए भी अन्य धर्म सम्प्रदायों का पर्याप्त सम्मान करता था । 'उत्तराध्ययन सूत्र' आदि प्राप्त जेन लखा में उसके महावीर तथा उनके धर्म प्रेम का विवरण मिलता है[4] । उसकी इस उदारता तथा मानवतावादी दृष्टिकोण का कारण सम्भवत विभिन्न राज्या म उसका आदान-प्रदान तथा विभिन्न देश की गतिविधि क पति हान मे ह ।

स्व० प्रसाद जी न नाटयारभ म जिस दृश्य की याजना की ह उसस अजातशत्रु के चरित्र की क्रूरता प्रोद्भासित होती है । उसक एतिहासिक चरित्र का ही प्रसाद जी न थोडी और मुखरता प्रदान की है । नाटक क आरभिक दृश्यों में छलना और वासवी का पारस्परिक सौतिया डाह, कौटुम्बिक कलह वर्णित है, किन्तु प्रकारान्तर से वह दो धर्मों की आस्थाओ की टकराहट हे । नाटक क प्रथम दृश्य में अजात की क्रूरता के सदर्भ में पद्मावती के सत्परामर्श और इस पर छलना तथा अजातशत्रु की प्रतिक्रिया प्रसादीय कल्पना ह, जा अत्यत महत्व रखती हैं । भूमिका में गृह कलह क अन्य ऐतिहासिक आधारों का मानकर भी नाटक मे प्रसाद जी ने सौतिया डाह को गृहकलह की जड माना हे, जा सर्वथा स्वभाविक भी है । वैसे इसम थोडी असगति अवश्य आ गयी है । जैन धर्म की समर्थिका छलना जैन धर्म की अहिसा में अटूट आस्था और विश्वास रखती हुई भी अहिसा क पुजारी बुद्ध के उपदेशों-कार्यों का विरोध करती है । इसका प्रमाण है अजात का हिसा के कदम का समर्थन । यह स्पष्टत· धार्मिक द्वेष, अपने का दूसरों स उत्कृष्ट

1. थुस जातक-4/337-338 ।
2 मज्झिम निकाय, भाग-2, पृष्ठ 3 4 ।
3. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष-55-2007, रत्न शकर प्रसाद का निबन्ध 'वैदही पुत्र अजातशत्रु' और उसकी कूटनीति' ।
4. आर० एस० त्रिपाठी-हिस्ट्री ऑफ एनिसियट इण्डिया, पृष्ठ 94 ।

मानन की भावना का द्योतक है । छलना का प्रवल विरोध अपनी सौत वासवी म था, जा बौद्ध थी, किन्तु अपन सौतिया डाह को परोक्ष रखकर उमकी आड म वह अपने धर्म (जैन) का ममर्थन और बुद्ध धर्म का प्रतिरोध करती रही । लुब्धक प्रसाद का मानस-पात्र है । उसस सबद्ध सारी घटनाए कल्पना प्रसूत हैं । नाटयारभ में उसकी कल्पना ओर प्रस्तुति के कारण स्पष्टत ज्ञात नहीं । सभवत. प्रसाद जी न आगामी, गृह-कलह क उग्र रूप की पूर्व पीठिका निर्माण हतु उमकी नियाजना की हो । फिर भी इसस एतिहासिक सभाव्यताए कम नहीं हातीं ।

अजातशत्रु को युवराज पद देकर स्वय बिम्बसार का वानप्रस्थ ग्रहण करना एतिहासिक सत्य है, जिसे बौद्ध और जैन-ग्रन्थों में समान स्वर में मुखरित किया हे । 'अजातशत्रु' की भूमिका में नाटककार ने वानप्रस्थ ग्रहण का कारण गृह-कलह माना हैं । वस्तुत· शासनाधिकारी बनने के उतावले अजातशत्रु को बिम्बसार ने स्वेच्छा से राज्यभार दे दिया । अपनी हत्या के उसके षडयत्र और प्रयास के लिए भी उसने क्षमादान किया । इस तथ्य का समर्थन इतिहास से होता हे, किन्तु जैन-साहित्य में न किसी गृह-कलह को मान्यता दी गयी है, और न बिम्बसार के वानप्रस्थ आश्रम को । सभवत. ऐसा करने से जैन राजकुमारी चेल्लना की छवि धूमिल हा जाती । उनके अनुसार अजातशत्रु ने उसे बन्दी बना लिया था । बुद्ध के प्रबल विरोधी देवदत्त की दुरधभि सधि[2] तथा अजातशत्रु क पितृ वध के कारण इतिहास सम्मत होकर भी प्रसाद के नाटक में स्थान न पा सके । प्रसाद के नाटक में बिम्बसार के बन्दी बनाये जाने का उल्लेख दो बार हुआ है । पहली बार बासवी क कथन से और दूसरी बार परिषद् में हुए निर्णय से । एक ही ऐतिहासिक तथ्य को दा विभिन्न स्थानों पर दिखाया जाना कोई औचित्य और प्रयोजन नहीं रखता । सभव है, प्रमाद ने घटना की गभीरता को बताने के लिए ऐसा किया हा । किन्तु, कुछ समालोचका की दृष्टि में इससे नाटकीय त्वरा में व्याघात उत्पन्न होता है[3] । धम्मपद में यह विवरण मिलता है कि राज्य-परित्याग के बाद भी अजातशत्रु को पितृ वध के लिए देवदत्त ने प्रेरित किया और उमने तदनुसार कई प्रयास भी किय । बार-बार की असफलता से क्षुब्ध हो उसने बिम्बसार को तापन गेह (तप्तगृह) में कैद कर निराहार रहने का आदेश दिया । बन्दीगृह में अजातशत्रु की माता के अतिरिक्त अन्य के प्रवेश निषिद्ध थे[4] । बौद्ध-साहित्य के इस तथ्य की पुष्टि जैन के आवश्यक सूत्रों से भी होती है । 'अजातशत्रु' में प्रसाद जी ने इस घटना का महत्व नहीं दिया । मात्र बन्दी बनाने की चर्चा हुई है । जैन कथाओं क अनुसार चेल्लना अपने बन्दी पति की सवा भक्तिपूर्वक करती थी ।इम सत्य का महारा ता प्रसादजी न लिया, किन्तु किंचित् परिवर्तन के साथ । अपन नाटक

1 विनय पिटक 2/190 ।
2 डा० जगदीश चन्द्र जोशी-प्रसाद के ऐतिहामिक नाटक पृष्ठ 86 ।
3 डा० जगदीश चन्द्र जोशी प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृष्ठ 86 ।
4 धम्मपद अट्ठकथा-1/233 ।

में सेवा करने का सुअवसर उन्होंने छलना को नहीं वासवी को प्रदान किया, जो बौद्ध कथाओं के अनुरूप है । वैसे यह परिवर्तित तथ्य स्वाभाविक भी लगता है, क्योंकि पुत्र को उसका बन्दी बनवाने वाली छलना के हृदय में पतिपरायणता और सेवा-भावना कैसे उत्पन्न हो गयी । 'हरितमान' और 'बौद्ध जातक' के अनुसार अजातशत्रु और प्रसेनजित में बिम्बसार और वासवी के जीवन काल में काशी राज्य के लिए कभी कोई सघर्ष नहीं हुआ । 'अजातशत्रु' द्वारा पितृ बद्ध के समाचार से शोकाकुल हो वासवी ने भी प्राण-त्याग किये और उसके भाई प्रसेनजित ने प्रतिक्रिया स्वरूप मगध को काशी राज्य देना अस्वीकार कर दिया । बिम्बसार की मृत्यु के बाद की घटना प्रसाद जी ने उसके जीवनकाल में ही दिखलायी है तथा काशी राज्य के लिए हुए युद्ध के स्वतत्र कारण बताये हैं । वस्तुत:, सस्कृति के अतिशय प्रेमी प्रसाद अजातशत्रु पर पितृ-हत्या जैसा जघन्य अपराध नहीं थोपना चाहते थे । उन्होंने दीर्घकाल तक निर्वासित रखकर ही वह तीव्रता दिखला दी है । इसी कारण उन्हें काशी-सघर्ष के लिए नये कारण ढूढने पड़े । ऐतिहासिकता की लीक से हटा यह नाटकीय विवरण भी कम स्वाभाविक और हृदय-स्पर्शी नहीं लगता ।

विभिन्न ऐतिहासिक आधारों (विनय पिटक, सुमंगल विलासिनी और दीर्घ निकाय) में देवदत्त की भूमिका एक ऐसे पात्र के रूप में आयी है, जो बराबर अजातशत्रु के मस्तिष्क में जहर घोलता रहा कि तुम पिता का वध कर निष्कंटक राज्य करो और मैं बुद्ध का बधकर मार्ग प्रशस्त करता हूं । प्रसाद के नाटक में इस ऐतिहासिक सम्भाव्यता को पर्याप्त समर्थन मिला है, क्योंकि प्रसाद का अजातशत्रु भी देवदत्त के आदेश-निर्देश पर मगध का शासन-सूत्र संभालता है । वैसे बौद्ध इतिहास में इसके प्रमाण नहीं मिलते । बार-बार बुद्ध की हत्या के प्रयास में विफल होने के बाद उसका मनोबल टूटा अवश्य था । एक बार काफी अस्वस्थावस्था में वह बुद्ध की तलाश में जा रहा था । मार्ग की थकावट मिटाने के लिए जेतवन के एक जलाशय में वह पानी पीने के लिए उतरा और पृथ्वी में धंसकर विलीन हो गया[1] या फिर जल पीते ही मर गया[2] । नाटक में देवदत्त से मगध के निष्कासन की स्वतंत्र कल्पना की गयी है । युद्ध में पराजित होकर अजात के बन्दी बनाये जाने के बाद वह प्रभावहीन हो गया होगा और उसे ही पराजय का कारण मानकर उसे निष्कासन-दड दिया होगा । इस प्रकार प्रसाद की यह कल्पना स्वतत्र होकर भी ऐतिहासिक सम्भाव्यता से युक्त है । साथ ही अत्यत सहज स्वाभाविक भी ।

प्रसाद जी के नाटक में समुद्र दत्त भी एक काल्पनिक पात्र है, जिसे गुप्तचर

---

1 डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर जेम्स, खण्ड 1, पृष्ठ 1108-1110 ।

2. जनार्दन भट्ट-बौद्धकालीन भारत, पृष्ठ 54 ।

बनाकर अजाशत्रु की राज्य सभा में तथा काशी की वेश्या श्यामा के साथ दिखलाया गया है । वैसे श्यामा वेश्या के प्रेमी के स्थान पर समुद्र दत्त की छल से हत्या का विवरण कणवेर जातक में मिलता है कि अपने एक प्रेमी (श्रेष्ठिपुत्र) को सहस्र मुद्रा देकर चोर के स्थान पर उसे शूली चढवा दिया[1] । 'अजातशत्रु' के इस कल्पित पात्र को जातक का आधार मिलने से ऐतिहासिक सम्भाव्यता की रक्षा हो जाती है ।

मगध और कोशल के युद्ध में अजात की विजय और प्रसेनजित की पराजय विभिन्न ग्रन्थों[2] द्वारा प्रमाणित है । बेचारा प्रसेनजित वृद्ध था और अजातशत्रु एक उद्धत युवक । इस कारण उसका घायल होकर भाग खडा होना स्वाभाविक है, इतिहास सम्मत भी । विजय के बाद भी कोशल की सीमा से ही अजात के लौट जाने का कारण इतिहास नहीं बताता । मात्र कई अटकलें और अनुमान लगाये जाते हैं, किन्तु प्रसाद जी ने अपनी कल्पना से स्वतत्र कारण बताकर सारा श्रेय बन्धुल मल्ल की पत्नी मल्लिका का माना है । यह प्रसाद जी की सर्वथा मौलिक और काल्पनिक उद्भावना है, जिसका लाभ प्रसाद जी ने इतिहास के मौन के कारण उठाया । दूसरी बार हुए युद्ध के सम्बन्ध में भी प्रसाद जी ने स्वतत्र सत्य निर्धारित किये हैं । कोशल और कोशाम्बी के मिलकर मगध पर आक्रमण करने तथा अजात और विरूद्धक की सधि इतिहास द्वारा अनुमोदित नहीं है, किन्तु यह नाटकीय तथ्य पर्याप्त स्वाभाविक और सभावनाए समेटे हुए है । दो समान प्रवृत्ति वाले समान हेतु के लिए यदि एक दूसरे से मैत्री और सधि करें तो विस्मय नहीं होता । ऊपर वर्णित युद्ध में अजात का बदी बनाया जाना वाजिरा से उसका परिणय और प्रसेनजित द्वारा काशी राज्य दहेज में दिया जाना कई ग्रन्थों द्वारा प्रमाणित है[3], किन्तु वाजिरा के प्रेम का प्रसग तथा बदी गृह की कुछ घटनाएँ नाटककार की कल्पना है । बाद में वाजिरा से विवाह हो जाने के कारण यह कल्पना खटकती नहीं, प्रत्युत अधिक जीवन्त और स्वाभाविक लगती है यह है इतिहास पर साहित्य का मृदुल-सहज आरोपण ।

पिता बनने के बाद ही कोई पिता के हृदय की ममता और पीडा का अनुभव कर सकता है । यही बात अजातशत्रु के साथ हुई । पुत्र प्राप्ति की सूचना पाते ही अनायास उसका हृदय करुणार्द्र और विह्वल हो उठा । पितृ स्नेह से प्रेरित वह दौड़ता हुआ अपने पिता को मुक्त करने के लिये कारागार पहुचा । किन्तु, तब तक बिम्बसार जीवन के अतिम चरण की ओर अग्रसर हो चुका था । प्रसाद ने अपने नाटक की भूमिका में बुद्ध घोष को इस घटना का आधार माना है । 'दीर्घ निकाय' इस तथ्य की पुष्टि करता है, किन्तु 'धम्मपद' में अजात की घोर नृशसता

---

1 कर्णवर जातक-4/2/318 ।

2 जातक 4/342, सयुक्त 1/85-86, धम्मपद अट्ठकथा 3/251 ।

3 सामंजफल सुरण 1/84-86-जातक 4/342, धम्मपद टीका 3/259 ।

का विवरण मिलता है। कारागार में निराहार रखने के बाद भी जब बिम्बसार ने मृत्यु का आलिंगन नहीं किया, तब उससे शीघ्र मुक्ति पाने की इच्छा से अजात ने नापित भेजकर उसकी नस कटवा दी। जिसके रक्त-प्रवाह में उसके प्राण डूबकर घुटके गये। जैन-इतिहास भी कुछ अलग तथ्य देते हैं-एक बार अजात की अंगुली के बहुत बड़े घाव की पीडा शान्त करने के लिए बिम्बसार ने उसका मवाद चूस लिया था। अपनी माँ के मुँह से इसे सुनते ही उसका हृदय द्रवित और अपने क्रूर आचरण पर क्षुब्ध हो उठा। आवेश में कारागार जाकर उसने लोहे की गदा से उसके सारे बंधन तोड डाले, किन्तु नियति का चक्र अपनी गति और व्यवस्था से चलता है। अकस्मात् पुत्र के आगमन और किसी भावी आशंका से भयभीत बिम्बसार ने विष लेकर अपने प्राण त्याग दिये[1]। पत्थर के हृदय से निकलकर बहने वाली पीयूष वर्षिणी सरिता की तरह हृदय वाले प्रसाद भला इस निष्ठुरतापूर्ण मरण का वरण कैसे स्वीकारते। इसलिए उन्होंने बिम्बसार की मृत्यु का स्पष्ट संकेत अपने नाटक में नहीं किया। बिम्बसार के जीवन के अन्तिम क्षण हर्षोल्लास एवं सुख से बीते इसकी पुष्टि कहीं से नहीं होती। यहाँ तक कि 'बुद्ध घोष' और 'दीर्घ निकाय' भी इस सम्बन्ध में मौन हैं। बिम्बसार के दुखद और करुणा भरे अन्त का प्रमाण सर्वत्र प्राप्त हैं[3]। अधिकांश इतिहास बिम्बसार की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी कोशल देवी (वासवी) के भी निधन का समर्थन करते हैं। प्रसाद के नाटक में शील, स्नेह और आदर्श की नियोजना के उद्देश्य से घटनाक्रम में आमूल परिवर्तन किया गया है। बिम्बसार के जीवन के सारे दुख क्लेष, भूख और भय कुणीक (अजात) के पिता संबोधन के साथ चरण-स्पर्श कर क्षमा माँगते ही दूर हो जाते हैं। नाटक के अन्तिम अंक के अन्तिम दृश्य की घटनाएं जितनी आदर्शयुक्त है, उतनी ही हृदय-स्पर्शी। अजातशत्रु 'जंगलीपन' की स्वतंत्रता का अभिमान छोडकर पिता के चरणों में नत है। छलना भी चरण पकड़कर अपनी उद्दण्डता, कूट चातुरी और अपने दम्भ के लिए प्रायश्चित कर रही है, जिसने उसे नारी-जीवन के स्वर्ग से वंचित किया था। वासवी बिम्बसार के नये पौत्र की सूचना पाकर हर्षोत्फुल्ल है। उसके ये उद्गार-मैं मगध के सम्राट् की राजमहिषी हूँ। और, यह छलना मगध के राजपौत्र की धाई है, और यह कुणीक मेरा बच्चा इस मगध का युवराज है[4]-निश्छल हृदय का उन्मुक्त अट्टहास है। पद्मा भी इस सम्मेलन में अपनी भाभी के आने की सूचना लेकर उपस्थित होती है। बिम्बसार विस्मय-विमुग्ध है, परिवार के सभी सदस्यों के इस सम्मेलन पर, जो मानस की चित्रकूट-सभा की तरह शील, स्नेह, सौजन्य, दया, क्षमा करुणा के वातावरण से अभिषिक्त है। हर्ष के आँसू बहाता हुआ बिम्बसार कहता

1 धम्मपद अट्ठकथा-1/33।
2 आवश्यक सूत्र-682-83।
3 द अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ 33।
4 अजातशत्रु, पृष्ठ 174।

है-'प्रसन्नता से मेरा जी घबरा उठा है ।[1] पिता से पद्मा न ान अजात पुत्र मगध के नवीन राजकुमार के लिए एक स्नेह चुम्बन का आशीर्वाद ।ाती है जिसके जन्म ने स्नेह, सद्भाव और करुणा की त्रिवेणी बहायी । किन्तु, इतना सुख एक साथ सहन करने में असमर्थ बिम्बसार उठकर भी गिर पडता है । इतिहास के तथ्य और सत्य से कोसों दूर प्रसाद की यह कल्पना एक अलग ही वातावरण की सर्जना करती है । इतिहास का दुखान्त अध्याय नाटकीय परम्पराओं और सत्य की रक्षा के अभिप्राय से प्रसादान्त बन जाता है और इतिहास से विमुख होने की भावना अनायास धूमिल पड जाती है । साहित्यिक कल्पना और ऐतिहासिक तथ्यों का यह प्रसादीय नीर-क्षीर सम्मिलन बडा अनोखा, अद्वितीय, मनोहारी और स्वाभाविक प्रतीत होता है ।

कथानक का दूसरा मोड प्रसेनजित से सबद्ध है । प्रसेन की इस साहित्यिक कथा को पर्याप्त ऐतिहासिक आधार प्राप्त है । धम्मपद इस सत्य के समर्थन का सकेत देता है कि पसेनदी बुद्ध पर अटूट आस्थावान और उनका समकालिक था[2] । जातक कथाए स्पष्ट करती हैं कि अजात द्वारा बिम्बसार के बध से शोकाकुल हो तथा अपनी बहन की मृत्यु से क्रुद्ध पसेनदी ने काशी राज्य का अधिकार छीन लिया था[3] । नाटक में बिम्बसार-बध की प्रस्तुति अलग वातावरण-सदर्भ देकर की गयी है, इतिहास-सम्मत मान्यताओं के आलोक में नहीं । काशीराज्य के सदर्भ ही अजात और पसेनदी को मिलाते हैं । प्राप्त बौद्ध इतिहास में काशी-सघर्ष राजा बिम्बसार की मृत्यु के आक्रोश में हुआ, किन्तु नाटक में यह उनकी जीवितावस्था में ही दर्शाया गया है । इस इतिहास विरोधी मान्यता के पीछे प्रसाद का उद्देश्य स्पष्ट है-एक अपने परिवर्तित कथानक की प्रवाहशीलता की रक्षा, दूसरे अजात की राज्यलोलुपता की अतिशयता का चित्रण । कारण कि, इतिहास अपने बहनोई की हत्या से क्रुद्ध राजा की प्रतिक्रिया का आभास देता है, जो स्वाभाविक भी है, किन्तु अजात के सदर्भ में प्रसादीय कल्पना भी सर्वथा सत्य और स्वाभाविक प्रतीत होती है । राज्य लोलुप अजात इधर पिता का राज्याधिकारी बन जाता है, उधर कर न देने के आक्रोश में काशी-राज्य से युद्ध शुरू कर देता है ।

प्रसेनजित के पुत्र विरुद्धक का कथानक इतिहास सम्मत है । धम्मपद और जातक पसेनदी की बुद्ध के प्रति अतिशय आस्था के सकेत देते हैं[4] । पसेनदी ने बुद्ध और उनके साथी भिक्षुओं का सम्मान-सत्कार लगातार कई दिनों तक

---

1 अजातशत्रु, पृ0 174 ।

2 धम्मपद अट्ठकथा-1/338, महावश 2/180 ।

3 जातक 2/230-31, 403, 4/340-48 ।

4 महावश-2/180, उदान टीका ।

किया । भिक्षुओं को प्रसन्न करने, उनका विश्वास जीतने के लिए ही शाक्य वश की कन्या से विवाह का प्रस्ताव भी उसने किया था । मिथ्याभिमान वश अपने को उत्कृष्ट समझने के कारण शाक्यों ने छलपूर्वक पसेनदी का विवाह प्रधान सामन्त-महानाम की दासी नागमुण्डा की पुत्री वासभरवत्तिया से करा दिया । विडूडभ (प्रसादजी का विरुद्धक) उसी से उत्पन्न था । जातक इस बात की भी पुष्टि करता है कि एक बार जब वह (विडूडभ) कपिलवस्तु गया था, तब उससे उम्र में छोटे राजपुत्रों ने कपिलवस्तु का त्याग इसलिए कर दिया था कि औपचारिकतावश उन्हें प्रसेनजित के पुत्र होने के कारण उसका अभिवादन करना पडेगा । यह उनके स्वाभिमान को स्वीकार्य नहीं था कि एक दासी पुत्र का वे अभिवादन करें[1] । राजमहल में विडूडभ का बहुत अपमान भी हुआ, जिससे क्षुब्ध हो उसने शाक्यों से बदला लेने का निश्चय किया था । उसके निश्चय से क्रुद्ध पसेनदी ने उसे अधिकारच्युत कर साधारण दास-वर्ग में मान लिया । स्व० प्रसाद ने अपने नाटक में कार्य-कारण-सबध में थोडा परिवर्तन लाया है । प्रसाद के प्रसेनजित ने शाक्यों के प्रति विरोध और दासी पुत्र होने मात्र के कारण नहीं, प्रत्युत् अजात-बिम्बसार सबधी उसके कुतर्कों से क्रुद्ध होकर उसे अपदस्त किया[2] । प्रसाद की स्वतत्र मान्यता के पीछे सभवत: यह बताना उद्देश्य रहा हो कि प्रसेनजित भावनाओं में बहकर निर्णय लेने वाला नहीं, बल्कि परिस्थिति, सदर्भ और वातावरण के आलोक में निश्चय-निर्णय करने वाला था । इतिहास सम्मत नहीं होकर भी यह मान्यता स्वाभाविक लगती है कि शाक्यों के प्रति युद्ध और बदले का निश्चय विडूडभ का अपना निश्चय था, जो उसने कपिलवस्तु में अपमानित होने के बाद वहीं ले लिया था[3] । माता द्वारा अनुशसित-प्रेरित नहीं ।

मल्लिका-विरुद्धक प्रसग प्रसाद की मौलिक उद्भावना है, ऐतिहासिक नहीं । यह प्रसग कुछ विद्वानों की दृष्टि में सर्वथा अनावश्यक है[4] जिससे कथा-विकास इत्यादि पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पडता, किन्तु यह कहना सर्वथा समीचीन नहीं है । प्रसाद के नाटकों का प्रधान उद्देश्य रहा है-अतीत के गौरवमय चित्र उपस्थित करना, आदर्श चरित्र की नियोजना इत्यादि । और, इसी उद्देश्य से प्रेरित हो उन्होंने इस प्रसग की सर्जना की, जिससे मल्लिका के चारित्रिक उत्कर्ष, प्रबल पातिव्रत्य तथा विरुद्धक की वासना, सशयात्मकता से युक्त चरित्र प्रकाश में आ सके । इस प्रकार प्रसाद की यह कल्पना खटकती नहीं, आकर्षित ही करती है ।

---

1 धम्मपद अट्ठकथा-1/339, जातक 1/133 4/144

2. अजातशत्रु, पृष्ठ 52-53 ।

3 धम्मपद-1-339 ।

4. डा० जगदीशचद्र जोशी-प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृष्ठ 92

उपर्युक्त जातकों और बौद्ध इतिहास के ही अनुसार बधुल कुशीनारा का एक मल्ल सामन्त था, जो विद्याभ्यास काल में तक्षशिला में पसेनदी का सहपाठी रहा था । अपने घर लौटकर प्राप्त विद्या के प्रदर्शन-क्रम में कुछ सामन्तपुत्रों के दुर्व्यवहार और छल से क्षुब्ध वह श्रावस्ती चला जाता है, उसकी विद्या, रण-चातुरी इत्यादि से पूर्व परिचित पसेनदी उसे अपना सेनापति नियुक्त करता है । बन्धुल की पत्नी मल्लिका, जिसने एक बार मात्र राजपुत्रों के उपयोग तथा अन्य के लिए निषिद्ध वैशाली के कमल-सर का जलपान करने की इच्छा व्यक्त की थी । बडी वीरतापूर्वक साहसिकता का परिचय देते हुए बधुल ने यह कार्य सपादित किया था । वह बडा न्याय परायण और कुशाग्र बुद्धि का था । उसकी इस विशेषता पर प्रसन्न पसेनदी ने उसे न्यायाधीश बनाया था[1] । कई अन्य न्यायाधीशों की ईर्ष्या प्रेरित सलाह पर पसेनदी ने उसे सीमा-सुरक्षा हेतु भेजा और लौटने के क्रम में उसकी हत्या करवा दी । सारिपुत्र-आनद सहित कोई 500 भिक्षुओं को भोजन करा रही मल्लिका पति-हत्या के समाचार से विचलित नहीं होती । काशी में अपनी पुत्रवधुओं को उसने इसकी प्रतिक्रिया में कोई आपत्तिजनक, राजा के प्रति असम्मानजनक कार्य न करने का सदेश भी उसने भेजा । इसकी सूचना पसेनदी को गुप्तचरों ने दी । पश्चात पसेनदी मल्लिका से क्षमायाचना करता है और बधुल के भगीने दीर्घकारायण को सेनापति पद देता है ।

प्रसाद जी ने बौद्ध इतिहास में प्राप्त इस कथानक को यथावत नहीं रखा है, प्रत्युत् किंचित परिवर्तन किया है । 'वैशाली के कमल सर' के स्थान पर 'पावा के कमल सर' का वर्णन उन्होंने किया है । बधुल के पद के सबंध में भी थोडी स्वतत्रता दिखायी है-प्रसाद का बधुल न्यायाधीश नहीं, काशी सामत है । हत्या का कार्य-कारण सबध भी प्रसाद ने पृथक् बताया है । इतिहास में सीमा-विद्रोह शात कर लौटते समय हत्या होती है और नाटक में लौटकर सामन्त के रूप में लोकप्रियता पा लेने की ईर्ष्या से प्रेरित होकर होती है । वस्तुत., यह परिवर्तन बहुत खटकता नहीं । रास्ते में या लौट जाने पर हत्या कराये जाने से बहुत अधिक काल-दोष नहीं आ जाता । वह कल्पना अवश्य खटकती है कि नाटक में उसकी मृत्यु काशी में बिरुद्धक के साथ द्वन्द्व युद्ध करते समय छलपूर्वक बतायी गयी है । यह प्रसाद की निजी मान्यता है । मल्लिका के सदर्भ में आये सारिपुत्र और आनन्द सम्बन्धी वर्णन मर्वथा ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुरूप है । दासी द्वारा स्वर्णपात्र टूटने की घटना लाकर प्रसाद जी ने विशेष नाटकीय सौन्दर्य की वृद्धि करायी है । वस्तुतः, इन स्थलों पर प्रसाद का कवि हृदय नाटककार पर हावी हो गया है । इतिहास में वर्णित मल्लिका के पुत्र-वधुओं का प्रसंग नाटक में नहीं आया है । बौद्ध-धर्म के सद्गुणों से अनुप्राणित, प्रभावित मल्लिका स्वय प्रतिहन्ता राजा

---

1. संयुत्त निकाय-1/74 (अट्ठकरण सुत)-किडर्ड से इग्स (पालि-टेक्स्ट सोसायटी 1/101 स० 3 ।

के प्रति सद्‌भाव रखने का सकल्प लेती है । यह परिवर्तन ऐतिहासिक सत्य स अधिक सप्राण और उचित लगता है । इतिहास में पसेनदी की क्षमायाचना का सदर्भ गुप्तचर द्वारा मल्लिका के सद्‌भाव का पता चलने पर है, किन्तु प्रसाद के नाटक में यह प्रसग काशी-युद्ध में पसेनदी के घायल होकर मल्लिका द्वारा प्राणरक्षा के समय बताया गया है । स्वाभाविकता की दृष्टि से यह क्षमायाचना-प्रसग हृदय को अधिक छूता और भाता है । वैसे मल्लिका द्वारा परिचर्या-प्रसग कल्पना प्रसूत है । वस्तुत , इसकी नियोजना मल्लिका के देवोपम चरित्र-विश्लेषण के उद्देश्य से हुआ है । नाटककार ने बधुल-हत्या, श्यामा-विरुद्धक प्रेम-प्रसग, मल्लिका द्वारा क्षमादान प्रसगों और घटनाओं को काशी में दिखाकर उसे ही मुख्य घटनाकेन्द्र माना है । इतिहास का बिडूडभ कभी साहसपूर्ण कार्य करता नहीं दीखता, किन्तु प्रसाद ने अपने विरुद्धक के चरित्र में थोडा परिष्कार, परिमार्जन किया है । वैसे जातक में इसका हल्का आभास मिलता है[1] । इस जातक में वेश्या-श्यामा चोर के रूप में उत्पन्न, बुद्ध के सौंदर्य पर अनुरक्त दिखायी गयी है, किन्तु प्रसाद ने यह कार्य और अवसर विरुद्धक के सदर्भ में बताकर उसे उठाने की कोशिश की है । श्री जोशी ने इस प्रेम-प्रसग को अस्वाभाविक माना है[2] । वस्तुत·, आकस्मिक होने पर भी यह प्रसग अस्वाभाविक नहीं लगता । ऐसा प्राय· देखा जाता है कि क्रूरतापूर्ण कार्य करने वाले डाकू-लम्पट भी कोमल प्रवृत्तियों से अनुप्राणित होते हैं । वे भी विश्राम के क्षणों में शान्तिपूर्ण जीवन बिताते हुए प्रेम की अमराइयों में खो जाते हैं । प्रसाद के विरूद्धक, का यह आचरण भी अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता । यह और बात है कि यह प्रसग कल्पना-प्रसूत है, ऐतिहासिक नहीं । भले ही श्री जोशी को यह प्रसग अस्वाभाविक लगा हो, किन्तु यह एक भावुक कवि हृदय की मानस-कल्पना और उत्कृष्ट सहजभाव है ।

नाटककार प्रसाद ने कुछेक और घटनाओं-प्रसगों को अपने नाटक में चलता कर दिया है । अपने मामा बधुल की पसेनदी द्वारा हत्या कराये जाने के प्रतिशोध का निर्णय दीर्घकारायण लेता है । उसकी पूर्ति हेतु वह विडूडभ से मैत्री सबध स्थापित करता है[3] । एक बार बुद्धदर्शन हेतु जब पसेनदी उलूम्पा जाता है तब अवसर मिलते ही दीर्घकारायण विडूडभ को छत्र-चवर लेकर सिहासन पर बैठा देता है । बुद्ध-दर्शन कर लौटने पर पसेनदी यह सब देखकर चकित हो जाता है और सहायतार्थ अजातशत्रु के पास प्रस्थान करता है, किन्तु मिलने के पहले ही नगर द्वार पर उसकी मृत्यु हो जाती है । प्रसाद ने इतिहास वर्णित इन प्रसगों को कोई महत्त्व नहीं दिया । मात्र दीर्घकारायण विरुद्धक के सद्‌भाव और विरुद्धक को

---

1. कणवेर-जातक 4/2/318 ।
2. श्रीजगदीश चन्द्र जोशी-प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृष्ठ 94 ।
3 धम्मपद 1/356, जातक 4/151 ।

सिहासनारूढ करने की प्रबल इच्छा का सकेत भर दिया है[1] । मल्लिका के विरोध और निर्देश के कारण दीर्घकारायण की यह मनसा पूरी नहीं होती, हालाकि इतिहास इन घटना के प्रसग में मौन हे । लगता है यह प्रसग भी मल्लिका की क्षमाशीलता उदारता और सदाशयता विज्ञापित करने के लिए ही लाया गया है । एक सम्भावना यह भी है कि इससे प्रसाद ने नाटक का दिशा-निर्देश किया हो कि वह दुखान्त की ओर नहीं प्रसादान्त की ओर अग्रसर हो । मल्लिका क बुद्धधर्म का आदर्श--राज्य-त्याग, करुणा, स्नेह--भी इससे निर्वहित होता है ।

प्रसेनजित के जीवन से सम्बद्ध कुछ और महत्वपूर्ण घटनाए है -- मुख्यत अजात और वाजिरा का प्रणय प्रेरित-परिणय । इस कथा को एतिहासिक साक्ष्य और समर्थन प्राप्त है[2] । कवि प्रसाद ने प्रणय-प्रसग को थोडा अधिक सरस, सप्राण अवश्य बना दिया है । काव्यात्मकता से ओत-प्रोत यह प्रसग स्वत स्नेहिल हो उठा है --- 'श्यामा रजनी में चन्द्रमा की सुकुमार किरण सी तुम कौन हो ?

मुझे विश्वास है भगवान ने करुणा की मूर्ति मेरे लिए भजी है । तुम चाहे प्रसेनजित की ही कन्या क्यों न हो मेरी समस्त श्रद्धा अकारण तुम्हारे चरणों पर लोटने लगी हैं सुन्दरी ।' बस तुम मुझे एक करुणा दृष्टि से देखो और मैं कृतज्ञता के फूल तुम्हारे चरणों पर चढाकर चली जाया करूगी[3] ।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रसग शक्तिमती और विरुद्धक को प्रसेनजित द्वारा दिये गये क्षमादान का है । इसकी प्रेरणा और मध्यस्थता का श्रेय भगवान बुद्ध को दने की सपुष्टि बौद्ध-इतिहास और जातक (अट्ठहारित) करते हैं । इस प्रसग में मल्लिका की वर्त्तमानता और उसके प्रभाव का सकेत इतिहास नहीं देता, किन्तु मल्लिका के प्रति विशेष स्नेहशील प्रसाद ने घटनाचक्र में परिवर्तन कर सारा श्रेय और सम्मान का अधिकारी उसे बना दिया है । मल्लिका के निवेदन पर प्रसेन धर्मशास्त्र के पुत्र को उलटकर भी पुत्र को क्षमा करने को उद्यत है[4] । हा, इतिहास-वर्णित बुद्ध उस क्षमादान पर अपने प्रवेश और सदेश द्वारा सपुष्टि और स्वीकृति की मुहर अवश्य लगाते हैं और विरुद्धक को राज्याधिकार दिलाते हैं । मल्लिका के अनैतिहासिक प्रसग की काल्पनिक उद्भावना के बावजूद प्रसाद ने उसे अधिक सत्य शिव और सुन्दर बना दिया है ।

अजातशत्रु के कथानक का तीसरा महत्वपूर्ण सोपान उदयन है, जिसके ऐतिहासिक स्वरूप धम्मपद, अट्ठकथा, जातक, कथासरित्सागर, चूलवश और दिव्यावदान में प्राप्त होते हैं । वैसे अपने नाटक में कुछ अन्य स्रोतों की भी चर्चा प्रसाद जी ने की है । वे हैं --- हर्षचरित, स्वप्नवासवदत्ता मेघदूत, विष्णुपुराण, प्रतिज्ञा-योगेघरायण, रानावली तथा कुछ बौद्ध-ग्रन्थ । ...यन ... और चरित्र

1 अजातशत्रु 126 ।
2 दीर्घनिकाय 1/95, मज्झिमनिकाय 1/231, अयाकूट जातक
3 अजातशत्रु, पृष्ठ 136-37 ।
4 वही, पृष्ठ 157 ।

के बहुत कम अश का ही उद्घाटन प्रसाद जी ने किया है । वह परन्तप का पुत्र था और कौशाम्बी का राजा । उसके तीन पत्निया थीं --- वासवदत्ता, पद्मावती, और मागन्धी । वासवदत्ता अवन्ती के चद्रमहासेन की पुत्री थी और रानियों में मबसे बडी । पद्मावती मगध सम्राट् अजातशत्रु की बहन और मागन्धी एक निर्धन ब्राह्मण की पुत्री थी । प्राचीन बौद्ध-ग्रथों में उसकी तीसरी पत्नी मागन्धी का उल्लेख मिलता है, किन्तु कथा सरित्सागर मात्र दो रानियों की वर्तमानता सपुष्ट करता है । प्रसाद की पद्मावती का नाम बौद्ध-साहित्य में सामावती मिलता है । बौद्ध इतिहास में इसके सकेत मिलते हैं कि मागन्धी को अपने रूप पर बहुत गर्व था । गौतम द्वारा विवाह करने से अस्वीकार करने पर वह रूपगर्विता, उसकी प्रबल-विरोधी और आलोचक बन गयी । स्वभाव से वह ईर्ष्यालु थी । बुद्ध से प्रभावित पद्मावती उनके उपदेशामृत अपने महल में उन्हें बुलाकर सुन लिया करती थी । मागन्धी ने इसकी गलत व्याख्या कर उसके चरित्र पर लाछन लगाया । दासी द्वारा वीणा लाते समय भी उसमें साप का बच्चा रखवाकर उदयन की दृष्टि में पद्मावती को गिराने का सफल प्रयास उसने किया । मागन्धी ने उदयन के मस्तिष्क को इतना सशयग्रस्त बना दिया था कि गवाक्ष से बुद्ध-दर्शन कर रहीं पद्मावती पर क्रुद्ध होकर उदयन ने उसकी हत्या के लिए तलवार उठायी, किन्तु दैवयोग से उसके हाथ न उठ सके । उदयन की प्रथम रानी वासवदत्ता ने अपने प्रयास और मागन्धी की सहायता से उसके कुचक्रों और षड्यन्त्रों का पर्दाफाश किया । लज्जित मागन्धी ने महल में आग लगा दी और भाग कर काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी श्यामा बन गयी । कालान्तर में वह आम्रपाली कहलायी और अपना सर्वस्व बुद्ध-चरणों में समर्पित कर सघ-शरण स्वीकार कर ली । प्रसाद का यह कथा स्वरूप अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा समर्थित है ।

बौद्ध-साहित्य में इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि कुरु प्रदेश के ब्राह्मण-मागन्धीय-की पुत्री मागन्धी बहुत रूपवती थी । जिसकी रूपज्वाला में जलकर अनेक वैभव-शाली विवाह को तत्पर थे । एक बार अपने गाव में बुद्ध के पहुचने पर सपत्नीक मागन्धीय ने बुद्ध के समक्ष अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव रखा । [illegible] मागन्धीया को बुद्ध के समक्ष प्रस्तुत भी कर दिया, किन्तु बुद्ध ने अपनी तपस्या उपलब्धि का सकेत देते हुए मागन्धीया को बाहर से रगे, किन्तु एक अपवित्र बर्तन तथा [illegible]ीस दोषों से युक्त एक शव मात्र बताकर उसे सर्वथा त्याज्य बताया[1] । बुद्ध से प्रभावित पद्मावती ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और कालान्तर में मागन्धया उदयन-पत्नी बनी । बुद्ध द्वारा किये गये अपमान के प्रतिशोध के लिए वह बुद्ध-धर्म का प्रबल प्रतिरोध करती रही । उपर्युक्त बौद्ध-साहित्य प्रसाद-कथा का समर्थन करते हैं, किन्तु कई स्थान पर कथा

---

1 धम्मपद-अट्ठकथा, 3/93 । सुक्तिकाल टीका 2/-12, दिव्याधान [illegible] एण्ड नील) पृष्ठ 515 ।

में किंचित् परिवर्तन है । इतिहास के अनुसार वीणा-प्रसग में मागन्धीया अपने चाचा से विषरहित सर्प मगवाती है । राजा नियमानुसार एक-एक सप्ताह हर रानी के महल में बिताते थे । राजा के साथ छिपकर मागन्धीया भी सामावती (प्रसाद की पद्मावती) के महल जाती है और वीणा में छिपाये सर्प को फूल हटाकर निकाल देती है । सर्प राजा के तकिये पर कुण्डली डालकर बैठ जाता है । वर्त्तमान स्थिति का दोषी सामावती को मानकर राजा ने उसकी सहेलियों सहित एक पक्ति में खडाकर उसी धनु से तीर प्रक्षेपण किया, जिसे हजार व्यक्ति भी मिलकर नहीं चढा सकते थे । तीर छूटा, किन्तु सामावती बच गयी । राजा ने उसे निरपराध मानकर उससे क्षमायाचना की और बुद्ध तथा उनके शिष्यों के प्रासाद-प्रवेश का स्वामी आदेश दे दिया ।

गीगर द्वारा अनूदित 'चूलवश' मागन्धीया के एक और भयानक षड्यत्र और कुकृत्य का उल्लेख करता है । अपने चाचा के सम्मिलित सहयोग से उसने सामावती (पद्मावती) के महल को अग्नि-प्रज्ज्वलन में सहायक तेल कपडे में भिगों कर पूरे महल में आग लगवा दी । परिणामस्वरूप अपनी सेविकाओं, सहलियों के साथ सामावती को अग्नि-समाधि मिल गयी । रहस्योद्घाटन होते ही क्रुद्ध उदयन ने मागन्धीया को अपने सेवक-सेविकाओं, बन्धु-बान्धवों सहित कमर तक पृथ्वी में गडवाकर ऊपर पुआल रखवाकर आग लगवा दी । यह भी उल्लेख है अपनी क्रूरता का अनुभव कराने के लिए मागन्धीया के शरीर का जला मास उसे ही खिलाया गया । तदनतर शव की मिट्टी-राख पर हल चलवा दिया गया[1] ।

मागन्धी द्वारा रोष, पद्मावती के गवाक्ष से बुद्ध दर्शन तथा वीणा से साप के बच्चे की प्राप्ति की घटना के काल के सबंध में प्रसाद जी ने स्वच्छन्दता बरती है । इतिहास में गवाक्ष से बुद्ध दर्शन की घटना पहले है और प्रसाद के नाटक में अतिम, जिससे उत्तेजित हो उदयन हत्या हेतु तलवार उठाता है । वीणा के सर्पवाली घटना प्रसाद ने पहले लायी है किन्तु इतिहास में अतिम है । ऐतिहासिक घटनाओं में कुछेक खटकने वाले परिवर्तन भी प्रसाद जी ने किये हैं । यथा-- वीणा से साप निकलने की घटना इतिहास में सामावती के प्रासाद में वर्णित है, प्रसाद ने अपने नाटक में इस घटना का समायोजन मागधी के ही प्रासाद में कराया है । हाँ, वीणा पद्मावती के प्रासाद से मँगवायी गयी है । इतिहास में वीणा में सर्प रखने में मागधी का चाचा सहयोग देता है, किन्तु प्रसाद जी ने यह कार्य दासी से सम्पन्न कराया है । हालाकि यहाँ दासी द्वारा कराये जाने पर इसमें विशेष स्वाभाविकता, नाटकीयता और सभाव्यता आ जाती है, क्योंकि हर काल में दासिया ऐसे कार्य करती देखी गयी हैं । इतिहास में मागधी के निर्देश पर दास बुद्ध का अपमान करते हैं । प्रसाद जी यहाँ पर मौन हैं । उन्होंने बुद्ध के दास द्वारा अपमान

---

1. गीगर-चूलवश, पृष्ठ 58 ।

की घटना को चलता कर दिगा है । उसी प्रकार पद्मावती पर ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार शर-सधान किया गया था किन्तु वह बच गयी--सौभाग्य वश, किन्तु नाटक में उदयन के हाथ की तलवार उठ ही नहीं पाती--पद्मावती पर ईश्वरीय कृपा के कारण अन्याय नहीं होने देने के लिए । घटना के परिणाम के आधार पर प्रसाद इतिहास के समानातर हैं । दोनों के उद्देश्य हैं--पद्मावती को जीवित दिखाना । पद्मावती के प्रासाद में आग लगाने वाली घटना के कार्य-कारण के सबध में भी प्रसाद की अपनी मान्यताए हे । इतिहास बताता है कि सामावती के प्रासाद में कपडे में तेल भिगोकर मागधीया ने आग लगवा दी, किन्तु प्रसाद के नाटक में मागधी षड्यन्त्र के भेद खुल जाने पर आत्मदाह हेतु अपने ही प्रासाद में आग लगाती है । भगवान बुद्ध के प्रासाद में दर्शन-धर्म-प्रसार हेतु आगमन के घटना-काल में भी पर्याप्त अन्तर है । नाटक में आग सबधी घटनाओं क पूर्व ही प्रासाद में बुद्ध-प्रवेश, आवागमन के वर्णन हैं, किन्तु चूलवश के विवरण सर्वथा भिन्न हैं । मागन्धीया द्वारा सामावती के बध के असफल प्रयास और उदयन को सत्य की जानकारी मिलने के बाद प्रसन्न होकर बुद्ध के निर्विरोध प्रासाद में आने-जाने के आदेश दिये गये हैं ।

नाटक में वर्णित पद्मावती-उदयन मिलन सर्वथा कल्पित है । मागन्धी की दासी नवीना भी इतिहास के पन्नों में कहीं नहीं दीखती । इतिहास मागधीया और सामावती दोनों की मृत्यु के प्रमाण उपस्थित करते हैं, किन्तु नाटक में दोनों जीवित हैं । नाटक में वर्णित एक घटना के सबध में व्यवस्था और सभावना की बात अनायास उठती है कि किन परिस्थितियों में उदयन ने अजातशत्रु के विरुद्ध प्रसेनजित को सहायता प्रदान की । इतिहास में इस घटना पर कोई प्रकाश नहीं पडता, किन्तु प्रसाद के नाटक में इसके वर्णन हैं और प्रसाद ने निजी मान्यता देकर नवीन सभावनाए जुटा भी दी हैं । प्रसाद की पद्मावती अजात की अपनी नहीं, सौतेली बहन हैं, इससे यह सभावना बढ जाती है कि अजात का उससे विशेष स्नेह सबध नहीं रहा हो । मागधी का दूसरा रूप श्यामा और तीसरा रूप 'आम्रपाली' प्रसाद की अपनी कल्पना की देन है । श्यामा वेश्या के रूप में उसका चित्रण कर वे उसका सबध 'जातक' की उस पात्री से जोड देते हैं, जो वाराणसी की प्रसिद्ध वार विलासिनी थी, हजार मुद्राए लेती थी, सैकडों सेविकाओं की सेवा से युक्त यह वेश्या राजा की प्रिया थी[1] । नाटक के कई दृश्यों में श्यामा-विरुद्धक प्रसग इसी ऐतिहासिक स्वरूप का परिवर्तित रूप है । हा, नाटक में भगवान् बुद्ध के स्थान पर विरुद्धक को प्रतिष्ठापित किया गया है । श्यामा-हत्या के प्रयास इत्यादि की कथा और घटनाए इतिहास के समानान्तर हैं । प्रसाद का तथागत की प्रतिलिपि बना विरुद्धक कभी-कभी पाठकों के मन में भ्रम पैदा कर देता है और अनायास

1. कणवेश जातक ।

नाटक में सत्यता के स्थान पर कुतूहल और जटिलता के आभास होने लगत हैं ।

प्रसाद की आम्रपाली इतिहास की आम्रपाली से सर्वथा भिन्न है । प्रसाद की आम्रपाली कई सदर्भों, जीवन के कटु-मधु क्षणों का अनुभव प्राप्त करती हुई मागधी से श्यामा, श्यामा से आम्रपाली के रूप में प्रोन्नत होती है, किन्तु बौद्ध इतिहास में प्राप्त वर्णन के आधार पर आम्रपाली (अम्बपाली) अप्रतिम, अद्भुत सौन्दर्य से युक्त नगरवधू (जपनद कल्याणी) थी, जिसके सपर्क-सहवास हेतु तत्कालीन युवकों में प्राय: सघार्ष हुआ करते थे । पात्र के अस्तित्व, नाम के सबध में चाहे जो परिवर्तन-नयापन हो, किन्तु कथा और घटनाए इतिहास के समानान्तर हैं । आम्रपाली का सर्वस्व त्याग कर बुद्ध चरणों में आत्म समर्पण प्राय: इतिहास सम्मत है । सबसे खटकने वाली बात यह है कि प्रसाद की आम्रपाली आम की टोकरी सिर पर ढोकर आम बेचा करती है, उद्दण्ड बच्चे उसे चिढाते और ढेले मारते हैं, किन्तु ऐतिहासिक आम्रपाली रूप-गुण सपन्ना ही नहीं, अपितु विपुल वैभव, मणिकाचन से भरी पूरी है, जिसने कभी दारिद्र्य के सपने तक नहीं देखे। ऐतिहासिक प्रमुख पात्र के सबध में ऐसी मौलिक उद्भावना, मान्यता अनायास भ्रान्ति उत्पन्न करा देती है । वैसे एक सभावना यह बनती है कि विवादास्पद, ईर्ष्यालु, विभिन्न अवगुणों से युक्त चरित्र मागधी के जीवन का ह्रास वेश्या श्यामा के रूप में दिखाकर उसकी चरम परिणति, आम्रपाली के रूप में अमिताभ के चरणों में समर्पण द्वारा कराना प्रसाद का उद्देश्य रहा हो, क्योंकि वे सदा से यथार्थोन्मुख आदर्शवादी रहे हैं । अस्तु, ऐतिहासिक घटना से यह स्खलन खटककर भी बहुत परेशान नहीं करता है, जब कार्य-कारण की परिणति और उद्देश्य पर दृष्टिपात किया जाता है ।

स्कन्दगुप्त : ऐतिहासिक आधार

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि 'स्कन्दगुप्त' प्रसाद के अन्य नाटकों से विभिन्न दृष्टियों से भिन्न है-तथ्य, कथ्य, शैली, शिल्प इत्यादि । इसी कारण विभिन्न विद्वान् इसे हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटक मानते हैं । यह पहले ही कह देना अधिक समीचीन होगा कि इसकी रचना में इतिहास, मनोविज्ञान, राजनीति और साहित्य के अद्भुत समन्वय की झाकी मिलती है । इतिहास स्वर्णयुगीन गुप्त साम्राज्य के अतिम चरण का है, जब आर्यावर्त्त का समग्र पश्चिमी अचल हूणों की आक्रामक मनोवृत्ति का शिकार हो चुका था । चन्द्रगुप्त के सपनों का पालना, उसका अचल में रहना अशान्त हो गया था, उसका भविष्य सर्वथा

---

1 (क) सुमगल विलासिनी ।
(ख) थेरीगाथा के गीतों में आनद द्वारा बेसुध भिक्षुओं को सचेत करने का प्रसग ।

2 दीर्घ निकाय-213 ।

गहन-तम में डूबता-सा दीख रहा था । यानी यह कहा जा सकता है कि गुप्त-साम्राज्य विनाश के पुलिन पर खडा तीव्र लहरों के आघात-प्रत्याघात की आशकाओं से त्रस्त और भयभीय था । नाट्यारभ में प्रस्तुत स्कन्दगुप्त की मानसिक स्थिति इस तथ्य-सत्य को प्रतीकित करती है ।

नाट्यारभ के आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व, मानसिक अशान्ति से समस्त अगली घटनाएँ सहज सभावित हो जाती हैं । इस नाटक के प्राय. सभी पात्रों की प्रस्तुति मनोवैज्ञानिक मान्यताओं के सन्दर्भ में हुई है । इस राजनीतिक पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है कि विप्लव, विरोध, विद्रोह की स्थिति में प्रेम की बलि बराबर पडती रही है ।

प्रसाद के अन्य नाटकों में घटनाएँ और पात्र बहुत हद तक इतिहास की सीमाओं में घिरे हैं, किन्तु स्कदगुप्त में वे सीमाए कई स्थलों पर क्षीण होती दिखाई देती हैं । 'स्कन्दगुप्त' से सम्बद्ध इतिहास अन्तर्विरोधों और गुप्त साम्राज्य के पतनोन्मुख काल की अतिम दीपशिखा के विवरण प्रस्तुत करता है, जब अपने पिता कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद शासन-भार ग्रहण करने में स्कन्दगुप्त को दम तोड सघर्ष करना पडा । इतिहास साक्षी है कि स्कन्दगुप्त को हूणों के कई आक्रमण रोकने और जूझने पडे । उसके पिता कुमारगुप्त अत्यत दुर्बल और विलासी थे[1] । जैसे-तैसे उसने राज्य-नियत्रण किया । गुप्तकाल के शिला-लेखों और मुद्राओं से पता चलता है कि स्कदगुप्त उत्तराधिकारी बना[2] । स्कंद की माता का सही नाम का उल्लेख नहीं मिलता । भिटारी की राज मुद्रा में अनन्त देवी के पुत्र पुरगुप्त के नामोल्लेख मिलते हैं । कुछ इतिहास उत्तराधिकार के लिए स्कदगुप्त और उसके सौतेले भाई पुरगुप्त के बीच हुए सघर्ष और युद्ध के विचार प्रस्तुत करते हैं, किन्तु कुछ अन्य इतिहासकार इसे नकारते हैं[3] तथा उसके पिता के शासन-काल में ही उसके पराक्रम और शौर्य की धाक की चर्चा करते हैं । श्री राखाल दास बनर्जी का विचार है कि स्कन्दगुप्त की शक्ति के आगे उसके प्रारभिक शासन-काल में कोई अतर्विरोध और सघर्ष न सक्रिय हुआ, न उग्र । सभव है, हूणों के साथ स्कदगुप्त के युद्ध में उसकी व्यस्तता से लाभ उठाकर पुरगुप्त ने षडयन्त्र किया होगा । बिहार, जूनागढ़ और भिटारी के प्राप्त लेखों से भी स्कन्दगुप्त के चरित्र, शौर्य और महत्वपूर्ण कार्य के उल्लेख मिलते हैं । इन्दौर के ताम्रपत्र, कोसम के मूर्तिलेख, राजतरगिणी और कथासरित्सागर भी स्कद-काल की घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं । फिर भी इन छिट-पुट प्राप्त सामग्रियों से स्कदगुप्त के जीवन और इतिहास पर पूरा प्रकाश नहीं पडता । अधिकांश इतिहास इस बात के प्रमाण देते हैं कि बर्बर जाति हूण ने अत्यन्त निर्दयता और अमानुषिकता पूर्वक गुप्त साम्राज्य

---

1 आर० डी० बनर्जी-द एज आफ इम्पिरियल गुप्ताज, पृष्ठ 40 ।

2 वी० ए० स्मिथ-इण्डियन एन्टिक्वैरी, पृष्ठ 266 ।

3. (क) राधा गोविन्द बसाक-हिस्ट्री ऑफ नार्थ इस्टर्न इण्डिया, 62-63 ।
(ख) एच० आर० चौधरी-पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एनसियट इण्डिया, 386-88 ।

को अपनी पाशविक वृत्ति का शिकार बनाया । नगर जलाये गये, स्त्रिया अपहृत हुई, पुरुषों को गृत्यु की गोद में सुला दिया गया और इस प्रकार गुप्तश्री छिन्न-भिन्न होकर अत्यत दुर्बल हो चुकी थी । यह सब कुछ स्कदगुप्त के पिता कुमार गुप्त के शासन के अतिम चरण में हुआ । अतुल पराक्रम, साहस, शौर्य के प्रतीक के रूप में स्कन्दगुप्त ने इस चुनौती को स्वीकारा और कर्त्तव्यनिष्ठतापूर्वक विपत्ति के बादल को हटाने और पूर्वजों की कीर्ति और प्रतिष्ठा पुनर्स्थापित करने मैं लग गया । बडे सयम और कठोर जीवन बिताकर उसने बर्बर आक्रामकों का पूर्ण सफाया किया तथा पुनः धन, बल-सम्पन्न राष्ट्र की स्थापना की । तदनन्तर वह राज्य-सिहासनारूढ हुआ[1] । इसी स्तम्भलेख में उसकी गुणगाथा के वर्णन के सन्दर्भ में उसकी उपमा श्रीकृष्ण से दी गयी है । शत्रुओं का दर्प-दमन कर, वश-गौरव को पुन· स्थापित कर, अपनी जीवित माता के समक्ष वह वैसे ही प्रस्तुत हुआ, जैसे कस-दमन और शत्रु-हनन कर श्रीकृष्ण देवकी के सामने गये थे[2] । सोमदेव के कथा-सरित्सागर में इस ऐतिहासिक घटना को काव्यात्मक गरिमा और शैली में प्रस्तुत किया गया है । स्कदगुप्त, विक्रमादित्य, भगवान शिव की कृपा से प्राप्त बताया गया है, जो म्लेच्छों के विनाश के बाद उज्जयनी नागरी में उपस्थित हुआ था[3] । इसी में उसका नाम विषमशील भी बतलाया गया है । वस्तुतः, चारित्रिक उत्कर्ष के कारण विक्रमादित्य 'विषमशील' लगता भी है । रजत-मुद्राओं पर उसकी 'विक्रमादित्य' उपाधि के सकेत मिलते हैं[4] । 'इन्दौर के ताम्रपत्र' के अनुसार उसे परमभट्टारक महाराजाधिराज माना गया है[5] । 'कहयूम स्तभलेख उसके क्षितिपशतपति' नाम का उद्घाटन करता है[6] । इन उपर्युक्त सामग्रियों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि नाटककार प्रसाद को बहुत कम साक्ष्य और आधार मिले थे । उन्होंने अपने नाटक को इतिहास की मात्र बाह्य रेखाओं से बाधने का उपक्रम किया है । यदि ऐसा न होता तो पुस्तक स्वच्छन्द और काल्पनिक बनकर रह जाती ।

स्वर्गीय प्रसाद ने अपने नाटक के प्रथम सस्करण की भूमिका में कुछ ऐतिहासिक साक्ष्यों के विवरण दिये हैं, किन्तु वे नाटक में वर्णित बहुत कम घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं । अधिकाश के विश्लेषण के लिए गुप्तकालीन विभिन्न लेखों और इतिहास ग्रन्थों के दामन पकडने पड़ते हैं । भूमिका से स्पष्ट

1 भितरी का स्तम्भलेख, पक्ति 10 (कार्णस इन्सक्रिप्सन्स इण्डिकारम, खण्ड-3, पृष्ठ 53-54 ।
2. भितरी का स्तम्भलेख, पक्ति 12 (कार्णस इन्सक्रिप्सन्स इण्डिकारम, खण्ड-3, पृष्ठ 53-54 ।
3. कथा सरित्सागर (विषमशील लवक) तृतीय तरग, श्लोक 7 ।
4 एलेन-गुप्ता क्वायन्स, भूमिका, पृष्ठ । •
5 फ्लीट-सी० आई० आई०, खण्ड-3, पृष्ठ स०-16 ।
6. वही, पृष्ठ 67, पृष्ठ स० 15 ।

है कि प्रसाद ने प्रबन्ध कोष, कालकाचार्य की कथा, राजा बली गाथा-सप्तशती, जैसलमेर और स्मिथ के इतिहास, जल्हण की सूक्ति मुक्तावली, पराक्रम वाहुचरित्र, हरि-कवि-कृत सुभाषितावली तथा कालिदास के ग्रन्था का अवलोकन किया था। वस्तुत:, इन ग्रन्थों का घटनाओं से कोई सबध नहीं दीखता। यह सच है कि प्रसाद ने कुछ अपनी ऐतिहासिक मान्यताए निर्धारित की हैं और कुछ सामान्यत. प्राप्त इतिहास का सहारा लिया है। इसके परिणामस्वरूप कथानक के मुख्य प्रवाह में कहीं-कहीं हल्की रुकावट मिलती है। घटनाए विशृखल-सी लगती हैं, किन्तु कुशल नाटककार ने उसे बडी दक्षता और निपुणतापूर्वक समटकर समापन की ओर अग्रसर किया है।

नाटक के आरम्भ में गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम के कारण स्कदगुप्त क्षुब्ध और उदासीन है। उसे पर्याप्त और चक्रपालित सात्वना देते हैं। नाटक का यह दृश्य पूर्णतः काल्पनिक है। सामान्यत:, पिता अपने पुत्रों में स्वेच्छा से उत्तराधिकारी का चयन करता था। स्कदगुप्त के क्षोभ का परोक्ष कारण यह भी हो सकता है कि उसके बदले उसके सौतेले भाई पुरगुप्त को राज्याधिकार मिल गया था। इस तथ्य की पुष्टि भितारी के लेख से होती है, जिसमें कुमारगुप्त के बाद पुरगुप्त का नाम आता है। 'इलाहाबाद स्टोनपिलर इस्क्रिप्शन आफ समुद्रगुप्त' में भी स्कदगुप्त के सिहासनाधिकारी नहीं होने के सकेत मिलते हैं[1]। नाटक में स्कदगुप्त के युवराज होने की मान्यता को आधार कई इतिहासकारों की इस स्वीकारोक्ति से मिलता है कि गुप्त साम्राज्य में सर्वाधिक योग्य राजकुमार ही उत्तराधिकार पाता था। प्रसाद के नाटक में वर्णित राज्य प्राप्त हेतु स्कद का सघर्ष प्रकारान्तर से कई इतिहासकारों द्वारा स्वीकृत और समर्थित है। स्कद के पिता के समय संघर्ष, युद्ध, उथल-पुथल पूर्णतः ऐतिहासिक सत्य है। पुष्यमित्र उनके प्रबल प्रतिरोधी और समर्थ शत्रु थे, किन्तु इनके पूरे ठौर-ठिकाने के बारे में इतिहास की ही तरह प्रसादजी भी मौन हैं। सिर्फ इन्होंने अपने चरित-नायक स्कदगुप्त की उन पर विजय बतायी है। मालव से आये दूत का विवरण तथा मालव राज्य द्वारा शकों और हूणों से रक्षा हेतु स्कदगुप्त से सहायता की याचना इतिहास सम्मत नहीं है। वस्तुतः नाटक में इस घटना की प्रस्तुति का उद्देश्य गुप्त और मालव-राज्य के बीच सधि, सद्भाव और मधुर सम्बन्ध का वर्णन मात्र है। एक सम्मिलित शिलालेख से स्पष्ट होता है कि बधु वर्मा कुमारगुप्त के अधीन एक कर देने वाला राजा था[2] किन्तु प्रसाद द्वारा प्रस्तुत मालव-राज्य के वश-वृक्ष के अनुसार मालव राज विश्वकर्मा एक स्वतत्र नरेश था। और बधुवर्मा का भाई भीमवर्मा स्कद का समकालीन। गगाधर के शिलालेख से उसकी पुष्टि होती है। मन्दसौर के

---

1 सरकार-इलाहाबाद स्टोन पिलर इन्सक्रिप्सन आफ समुद्रगुप्त-सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन, पृष्ठ 254।

2 वही (मदसौर का बन्धुवर्मा और कुमारगुप्त का शिलालेख) पृष्ठ 813।

शिलालेख स उसकी पुष्टि होती है । मन्दसौर के शिलालेख के अनुसार विश्वकर्मा को मात्र 'राजा' की उपाधि प्राप्त थी और वह 'गोप्ता' कहलाता था । प्रसाद के नाटक में महाराज विश्वकर्मा का निधन बताकर इस मत की स्वीकृति दी गयी है । विश्वकर्मा और कुमारगुप्त की सधि प्रसाद की निजी मान्यता है । इतिहास शकों पर कुमारगुप्त की विजय के बारे में मौन है । नाटक के प्रथम दृश्य में मालव दूत के सदेश-'शक-राष्ट्र मण्डल चचल हो रहा है । नवागत म्लेक्षवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रान्त हो चुका है, मालव भी अब सुरक्षित न रहा । वलभी का पतन अभी रुका है, किन्तु बर्बर हूणों से उसका बचना कठिन है । मालव की रक्षा के लिए महाराज बधुवर्मा ने सहायता मागी है[1]। से स्पष्ट है कि कुमारगुप्त के शासन काल के अन्तिम चरण में पुष्यमित्रों पर विजय पाने के पहले ही समस्त उत्तर-पश्चिम भारत को रौंदते हुए हूण स्वराष्ट्र और वलभी तक पहुँच गये थे । इसके कुछ पहले पर्णदत्त ने चरों के हवाले यह सूचना दी थी कि कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रान्त कर लिया । इन दो घटनाओं के काल के सम्बन्ध में प्रसाद जी ने ऐतिहासिकता भूल की है । दोनों घटनाए परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं । हा, दूत के कथन से यह आभास मिलता है कि विश्ववर्मा के निध न के बाद राजा बने नवीन नरेश महाराज बधुवर्मा स्कदगुप्त के प्रिय और समकालीन थे । सम्राट् कुमारगुप्त विश्वकर्मा के सरक्षक थे और मालव-रक्षा गुप्त वश तथा गुप्त सेना का कर्त्तव्य । स्कदगुप्त के ये निर्णय-निश्चय और घोषणा-'केवल सधि-नियम से ही हम बाध्य नहीं हैं, किन्तु शरणागत रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है ।...अकेला स्कदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है । जाओ, निर्भय, निद्रा का सुख लो । स्कदगुप्त के जीते-जी मालव को कोई कुछ न बिगाड सकेगा[2] । इतिहास के व्यापक समर्थन के अभाव में भी स्कदगुप्त के ऐतिहासिक चरित्र को देखते हुए सहज और स्वाभाविक प्रतीत होते हैं ।

प्रसाद के नाटक के परिशिष्ट में विभिन्न ऐतिहासिक तथ्य और सत्य के आधार पर विक्रमादित्य नाम के तीन राजा-कुल का वर्णन मिलता है । भारतीय इतिहास के ये तीन विक्रमादित्य विभिन्न कालों में हुए । कालक्रम के अनुसार मालव गणाधिपति गन्धर्व सेन-पुत्र पहला विक्रमादित्य था । इतिहासकार इसे शकारि बताते हैं, जिसने शकों का विनाश कर, दिल्ली का सिहासन जैतपाल को सौंपा था । इस विक्रमादित्य का शक के साथ युद्ध कहरूर में हुआ था, जो मुलतान से लगभग पचास मील दक्षिण-पूर्व है । दूसरा विक्रमादित्य-चद्रगुप्त द्वितीय को बताया गया है, जो पाटलिपुत्र का शासक था । साक्ष्यों के आधार पर पुस्तक में वर्णित तथ्य यह सकेत देता है कि इसने कभी शकों के साथ युद्ध नहीं किया ।

---

1 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 13 ।

2 वही, पृष्ठ 14 ।

इसके बहुत पहले समुद्रगुप्त के द्वारा शकों के साथ युद्ध करने और उन्हें परास्त करने का ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है। इस विक्रमादित्य के शासन-काल में विक्रम सवत् का प्रचलन नहीं मिलता, बल्कि गुप्त सवत् ही प्रचलन में था। कई इतिहासकार इस विक्रमादित्य का नाम चद्रगुप्त बताते हैं। विक्रमादित्य मात्र उपाधि थी। तीसरा विक्रमादित्य ही स्कदगुप्त था, जिसका वर्णन राजतरगिनी में हर्ष-विक्रमादित्य के रूप में मिलता है। इसे भी इतिहास के विद्वान् शकारि बताते हैं, जिसने शक-वश के अन्तिम छत्रप रुद्र सिह को बुरी तरह परास्त किया था और सौराष्ट्र को शकों के व्याल-जाल से पूर्णतः मुक्त कराया था। 'राज-तरगिणी' से सकेत मिलता है कि इसी स्कदगुप्त विक्रमादित्य ने सौराष्ट्र के शकों और गान्धार के हूणों की सम्मिलित सेना को अपने अतुल पराक्रम और शौर्य से कहरूर युद्ध में परास्त कर, आर्यावर्त्त की रक्षा कर अपना गौरव बढ़ाया। राजतरगिणी में वर्णित हर्ष ऐतिहासिक प्रमाण के अनुसार एक भ्रान्ति है, क्योंकि पाचवीं, छट्ठी शताब्दी में इस नाम का कोई राजा नहीं हुआ। किषदेव परमार नामक एक राजा की वर्त्तमानता मालवा में ई० 970 में प्रमाणित होती है। राजतरगिणी गान्धार वश के तोरमाण को हर्ष का सम-सामयिक और कश्मीर का युवराज बताती है। तोरमाण के शिलालेख के अनुसार उसका पिता प्रवरसेन स्कदगुप्त का सम-सामयिक था। राजतरगिणी में उल्लिखित 'हर्ष' ऐतिहासिक भ्रातिया उत्पन्न करता है। प्रसाद की निजी धारणा है कि 'श्रीमान् हर्षापरामिधः' के स्थान पर 'श्रीमान् स्कन्दापरामिधः' होना चाहिए[1]। प्रसाद के नाटक के परिशिष्ट में वर्णित विक्रमादित्य प्रथम और तृतीय दोनों 'शकारि' माने गये हैं, किन्तु इतिहास इसे स्वीकृति प्रदान नहीं करता। संभव है, कुछ ऐसे ही विवादों के कारण प्रसाद जी ने अपने नाटक के बाद के सस्करण में प्रथम सस्करण के परिशिष्ट में दिये नाम को हटा दिया।

कुछ नवीनतम अनुसधानों के आधार पर यह नया तथ्य सामने आया है कि द्वितीय विक्रमादित्य (चद्रगुप्त) ने शकों को पराजित किया था, किन्तु प्रसाद ने तृतीय विक्रमादित्य के बारे में यह मान्यता स्थापित की है। यहा पर प्रसाद की यह मान्यता विसेंट-स्मिथ की मान्यता के विपरीत लगती है। वैसे अपने ही नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद जी ने इस घटना पर प्रकाश डाला है कि चद्रगुप्त द्वितीय ने ध्रुवदेवी और राज्य की रक्षा के लिए शकराज की हत्या की थी[2]। यह शकराज सभवतः रुद्रसिंह रहा होगा। वैसे भी इतिहास मानता है कि चंद्रगुप्त 380 ई० के पहले ही सिहासना रुढ़ हो चुका था। ध्रुवस्वामिनी के अनुरोध पर उसने शकों पर आक्रमण किया था, जो पश्चिमी भारत को त्रस्त किये हुए थे। इतिहास के अनुसार चंद्रगुप्त द्वितीय की शकों पर विजय 400 ई० के लगभग हुई थी।

1 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 48।

शकराज रुद्रसिह के सिक्कों पर अकित अन्तिम काल भी 400 ई० के लगभग ही मिलता है । कई स्थानों (उदयगिरि गुफा, मेहरौली के लौहस्तम्भ इत्यादि) पर उत्कीर्ण चित्र और लेख भी चद्रगुप्त द्वारा शक-विजय की बात पुष्ट करते हैं, न कि स्कदगुप्त द्वारा यह कहना उचित होगा कि प्रसाद के स्कद का नाम और शासनकाल सर्वथा सदिग्ध और विवाद का विषय है, क्योंकि घटनाओं के सदर्भ में विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त का नाम आता है, स्कदगुप्त का नहीं । राजशेखर की 'काव्यमीमासा' में जिस सम्राट् (उज्जयिनी के ससाक) का वर्णन है, इतिहासकार उसे भी चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते हैं[1] । अस्तु, प्रसाद का स्कदगुप्त न तो उज्जयिनी नाथ है और न शकों का विनाशक (शकारि) । 'कहरूर' को डा० दशरथ शर्मा ने 'करूर' माना है । समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में इसे ही 'कर्तृपुर' माना गया है[2]। मुसलमान इतिहासकार अल्बेरुनी के अनुसार एक पूरब देश के सम्राट् विक्रमादित्य ने लोनी और मुलतान के बीच स्थित करूर क्षेत्र में एक शक राजा को पराजित कर उसकी हत्या की[3] ।

इन विवेचनों के आलोक में यह धारणा पुष्ट होती है कि प्रसाद के नाटक स्कदगुप्त के आरम्भ में वर्णित शक-हूण के आक्रमण सर्वथा नाटककार की मानस-धारणा है, ऐतिहासिक सत्य नहीं । इसके सन्दर्भ में स्कद के सामने सहायतार्थ मालवदूत का प्रस्तुत होना भी कल्पनाप्रसूत है ।

प्रसाद के नाटक का पात्र मातृगुप्त कई विद्वानों के अनुसार विश्ववद्य, प्रकृति के उन्मुक्त कवि कालिदास है । डॉ० माऊदाजी दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं । औफ्रेक्ट महाशय ने इनका काल ई० सन् 430 माना है । कुछेक विद्वानों ने डॉ0 माऊदाजी के मत से अपनी असहमति व्यक्त की है । फिर भी प्रसाद के मातृगुप्त को ऐतिहासिक आधार प्राप्त है । विभिन्न विद्वानों और साक्ष्य इस बात के समर्थन करते हैं कि कालिदास गुप्तकालीन थे । उनके काव्य में जिस वैभव, समृद्धि, व्यवस्था, कला कौशल और सुख-शान्ति के वर्णन मिलते है, वे सब गुप्त काल में प्राप्त थे । उस काल में अनेक सुन्दर, प्रतिभा-सम्पन्न कवि-कलाकार उभरे। सस्कृति-साहित्य की भी पर्याप्त वृद्धि इस काल में हुई । वैसे कालिदास के सदर्भ में अतिम रूप से शोध-निष्कर्ष आज भी प्राप्त नहीं है ।

प्रसाद जी द्वारा कालिदास को कश्मीर का तथा अलका-वियोग को कश्मीर-वियोग मानना भी विद्वानों को स्वीकार्य नहीं है । हूणों के आक्रमण से त्रस्त होकर कालिदास (मातृगुप्त) ने कश्मीर छोडा था, यह भी प्रसाद जी की कल्पना है । कालिदास और कुमारदास की मैत्री, सिंघल में कालिदास का एक वेश्या के

1 जे०वी०आर०एस० (अल्टेकर का लेख) ।

2 जर्नल आफ इण्डियन हिस्टरी, पार्ट-1, क्रम-40, लोकेशन आफ कर्तृपुर ।

3 अल्बरूनीज इण्डिया (सचर) 2/6 ।

जाल में फसकर निधन इतिहास द्वारा नहीं बल्कि लोक-गाथाओं और जन-श्रुति द्वारा समर्थित है ।

महाराज कुमारगुप्त की कुसुमपुर-सभा काल्पनिक होकर भी सभावनाए समेटे है, क्योंकि इसका एकमात्र उद्देश्य है--स्कद की माता देवकी के प्रति उसकी उदासीनता तथा पुरगुप्त की माँ (स्कद की विमाता) के प्रति अतिशय आसक्ति की अभिव्यजना । स्कद की माता का नाम-देवकी-प्रसाद जी ने भितरी के स्तम्भलेख के आधार पर दिया है । वैसे वहाँ भी वह नाम श्रीकृष्ण की माता देवकी के सदर्भ में आया है[1] । राखालदास बनर्जी ने भी अनन्ता और देवकी के नाम का उल्लेख 'करुणा' में किया हे । ऐसे स्थल जहाँ भी आये हैं --- इतिहास के मौन से प्रसाद जी ने लाभ उठाया है और जो मौलिक उद्‌भावना दी है, वह महज, स्वाभाविक और ग्राह्य है ।

प्रसाद के नाटक में अनन्त देवी और भटार्क की मिली भगत और षड्‌यत्र इतिहास के अध्याय से बाहर, प्रसाद के कल्पना-लोक के तथ्य हैं, किन्तु हैं बडे सहज और प्रभावशील ।

'स्कदगुप्त' में कुमारगुप्त की मृत्यु के तत्काल बाद पुरगुप्त का राज्य ग्रहण, महादण्डनायक और महाप्रतिहार की आत्महत्या एकदम काल्पनिक है । वैसे हूणों का एक निर्णायक युद्ध इतिहास में कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद बताया जाता है। नागरिकों की रक्षा का प्रश्न और वर्षों के भ्रातृ-विरह के बाद अनायास गोविद गुप्त का उपस्थित होना भी नाटककार की अपनी सभावनाए हैं । जनश्रुतिया और तत्कालीन लोक-कण्ठ में व्याप्त कथा का सहारा भी प्रसाद जी ने खूब लिया है -- ऐसी मौलिक स्वतत्र तथा काल्पनिक घटनाओं के सयोजन में । वैसे विभिन्न पुस्तकों के अवलोकन से यह सत्य निर्धारित होता है कि गोविन्द गुप्त और कुमार गुप्त का आपसी विरोध और रोष श्री राखालदास बनर्जी की कल्पना की उपज है, ऐतिहासिक घटना नहीं । सभावना है श्री प्रसाद ने उसी कल्पना को प्रकारान्तर से अपने स्कदगुप्त में थोड़े परिवर्तन के साथ उतारा है ।

इतिहास स्कदगुप्त और विजया के पारस्परिक आकर्षण और प्रणय तथा स्कदगुप्त के साथ चक्रपालित की वार्ता के सबध में कोई प्रमाण नहीं देता । नाटक में वर्णित अवन्ती का शक और हूण आक्रमण भी इतिहास सम्मत नहीं है । इस घटना के आलोक में विजया, देवसेना, जयमाला और बधु वर्मा इतिहास के पन्नों में कहीं अकित नहीं मिलते, बल्कि विशुद्ध रूप से प्रसाद जी की कल्पना की उपज हैं । नाटक में उनकी व्याप्ति बहुत सहज, स्वाभाविक और प्राकृतिक लगती है,

---

1 पितरि दिवमुपेते विप्लुता वश-लक्ष्मीम्
भुजबलविजितारिय प्रतिष्ठाप्य भूप.
जितमिति परितोषान्मातर सासुनेत्राम्
इतरिपुरिव कृष्णो देवकीमम्युयेत. ।

ऊपर से आरोपित नहीं । भितरी के शिलालेख, शत्रुदमन कर अश्रुतपूरित नयनों के साथ मा के सामने स्कद के उसी प्रकार उपस्थित होने के सकेत देते हैं जैसे कसवध कर कृष्ण बन्दीगृह में मा देवकी के सामने गये थे । बस मात्र इतने सकेत के आधार पर प्रसाद जी ने स्कद की मा का चित्रण तथा सर्वनाग द्वारा उनकी हत्या के प्रयत्न का वर्णन किया है । हा, इन्दौर के ताम्रपत्र के अनुसार शर्वनाग का अतर्वेदी का विषयपति होना प्रमाणित होता है[1] । भटार्क और रामा भी सर्वथा स्वतत्र उद्‌भावना है । 'स्कदगुप्त' की ये घटनाएँ काल्पनिक होकर भी ऐतिहासिक सभावनाओं से परिपूर्ण हैं । 'स्कदगुप्त' के द्वितीय अक में गोविद गुप्त के आर्य साम्राज्य के महाबलाधिकृत बनाये जाने के स्पष्ट सकेत हैं[2], किन्तु इतिहास के प्रमाणों से इसकी पुष्टि नहीं होती कि गोविदगुप्त पर स्कदगुप्त के राज्यकाल में कभी यह गुरुतर भार सौंपा गया था । आर० डी० बनर्जी यह सकेत अवश्य देते हैं कि अपने भाई कुमारगुप्त के राज्यकाल में गोविन्दगुप्त सौराष्ट्र तथा मालवा में उपस्थित थे । अपने भतोजे स्कद पर उसके अतिशय स्नेह और सद्‌भाव के वर्णन 'उठो वत्स ! आर्य चन्द्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति ! गुप्त कुल-तिलक! भाई से मै रूठ गया था, परन्तु तुमसे कदापि नहीं, तुम मेरी आत्मा हो वत्स! . . . महादेवी तुम्हारी कोख से पैदा हुआ । यह रत्न, यह गुप्तकुल के अभिमान का चिह्न, सदैव यशोमण्डित रहंगा[3] । इतिहास द्वारा समर्थित नहीं होने पर भी अत्यन्त हृदयावर्जक और सहज लगते हैं ।

'स्कदगुप्त' नाटक में वर्णित कई अन्य घटनाए भी इतिहास-सम्मत नहीं, प्रत्युत् प्रसाद के कल्पनाशील व्यक्तित्व और अद्‌भुत रचना-कौशल के प्रमाण हैं । उदाहरणार्थ--गान्धार घाटी का युद्ध, बंधु वर्मा का निधन, अनन्त देवी और भटार्क के षडयत्र तथा हूणों से अपवित्र गठबधन जोडने की योजना । इन घटनाओं से सम्बद्ध, वर्णन-चित्रण इतने व्यवस्थित और परिस्थितिजन्य हैं कि अनायास आरोपण या अनैतिक नहीं लगते । भवभूति के 'मालवी-माधव' में वर्णित एक कापालिक क्रिया- मालती की बलि का प्रसग-के आधार पर अपने नाटक में प्रसाद जी ने अपनी कुशाग्र-बुद्धि से प्रपच बुद्धि कापालिक की सृष्टि की है, जो देवसेना की बलि देने को उद्धत हैं । ऐन मौके पर उपस्थित होकर मातृगुप्त और स्कदगुप्त उसे ठीक वैसे ही बचा लेते हैं[4], जैसे 'मालती-माधव' में मालती को माधव । स्पष्ट है कि मालती-माधव की घटना के आलोक में प्रसाद जी ने नाम परिवर्तन के साथ उसी स्वर को मुखरित किया है । नाटक में इस घटना की योजना नहीं होने पर

---

1 इन्दौर ताम्रपत्रा-सी०आई०आई० (पल्ली 8), प्लेट-16, पृष्ठ 70 ।

2 स्कदगुप्त, पृष्ठ 79-80 ।

3 वही, पृष्ठ 78 ।

4 वही, पृष्ठ 91 ।

भी कथा के विकास में न कोई अवरोध पैदा होता है, न विशृखलता आती है। फिर भी प्रसाद ने अपनी स्वतत्र मान्यता स्थापित करने के लिए इस घटना की सृष्टि की है। हा, इससे देवसेना के प्रगाढ-प्रेम की पुष्टि अवश्य होती है --'कापालिक ! एक और भी आशा मेरे हृदय में है, वह भी पूर्ण नहीं हुई है, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है[1]। 'प्रियतम ! मेरे देवता युवराज !! तुम्हारी जय हो !' कहकर आत्मबलि के लिए सर झुका देना देवसेना के चारित्रिक उत्कर्ष के द्योतक हैं। सभव है प्रसाद ने इसी उत्कर्ष को दिखाने के उद्देश्य से इस घटना की योजना की होगी। ऐसे गाढे समय में तथा जीवन के व्यक्तिगत क्षणों में मातृगुप्त को स्कन्दगुप्त के साथ प्रस्तुत करने के पीछे निश्चित रूप से दोनों की विशेष आत्मीयता दिखना प्रसाद का उद्देश्य रहा होगा।

नाटक के चतुर्थ अक में प्रख्यात कीर्ति और धातुसेन द्वारा ब्राह्मण-बौद्ध-सघर्ष नहीं होने देने के प्रयास इतिहास में कहीं नहीं मिलते, किन्तु प्रसाद इस सघर्ष पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए अन्तत: ब्राह्मण का मस्तिष्क परिवर्तन करा ही देते हैं। वह तलवार फेंककर महाश्रमण प्रख्यातकीर्ति का अभिवादन करता है-- "धन्य हो महाश्रमण ! मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे-ऐसे धार्मिक भी इसी सघ में हैं। मैं बलि नहीं करूगा[2]"। इतिहास से मात्र इस सभावना का पता चलता है कि स्कदगुप्त के शासन के अन्तिम चरण में बौद्ध-ब्राह्मण-संघर्ष सर्वथा संभावित था, क्योंकि गुप्तकाल के तुरन्त बाद बौद्धों द्वारा अभिचार क्रियाओं के प्रमाण मिलते हैं।

स्मिथ के अनुसार स्कद के शासन-काल में ही हूणों ने अन्तर्वेदी पर अधिकार कर लिया था[3]। देवसेना पर हूणों द्वारा अत्याचार के प्रयास, शर्वनाग के पुत्रों की हत्या, कमला की कुटिया में स्कन्द की चिन्ताग्रस्तता, महादेवी देवकी की समाधि, विजया की आत्महत्या, रत्नगृह की प्राप्ति तथा पुन: सैन्य-सचालन इतिहास की लक्ष्मण-रेखा से बाहर की घटनाए हैं, जिन्हें प्रसाद जी ने बखूबी अपने नाटक में मुख्य कथानक को विशेष स्वस्थ करने के लिए संजोया है।

नाटक के अंतिम अंक की कुछ घटनाएं -- चतुर्थ दृश्य में महाबोधि-विहार में प्रख्यात कीर्ति द्वारा हूण सेनापति को एक-टूक जवाब और धातुसेन द्वारा हूण के साथ गुप्त सधि में सलग्न अनन्त देवी, पुरगुप्त और हूण-सेनापति का बन्दी बनाया जाना[4], पाचवें दृश्य में रणक्षेत्र में खिगिल की हार,

---

1 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 91।

2 वही, पृष्ठ 25।

3 अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पष्ठ "28।

4. स्कदगुप्त, पृष्ठ 148-49।

सम्राट को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु[1]--- ऐतिहासिक सभावनाओं से युक्त प्रसाद की काल्पनिक उद्भावनाए हैं, जो अनैतिहासिक होकर भी ऐतिहासिक-सी सत्य लगती है । नाटक के अन्त में नाटककार का कवि हृदय मुखर और मूर्त हो उठा है, जब स्कदगुप्त मालवेश कुमारी, जननी-जन्मभूमि के लिए समर्पित बधुवर्मा की बहन-देवसेना को कुसुमादपि मसृण हृदय से वज्रादपि कठोर निर्णय लेकर विदा देता है । जीवन के शेष दिन एक-दूसरे का मुह देखकर बिताने का स्कंद का निश्चय मानस-गह्वर में ही रह जाता है । वह अपने जीवन-कानन की वसन्तश्री, अमरावती की शची को चाहकर भी नहीं प्राप्त करता, क्योंकि कुमार-जीवन बिताने के उसी के पूर्व निश्चय उसके जीवनादर्श निर्धारित कर देते हैं । स्वर्ग की लक्ष्मी-सी पवित्र देवसेना भी अपने 'इस जीवन के देवता' और उस जीवन के 'प्राण' के लिए अमर सदेश[2] देकर चरणों में समर्पित हो जाती है। उसके सिर पर हाथ रखता हुआ स्कन्द ऐसा लगता है, मानों स्वय तथागत यशोधरा के सर पर आशीष के हाथ रख रहे हों । प्रसाद का कवि हृदय यहाँ 'जीवन के सुन्दर समतल में पीयूष स्रोत सी बहने वाली श्रद्धा-सरिता' में निमग्न होता-सा दीखता है । यह स्वर्गिक दृश्य ऐतिहासिक न होकर भी ऐतिहासिक सत्य और आदर्श से बहुत ऊंचा और सप्राण है । साथ ही हृदयस्पर्शी भी ।

सभावना इस सत्य की है कि प्रसाद ने अपने चरित नायक के चरित्र में उत्कर्ष-प्रदर्शन तथा मुख्य कथानक में अविरल प्रवाह लाने के लिए स्थान-स्थान पर इतिहास से अलग कुछ कल्पनाए-सभावनाएं और नियोजित की हैं ।

चन्द्रगुप्त : ऐतिहासिक आधार

इसके कथानक का ऐतिहासिक आधार और स्रोत बहुत कुछ इसकी भूमिका में स्पष्ट है । स्वय प्रसाद जी ने स्वीकारा है कि समस्त बिखरी सामग्रियों का उपयोग उन्होंने किया है । महावश एव अट्ठकथा जैसे बौद्ध-ग्रन्थ, हेमचन्द्र अभिधान एव त्रिकाडशेष जैसे जैन ग्रन्थ, विष्णु पुराण और वायु-पुराण तथा डायोडोरस, सेल्युकस, स्ट्राबो, प्लूटार्क, जिस्टना इत्यादि इतिहासकारों से प्राप्त सूचनाओं एव सामग्रियों को उन्होंने रचना का आधार बनाया । वैसे भी प्रतीत होता है कि उन्होंने कथा सरित्सागर, मुद्रा-राक्षस, कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र, कामदकीय नीतिसार, टाड, मैक्समूलर, विसेंट स्मिथ, कुछ शिला-लेखों और ताम्रपटों से भी सामग्रिया प्राप्त की हैं । कथानक का प्रधान स्रोत चाणक्य, चन्द्रगुप्त से सम्बद्ध है । शेष कथाएँ छोटी-छोटी सरिताओं की तरह इस बडी कथा-सरिता में विलीन हो जाती हैं ।

---

1 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 151 ।

2 कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि-स्कदगुप्त, पृष्ठ 154 ।

चन्द्रगुप्त मौर्यवश का पहला प्रतिभा-सम्पन्न और प्रतापी शासक था । उसके पूर्वजों के इतिहास आज तक विद्वानों के प्रश्नों के घेरे से मुक्त नहीं हुए हैं । कुछ उसे शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न मानते हैं । ऐसी भ्रामक धारणाऍं मुख्यतः ग्रीक इतिहासकारों द्वारा फैलायी गयीं है[1] । विद्वानों में अधिकाश यह मानता है कि वह बाल्यकाल से ही प्रतिभा-सम्पन्न और वीर क्षत्रिय था, जिसका जन्म पिप्पली कानन वासी मोरिय जाति के क्षत्रिय के घर हुआ[2] । ऐसा लगता है कि मगध से शासक महा पद्मनन्द सम्बन्धी जनश्रुतियों का आरोपण चन्द्रगुप्त के नाम पर हो गया । 'महापरि निव्वाण सुत्त' भी मोरिय जाति का उल्लेख करता है[3] । ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि बुद्ध के जीवनकाल में उत्तर प्रदेश के गोरखपुर क्षेत्र में मौर्यों का शासन था । सभावना की जाती है कि चन्द्रगुप्त इसी साम्राज्य वश का रहा होगा । मगध के विलासी उच्छृखल, शूद्र शासक नन्द के आतक और साम्राज्य विस्तार की चपेट में यह मौर्य साम्राज्य आ गया था, जिसकी मुक्ति के लिये मौर्य वशीय चन्द्रगुप्त ने अपने प्राण की बाजी लगायी, अपना अद्भुत शौर्य प्रदर्शन किया[4] । इतिहास इस बात का प्रमाण देता है कि अद्भुत शौर्य, साहस और अथक प्रयास के बावजूद चन्द्रगुप्त को पहले नन्द की गिरफ्त से निकल कर भागना पडा, किन्तु इस साहसी युवक ने प्रयास जारी रखा और अन्ततः उसने सफलता पायी ।

कुछेक विद्वान् इस धारणा के भी शिकार हैं कि चन्द्रगुप्त महानन्द-पुत्र हैं, किन्तु इस बात का खडन इस तथ्य से होता है कि कालान्तर में उसने नन्द-पुत्री से प्रेम किया था । दोनों में विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित हुआ था, जिसकी परिणति था बिन्दुसार, जो चन्द्रगुप्त के बाद राज्याधिकारी बना[5] । इस तथ्य के आलोक में उसके नन्द-पुत्र होने की भ्रान्ति स्वतः दूर हो जाती है ।

नन्द के कुशासन से आतकित चन्द्रगुप्त जिस समय अपने प्राण बचाकर भागा था, उसका परिचय एक अत्यन्त कुरूप, किन्तु विलक्षण बुद्धि और अद्भुत प्रतिभावाले ब्राह्मण विष्णु गुप्त से हुआ था, जो तक्षशिला का मेधावी स्नातक होने के कारण वहीं स्नातकों का अध्यापन कर रहा था । इसे कौटिल्य और चाणक्य नाम से भी पुकारा जाता था । इतिहास से इस बात की पुष्टि होती है कि तक्षशिला का गुरुकुल सर्वांगीण विकास और हरेक गतिविधि पर ध्यान रखने का प्रधान केन्द्र था । यहा के स्नातक तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक,

---

1 द इनवेज़न आफ इण्डिया बाई अलवेन्डर द ग्रेट-पृष्ठ 325-404 ।

2 (क) जयचन्द्र विद्यालकार-भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृष्ठ 548 ।
(ख) सत्यकेतु विद्यालकार-मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ 90-111 ।

3 दीघनिकाय-महापरिनिव्वाण सुत ।

4 हेमचन्द्र राय चौधरी-द पालिटिकल हिस्टरी आफ ऐन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 181 ।

5 टी० एल० शाह-ऐन्सियेन्ट इण्डिया-भाग-2, पृष्ठ 150-175 ।

आर्थिक स्थितियों पर बहुत तत्परता और सक्रियता से ध्यान रखते थे[1] । इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि सिकन्दर आक्रमण-काल म तक्षशिला का यह विद्या केन्द्र राष्ट्रवादियों और आक्रमणकारिया के विरुद्ध योजनाएँ बनाने वालों का प्रधान केन्द्र था । चाणक्य जैसे धुरन्धर सैन्यशास्त्र राजनीति-विशारद के निर्देशन यहीं प्राप्त होते थे और चन्द्रगुप्त उनका अत्यन्त विश्वासी और प्रतिभाशाली शिष्य था[2] ।

प्रसाद के चन्द्रगुप्त का कथानक चार अका में विभाजित है । सम्पूर्ण कथानक तीन मुख्य घटनाओं की रेखाओं से आवृत्त है-अलक्जेन्डर का आक्रमण, नन्दवश का उन्मूलन और सेल्यूकस का पराभव । नाटक का प्रारभ तक्षशिला के गुरुकुल के मठ से होता है, जहा मालव और कुमार सिहरण और आचार्य चाणक्य क वार्तालाप से उत्तरापथ के खड राज्य के द्वेष और यवनों की मित्रता के राजनीतिक कुचक्र का सकेत मिलता है । इतिहास इस घटना की पुष्टि तो करता है[3] किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में तथा अन्य ग्रन्थों में चाणक्य को अलग-अलग स्थान का ब्राह्मण और स्नातक माना गया है । बौद्ध-ग्रथ इसे तक्षशिला का ब्राह्मण मानते हे । डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी इसे स्वीकारा है[4] । इस मान्यता के विपरीत उसे कुछ कोंकण और कुछ पाटलिपुत्र का ब्राह्मण मानते हे । सिंधली महावश इस सत्य को स्वीकारता है कि अपनी अद्भुत मेधा आर प्रतिभा क कारण वह सम्पूर्ण तक्षशिला में विख्यात था । अपनी प्रतिभा और यश फैलान क उद्देश्य से मगध की राजधानी पाटलिपुत्र आया था[5] । इस प्रकार तक्षशिला में उसके अध्यापक होने की सभावना पुष्ट हो जाती है । सभव है पाटलिपुत्र में उसकी वर्तमानता से उसके वहीं के होने का भ्रम उत्पन्न हुआ हा । प्रथम अक क प्रारम्भ में आये पात्रों में चाणक्य, चद्रगुप्त और आम्भीक ऐतिहासिक हैं, किन्तु अलका और सिहरण प्रसाद के कल्पनापात्र हैं । तक्षशिला में चन्द्रगुप्त की शिक्षा आर आम्भीक से उसके सघर्ष की बात किसी इतिहास द्वारा पुष्ट नहीं होती । हा, महाराज पुरु के पारस्परिक द्वेष से पीडित गाधार राज सिकन्दर के स्वागत के लिये कारमेनिया के इस पार अवश्य उपस्थित थे और उन्होंने सन्धि भी की थी[6] । इसी देश-द्रोह की घटना के आलोक में प्रसाद जी ने काल्पनिक सघर्ष और वाद-विवाद

---

1 मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ 673-685 ।

2 इ० बी० हैबल-द हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इण्डिया, फ्राम द अर्लियस्ट टाइम्स टू द डेथ आफ अक्बर, अध्याय-पाँच ।

3 (क) मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ 673-685 ।
(ख) बौधकालीन भारत-पृष्ठ 371 से 375 ।

4 इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनि, पृष्ठ 20 ।

5 अट्ठपकासि टीका, पृष्ठ 20 ।

6 अलि हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ 54 ।

की सर्जना की । सिहरण का तक्षशिला में अध्ययन करना सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि यहा सम्पूर्ण देश के राजपुत्रों और साधारण विद्यार्थियों का शिक्षा केन्द्र था । देश-द्रोही आम्भीक के पूर्वजों के कुकृत्य की प्रतिक्रिया सिहरण पर होती है, जिसके सकेत ग्रीक इतिहास में प्राप्त होते हैं कि मल्लोई (मालव) ने सिकन्दर की मैत्री और पराधीनता नहीं स्वीकार कर उनका प्रबल प्रतिरोध कर भयानक युद्ध किया[1] । इतिहास के इस तथ्य के आलोक में सिहरण-आम्भीक-सघर्ष सत्य, स्वाभाविक प्रतीत होता है अलका का तत्कालीन ऐतिहासिक सघर्षों में भाग लेना भी इतिहास-सम्मत प्रतीत होता है । यद्यपि उसका नाम इतिहास प्रमाणित नहीं है। इतिहास के नवीनतम अनुसधान इसे स्वीकारते हैं कि तत्कालीन कठजाति की बालाओं ने प्रलयकारी युद्ध कर ग्रीकों के होश ठडे कर दिये थे[2] । मगध-सम्राट् का विलास-कानन, कथा-विकास में दूसरा सोपान है । नन्द और उसका मत्री राक्षस इतिहास का पात्र है, किन्तु सुवासिनी सर्वथा काल्पनिक । बसन्तोत्सव में राक्षस का अमात्य बनाया जाना भी नाटककार की मानस-कल्पना है । विष्णु पुराण में वक्रनाश सर्वाथ सिद्धि का ब्राह्मण मत्री बताया गया है । मुद्राराक्षस में वह राक्षस है । प्रसाद जी ने उसे नन्द द्वारा कुसुमपुर का रत्न बताते हुए अमात्य पद का भार सौपा । सुवासिनी के साथ उसका उद्यान में कच-देवयानी का अभिनय इतिहास के प्रमाण के बिना भी बहुत सत्य और स्वाभाविक प्रतीत होता है । हा, विष्णु पुराण और मुद्राराक्षस के पात्रों का समायोजन प्रसाद ने अवश्य किया है । प्रसाद जी की मान्यता के अनुसार नन्द महापद्म का जारज पुत्र था, जो मगध में राक्षसी राज्य कर रहा था और जिसे ब्राह्मणों के नाम से घृणा थी । चाणक्य के पिता का सर्वस्व हरण कर उसने उसे राज्य-निर्वासन का दंड दिया था । अन्य इतिहासकारों की ही तरह प्रसाद ने नन्दवश के अंतिम नन्द का नाम धनानन्द माना है । विष्णु पुराण के अनुसार महानन्द का एक पुत्र शूद्र के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, किन्तु नवें और अतिम नन्द को महापद्म का पुत्र मानते हुए भी पुराण जारज-पुत्र नहीं मानता[3], जिसे प्रसाद जारज स्वीकारते हैं । प्रसाद की इस मान्यता का आधार स्पष्ट नहीं होता । सभावना है, ग्रीक इतिहास के आधार पर प्रसाद ने उसे शूद्रा से उत्पन्न माना हो, क्योंकि प्लूटार्क ने नन्द को हीन कुलोत्पन्न शासक बताया है[4] । कथा सरित्सागर योगानन्द के पुत्र हिरण्यगुप्त को मगध का अतिम शासक बताता है, जिसकी हत्या शकटार द्वारा की गयी[5] । डायोडोरस और कर्टियान के अनुसार नन्द की मा का एक हज्जाम से अवैध सम्बन्ध था, जिसने छल से सम्राट्

1 एनाबसीस बाइ अलक्जेण्डर, पृष्ठ 234 ।

2 पालिटकल हिस्ट्री आफ ऐन्सियेन्ट इण्डिया (चौधरी) पृष्ठ 150 ।

3 विष्णु पुराण-18-21 ।

4 लाइफ आफ अलक्जेन्डर ।

5 कथा सरित्-1, पचम तरग ।

की हत्या कर रानी की सहायता से राज्य पर अधिकार कर लिया था । कालान्तर में रानी से उत्पन्न उसके पुत्र ने शासनाधिकार लिया । लगता है इतिहास के इसी नन्द को प्रसाद ने अपने नाटक में वर्णित किया है । चाणक्य-निर्वासिन एक काल्पनिक कथा है, जिसे सभवत· प्रसाद ने नन्द के प्रति चाणक्य का अतिशय रोष दिखाने का ठोस कारण बनाया होगा या फिर इसे पाटलिपुत्र का नागरिक सिद्ध करने के लिये, जिसका निर्वासन नन्द ने किया । नन्द को बौद्ध घोषित करने के पीछे प्रसाद की स्थायी कल्पना और मान्यता काम कर रही होगी, क्योंकि अपने कई नाटकों में उन्होंने ब्राह्मण-बौद्ध-संघर्ष नियोजित किया है, जो यहा भी है । चन्द्रगुप्त मौर्य काल में बुद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार और समृद्ध होने की सभावना नकारी नहीं जा सकती, किन्तु नन्द के बौद्ध धर्म स्वीकारने के प्रबल प्रमाण नहीं मिलते । वैसे कुछ इतिहासकारों ने पाटलिपुत्र के पास मिले पाच बौद्ध स्तूपों को अशोक का नहीं, नन्द का बनवाया हुआ माना है[1] । ग्रियर्सन ने भी नन्द को जैन या बौद्ध माना है । ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं सूचनाओं के आधार पर नन्द का सबध बौद्ध धर्म से जोडा गया है । इतिहास के अनुसार शकटार की सभी सन्तानें अध-कूप में डाल दी गयी थीं । इसलिए शकटार की कन्या सुवासिनी का होना इतिहास नहीं स्वीकारता । इस स्थिति में सुवासिनी-चाणक्य और सुवासिनी-राक्षस का प्रणय-प्रसग तथा चाणक्य के व्यग्य-वेश्याओं के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी[2] से तिलमिलाकर सुवासिनी का राक्षस से चाणक्य को दण्ड देने का आग्रह सर्वथा कल्पित प्रसग है । संभव है, इसकी नियोजना राक्षस-चाणक्य के आपसी सघर्ष के कारण के रूप में किया गया हो । इसी प्रकार नद-पुत्री कल्याणी का उद्यान प्रसग, अहेरी चीते से चद्रगुप्त द्वारा उसकी प्राण-रक्षा, कल्याणी का चद्रगुप्त के प्रति आसक्ति, ब्रह्मचारियों द्वारा नद-शासन की निन्दा के प्रसग ऐतिहासिक नहीं, प्रसादीय सत्य हैं ।

नद द्वारा राज्य सभा में चाणक्य के अपमान का प्रसग कई ऐतिहासिक सूत्रों में अलग-अलग ढंग से वर्णित है । सेवकों द्वारा शिखा खिचवाने की घटना ऐतिहासिक है, काल और संदर्भ में थोडी विभिन्नता है । चाणक्य-कथा के अनुसार पितरों के श्राद्ध कर्म हेतु नद ने चंद्रगुप्त को योग्य ब्राह्मणों को निमंत्रित कर लाने का आदेश दिया । रास्ते में कटीली घास (मूज) उखाडते एक कुरूप, जिद्दी-किन्तु प्रतिभासंपन्न ब्राह्मण पाकर चन्द्रगुप्त उसे ही नियत्रित कर नद-सभा में ले जाता है । स्वाभिमानी चाणक्य सर्वाधिक योग्य और विद्वान ब्राह्मण के लिए निर्दिष्ट स्थान पर जाकर स्वय बैठ गया । इसे देख बिना परिचय पाये नद ने सेवकों से उसकी शिखा खिचवाकर बाहर करा दिया । अपमान से क्रुद्ध चाणक्य ने नद-वश के

1 रेकर्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड (बिल) 2/94 ।

2 चन्द्रगुप्त, 69 ।

विनाश तथा एक हीन कुलोत्पन्न व्यक्ति को पदासीन करने का सकल्प लिया । अतत चद्रगुप्त उसे इस पद के योग्य जचा[1] । इसी से मिलता-जुलता विवरण 'कथा सरित्सागर' में भी प्राप्त है । अतर इतना ही है कि इसमें चद्रगुप्त के बदले शकटार अपनी सतानों के वध का बदला चुकाने के लिए चाणक्य को निमत्रित कर वहा ले जाता है । अपमानित हो चाणक्य ने सात दिनों के अदर नद-वध और उसके बाद खुली शिखा बाधने का सकल्प लिया । शकटार के सहयोग से तत्र-मत्र और कृत्या-आवाहन द्वारा नद-वध में वह सफल भी होता है[2] । प्रसाद का चाणक्य 'चाणक्य-कथा' से मिलता-जुलता है, कथा सरित्सागर से नहीं । फिर भी कार्य-कारण में पर्याप्त अतर लाया गया है । प्रसाद का चाणक्य श्राद्ध कर्म सपन्न कराने नहीं, प्रत्युत् अपना अपहृत ब्रह्मस्व मागने गया है और बौद्ध धर्म की निदा करता है । वस्तुतः प्रसाद की यह योजना अधिक स्वाभाविक दीखती है । नद का रोष सकारण प्रतीत होता है, क्योंकि मात्र ब्राह्मण के उच्चासन पर बैठे देखकर नद का क्रुद्ध हो जाना मात्र पागलपन लगता है, किन्तु यहा चाणक्य की कटु बातें, राजनीतिक प्रतिभा उसे ईर्ष्या द्वेष, और रोष से भर देती हैं । सिधु-तट पर अलका-मालविका, सिहरण तथा यवन का प्रसग इतिहास में नहीं है । मानचित्र वाली घटना की भी कल्पना प्रसाद जी ने की है, किन्तु उसके कुछ अप्रत्यक्ष सकेत अवश्य इतिहास में बिखरे हुए मिले हैं । यह तथ्य ग्रीक इतिहास द्वारा समर्थित है कि पुरु से द्वेष के कारण आभी ने सिकन्दर से सधि कर ग्रीक सेना को ओहिंद (उद्भाण्ड) पर बने नौका-पुल से पार होने की अनुमति दी थी[3] । ओहिंद तत्कालीन प्रमुख व्यापारिक केन्द्र तथा उत्तरापथ आने का प्रधान मार्ग था । इस पुल पर ग्रीकों के पार करने के ऐतिहासिक सत्य को प्रसाद ने थोड़ा और अपरिवर्तित कर, उनके द्वारा पुल बनाने में सहायता के सत्य का वर्णन किया । अलका द्वारा मानचित्र बनाने, इस कारण सिहरण-यवन-संघर्ष तथा अलका का बन्दी होना कई कारणों से अधिक सजीव लगते हैं । तत्कालीन राजनैतिक उथल-पुथल में यह कल्पना सर्वथा उपयुक्त लगती है और पात्रों के चरित्र-व्यक्तित्व की सचाई से अवगत कराती है ।

चाणक्य की शिखा खिचवाने की घटना के क्रम में उसका बन्दी बनाया जाना और चद्रगुप्त द्वारा मुक्ति तथा बन्दीगृह में राक्षस, वररुचि और चाणक्य वार्त्तालाप काल्पनिक है । ऐसा लगता है कि चाणक्य के स्वगत से उसके क्रोध और सकल्प तथा चद्रगुप्त का गुरु के प्रति समर्पण और शौर्य दिखाने के उद्देश्य से इस दृश्य की परिकल्पना की गयी है । वररुचि-राक्षस और चाणक्य वार्त्ता से यह स्पष्ट होता है कि चाणक्य व्याकरण, भाषा, अर्थशास्त्र सबका विद्वान था । वह नद के पालतू

---

1. चाणक्य कथा-नारायणचद्र वंशापाध्याय, पृष्ठ 6 ।
2. कथा सरित्सागर-1, पचम तरग ।
3. कर्टियस-2/12 ।

कुत्तों के कहने पर तक्षशिला जाकर पर्वतेश्वर के विनाश का कारण बनना नहीं चाहता ।

प्रथम अक के नवम दृश्य के योजना चद्रगुप्त के वृषलत्व दोष निवारणार्थ हुआ है । वयोवृद्ध पर्वतेश्वर के समक्ष चाणक्य स्पष्ट करता है कि वृषलत्व शूद्रत्व नहीं, बल्कि बौद्धों के प्रभाव से आर्य क्रियाओं के लोप और वैदिक सस्कार विहीनता है, उससे शौर्य, सस्कार, पराक्रम का कोई सबध नहीं । पर्वतेश्वर द्वारा चाणक्य को अपने राज्य से निष्कासन-दड, चाणक्य द्वारा सहायता मागने की बात इतिहास में नहीं मिलती । 'मुद्राराक्षस से मात्र यह पता चलता है कि कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने पर्वतक की सहायता म मगध को नद की चगुल से निकालने में सफलता पायी थी और तदनन्तर विपकन्या, द्वारा उसकी हत्या भी करा दी थी, जिससे चन्द्रगुप्त निर्विरोध, निष्कटक बना रहे'[1], किन्तु यह सत्य निर्धारित नहीं हो सका है कि मुद्राराक्षस का पर्वतक ग्रीक में वर्णित पोरस और प्रसाद के पर्वतेश्वर से अभिन्न है ।

प्रथम अक के दशम दृश्य की योजना किसी नाटकीय महत्व, उपलब्धि या विशेष उद्देश्य से नहीं की गयी है । सेल्यूकस अचेत पडे चन्द्रगुप्त की रक्षा एक व्याघ्र से करता है, जिस समय चाणक्य उसके लिये जल लाने गया है । चन्द्रगुप्त अपनी सस्कृति की दुहाई देते हुए कहता है-'भारतीय कृतघ्न नहीं होते .. मैं आपका अनुगृहीत हूँ[2] । अलका सेल्युकस के साथ इन दोनों को देख कर यवनों के साथी होने की शका से बहुत दुःखी होती है । उसका यह उद्‌गार उसकी अखड राष्ट्रीयता की भावना का प्रक्षेपण करता है । 'जब आधी और कारक वृष्टि, अवर्षण और दावाग्नि का प्रकोप हो तब देश की हरी-भरी खेती का रक्षक कौन है ?... ऐसे लोग भी आक्रमणकारियों के चगुल में फस रहे हों तब रक्षा की क्या आशा[3] ? लगता है चन्द्रगुप्त की सस्कृति पोषकता और अलका की राष्ट्रीयता दिखाने मात्र के लिये इस दृश्य की कल्पना प्रसाद ने की होगी । कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि सिल्युकस द्वारा सिह से चद्रगुप्त की रक्षा भावी चन्द्रगुप्त-सिल्युकस युद्ध के सुखद परिणाम की परिस्थितियों के निर्माण की भूमिका है, किन्तु यह कल्पना, धारणा दूरान्वय दोष ही कही जा सकती है । कब किससे यह युद्ध होगा, और क्या परिणाम होंगे, इसका पूर्व निश्चय निराधार है साथ ही भ्रामक भी । कुछ लोक कथाओं और ग्रीक में प्राप्त चर्चाओं से सिह वाली घटनाा की पुष्टि होती है । मुद्राराक्षस में वर्णित एक ऐसे ही प्रचार के अनुसार एक बार सिह ने चद्रगुप्त के तलवे चाटे थे और भविष्य वक्ताओं द्वारा उसके भाग्योदय (भारत सम्राट बनने)

---

1 (क) दिव्यावधान - (कावेल ऐन्ड नील), पृष्ठ 370 ।
(ख) जैनिज्म इन इण्डिया (सी० ने० शाह), पृष्ठ 132 ।

2 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 94 ।

3 वही, पृष्ठ 94 ।

की घोषणा हुई थी । वैसे भी यह दृश्य अनैतिहासिक के साथ-साथ आकस्मिक और अनावश्यक लगता है । इसके बाद का घटना-स्थल दाण्डयायन का आश्रम है, जहाँ प्रकृति के उन्मुक्त क्रोड में भूमा का सुख और उसकी महत्ता का सहज आभास हो जाता है । हिमाद्रि की ऊँचाई, सागर की गहराई और व्योम की उन्मुक्तता तथा विशालता समेटे इस तपस्वी दार्शनिक के पास अलका, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिकन्दर, सेल्युकस, कार्नेलिया सब उपस्थित होते हैं । कुछ विशेष आशीर्वाद का प्रत्याशी सिकन्दर नतमस्तक होता है, किंतु दाण्ड्यायन से चन्द्रगुप्त के भारत के भावी सम्राट् होने की भविष्यवाणी सुन कर स्तब्ध रह जाता है । नाटक का सिकन्दर-दाण्ड्यायन-सवाद हू-ब-हू इसी रूप में ग्रीक इतिहास द्वारा पुष्ट होता है । यानी यह सवाद प्रसाद ने इतिहास से अविकल रूप में ग्रहण किया है लगता है । जैसे भाषान्तर मात्र हो, किंतु अन्य इतिहास इस भविष्यवाणी के बारे में सर्वथा मौन है । इतिहास सिकन्दर और चद्रगुप्त का प्रथम मिलन उस समय निश्चित करते हैं, जब वह बालक था । स्वाभिमान पूर्ण उसकी वार्त्ता से सिकन्दर क्षुब्ध और क्रुद्ध हो गया था, परिणाम स्वरूप चन्द्रगुप्त को हट जाना पडा था[1]। प्लुटार्क ने तो यहा तक माना है कि चद्रगुप्त ने सिकन्दर से तक्षशिला में कहा था कि यदि सिकन्दर और आगे बढता जाता तो मगध पर उसकी विजय सुनिश्चित थी[2] । भारतीय दार्शनिक की प्रतिभा से सिकन्दर का प्रभावित, पराभूत होना ग्रीक इतिहास बनाते हैं । इस दृश्य में दाण्ड्यायन ऋषि के आश्रम में अलका की उपस्थिति तथा चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया मिलन, चद्रगुप्त के साश्चर्य, राग पीडित होकर कार्नेलिया को देखना प्रसाद की निजी उद्‌भावनाएँ हैं । वैसे सभावना है कि प्रसाद ने नाटक के अतिम अक के कार्नेलिया-चद्रगुप्त विवाह को यहा के पूर्व दर्शन और पूर्वराग से पुष्ट करना चाहा हो । इस घटना से नाटकीयता आकर भी इसमें ऐतिहासिक और नाटकीय दोष ही माने जायेंगे । चद्रगुप्त और सिकन्दर का दाण्ड्यायन के आश्रम में प्रथम-मिलन भी इतिहास-सम्मत नहीं है ।

द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में ग्रीक शिविर के पास सिन्धु तट पर कार्नेलिया का भारतीय श्री, सुषमा, सौन्दर्य पर मोहित होना, लपट फिलिप्स द्वारा अपमानित होने से चद्रगुप्त द्वारा रक्षा सर्वथा काल्पनिक और खटकने वाली बात लगती है । इतिहास इसके प्रमाण नहीं प्रस्तुत करता कि सिकन्दर के भारत-आक्रमण के समय प्रसाद की कार्नेलिया (इतिहास की हेलन या ऐथेना) ग्रीक सेना के साथ भारत आयी थी या नहीं ।

यह दृश्य इतिहास के तथ्यों और मान्यताओं के सर्वथा प्रतिकूल पड़ता है । पिछले पृष्ठ में उल्लिखित प्लूटार्क की धारणा यहा एकदम निराधार-सी

---

1 (क) हेमचन्द्र राय चौधरी-पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 181-82 ।
(ख) टालवायस हवीलर-द हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग-3, पृष्ठ 175-76 ।

2 प्लूटार्क-अलेक्जेन्डर, अध्याय 6 ।

लगती है । उसमें चद्रगुप्त सिकन्दर-मिलन के सदर्भ में उसकी प्रशसा करता है । मगध पर यवनों के आधिपत्य की सभावनाएँ व्यक्त करता है, कितु राष्ट्रवादी प्रसाद की आत्मा को यह सत्य स्वीकार्य नहीं था । प्रसाद का चद्रगुप्त ग्रीक-शिविर में आतिथ्य ग्रहण करता है, मात्र कृतज्ञता-बोध से, आम्भीक की तरह रोटियों के लालच और घृणा जन्य लोभ से प्रेरित होकर नहीं । सिकन्दर की प्रतिक्रिया और आक्रोश का दो टूक उत्तर[1] देकर तथा तीनों आक्रामकों-आम्भीक, फिलिप्स और एनिसाक्रेटीज-को घायल करता हुआ निकल जाता है[2] । प्रसाद के इस काल्पनिक सघर्ष का एक सकेत इतिहास में अवश्य मिलता है कि किसी बात पर चन्द्रगुप्त पर सिकन्दर नाराज हो जाता है और उसे अपने प्राण बचाकर ग्रीक-शिविर से भागना पडता है[3] । वैसे प्रसाद के कथानक के सॉचे में यह घटना एकदम सही बैठती है, नाटकीयता की सर्जना भी करती है ।

प्रसाद ने सिकन्दर-पर्वतेश्वर युद्ध में चन्द्रगुप्त सिहरण, अलका और कल्याणी की उपस्थिति दिखायी है, किन्तु इतिहास में ऐसा नहीं है । सब अपनी भूमिका और कला बडी कुशलता और वीरतापूर्ण ढग से निभाते हैं । सिकन्दर को प्रसन्न करने हेतु आम्भीक द्वारा अलका और सिहरण का बन्दी बनाया जाना भी इतिहास नहीं स्वीकारता । ग्रीक इतिहास में सिकन्दर के सैनिकों द्वारा रातों रात वितस्ता पार होने की बात मिलती है[4] । इतिहास के अनुसार युद्ध की पूर्व रात्रि में भयकर वर्षा हुई थी । कीचड़ युक्त पृथ्वी पर भारतीय सैनिकों के पैर जम नहीं सके और घुडसवार यवनों का पलडा भारी रहा, फिर भी पर्वतेश्वर का युद्ध ऐतिहासिक और अद्वितीय रहा । पर्वतेश्वर की हार अवश्य हुई, कितु सिकन्दर को उसका लोहा मानना पडा था[5] । उसने आम्भीक पर भी चक्र से आक्रमण किया था । उसका घोडा मर गया और वह भाग निकला । ग्रीक इतिहास के अनुसार सन्धि-वार्ता का प्रस्ताव पहले आम्भीक द्वारा ही भिजवाया गया है, किन्तु प्रसाद ने पर्वतश्वर की गौरव-रक्षा के निमित्त अतत: सिकन्दर मे यह कार्य करवाया है। प्रसाद के नाटक का आम्भीक कभी कहीं ऐसे प्रस्ताव या वार्ता से जुडा नहीं दिखाया गया है । वैसे युद्ध के दृश्यों को प्रसाद जी ने इतिहास के अनुरूप ही रखा है । पुरु (पर्वतेश्वर) का इतिहास-प्रख्यात उत्तर-"वैसा व्यवहार करें, जैसा एक नरपति अन्य नरपति के साथ करता है ।" प्रसाद जी ने अविकल प्रस्तुत किया

---

1 "मगध का उद्धार करना चाहता हूँ परन्तु यवनों को अपना शासक बनने को आमत्रित करने नहीं आया हूँ ग्रीक लुटेरे है ।

2 -चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 104-107 ।

3 जस्टिन 15/4 ।

4. एनाबसिस आफ अलेक्जेण्डर (एरियन) 5/11 ।

5 मैक जे० डब्ल्यू क्रीन्डल-द इन्शन आफ इण्डिया बाय अलेक्जेण्डर द ग्रेट, पृष्ठ 308 ।

है । कल्याणी द्वारा पर्वतेश्वर को नीच दिखलाने की घटना एव चन्द्रगुप्त द्वारा सन्धि नहीं, युद्ध करने का प्रस्ताव प्रसाद के मस्तिष्क की उपज है । इसका उद्देश्य चद्रगुप्त के चरित्र की दृढता और राष्ट्रप्रेम निदर्शित करना है । अपने विगत जीवन की भूमिका के आधार पर कल्याणी का वीर और साहसिक दिखाया जाना खटकता और अस्वाभाविक भी लगता है । अगले दृश्य में चन्द्रगुप्त, सिन्धु देश से अन्य देश देखने को आयी मालविका और चाणक्य का प्रसग भी पूर्णत. कल्पित है । 'रणभेरी के पहले मधुर मुरली की तान' सुनने की चद्रगुप्त की इच्छा पर चाणक्य की प्रतिक्रिया-"छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है, मौर्य ।" अनैतिहासिक होकर भी प्रसादीय उद्देश्य को बहुत सफलता-पूर्वक सपन्न करती ह । यहा चाणक्य के निर्देशन और दृढ अनुशासन के साथ गुरु के प्रति चद्रगुप्त की आज्ञाकारिता और सयम का भी परिचय मिलता है । वैसे इस दृश्य म कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना मिलती है कि ऐन्द्रजालिक वेश में चन्द्रगुप्त से सूचनाए पाकर यवन सेना हतोत्साहित होकर विपासा पार करना अस्वीकार करती ह । सिकन्दर के लाख प्रयत्न उनके बुझते प्राणों में शक्ति नहीं ला पाते और अतत. रावी के जल-मार्ग से लौटने का निश्चय होता है । 'प्रासी' और 'गगडीज' के राजाओं की पूरी सेना के साथ युद्ध हेतु तत्परता से हताश-क्षुब्ध सिकन्दर के ग्रीक देवताओं की पूजा कर शुभ घडी में लौट जाने के सकल्प की बात तथा दो मार्गों (जल और स्थल) से दक्षिण दिशा में सेना की वापसी की घटना की पुष्टि इतिहास करता है[1] । युद्ध-विराम कर लौटती यवन सेना से मालव-क्षुद्रकों ने युद्ध किया या नहीं तथा चन्द्रगुप्त को सेनापतित्व[2] कब कैसे मिला इस सबध में इतिहास कोई सूचना नहीं देता । विभिन्न इतिहास तत्कालीन युद्ध के वर्णन कुछ अलग-अलग भी करते हैं । पुरु-विजय के बाद सिकन्दर ने फिलिप्स और आम्भीक को दो प्रदेशों का क्षत्रप बना कर दक्षिण की ओर प्रयाण किया । सिलाई, अगला-सोई, मालव, क्षुद्रक इत्यादि को सहज ढग से जीतकर वह आगे बढता गया । मालव और क्षुद्रक की सम्मिलित सेना का सेनापति योग्य और साहसी क्षत्रिय था । उन लोगों ने सिकन्दर से युद्ध का निश्चय किया, तैयारियाँ भी कीं, किन्तु आकस्मिक आक्रमण कर सिकन्दर से युद्ध का निश्चय किया, तैयारिया भी कीं, किन्तु आकस्मिक आक्रमण कर सिकन्दर ने उन्हें परेशान कर दिया । खेतों में काम कर रहे कृषक तक त्रस्त हो गये । इस भीषण युद्ध में स्वय सिकन्दर घायल होकर मूर्च्छित हो गया । क्रुद्ध और उत्तेजित यवन-सेना ने बच्चे, बूढ़ों, स्त्रियों का बहुत निर्ममता से वध और रक्तपात किया[3] । तदनन्तर जलमार्ग से अपने देश लौटने के क्रम में 323 ई० पूर्व

1 डायोडोले-17/95, कर्टियस-9/3, प्लूटार्क-अध्याय 62 ।

2. चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 119 ।

3. (क) आर० एस० त्रिपाठी-हिस्ट्री आफ एनसियन्ट इण्डिया, पृष्ठ 136-139 ।

(ख) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ 536, 542 ।

में मार्ग (बाबेरु) में ही मर गया । बन्दी-गृह में (बाबेरु) अलका और सिहरण की वार्त्ता, परस्पर प्रेम के सकेत, पर्वतेश्वर की विलासी प्रवृत्ति की सूचना इतिहास की घटना नहीं है । ऐसा लगता है, प्रसाद ने चाणक्य की ''विपत्ति तम में लहलहाने वाली नीति लता'' को फैलने का सुअवसर दिया है तथा पर्वतेश्वर के चरित्र के अतिशय पतन को उद्घाटित करना चाहा है । मालवों के युद्ध-परिषद् का दृश्य, मालव-क्षुद्रक सन्धि की पुष्टि का प्रमाण है, जिसमें चन्दगुप्त को महाबलाधिकृत पद देने की घोषणा होती है । मालविका युद्ध में आहतों को दया-दवा-सेवा देने हेतु नियुक्त होती है । प्रकारान्तर से यह घटना ऐतिहासिक है । ग्रीक इतिहास बताता है कि सिकन्दर के आक्रमण के बाद दोनों ने सन्धि कर ली थी । हजारों कन्याओं का आदान-प्रदान हुआ था । हा । सेनापति-चयन में कठिनाई अवश्य हुई थी[1] । प्रसाद ने चाणक्य और चन्द्रगुप्त को प्रस्तुत कर युद्ध निर्देशक और सचालक की समस्या का समाधान ढूँढ लिया है । इस समाधान से नाटक में सभाव्यताए आ जाती है । वैसे भी इतिहास में प्राप्त विवरण के आधार पर मालव-क्षुद्रक की सम्मिलित सेना का सेनापति एक अत्यन्त वीर और अनुभवी व्यक्ति था[2] । तत्तकालीन स्थितियों के सदर्भ में चन्द्रगुप्त ही उस साचे में बैठता है । पर्वतेश्वर के प्रासाद में अलका का रानी बनने का अभिनय देश के प्रति अद्भुत समर्पण का भाव प्रकट करता है । पतजलि ने क्षुद्रकों के विजय का उल्लेख किया है[3] और पतजलि के विवरण सर्वथा भिन्न हैं । पाणिनि मालव-क्षुद्रकों के सगठन की पुष्टि करते हैं[4] । कर्टियस ने भी क्षुद्रकों की एक लाख सेना माना है, जिसने आतंक फैला कर सिकन्दर को त्रस्त किया था । उनका सकल्प था सिकन्दर को रक्तपात द्वारा भारतीय सैनिकों का असली स्वरूप दिखलाना[5] । इतिहास भी यह सकेत देता है कि भारतीय वीरों से आतकित यवन सेना को सिकन्दर ने भाषण देकर ललकारा और उत्साहित किया था । मालव-दुर्ग में अलका की वीरता, कई यवनों की हत्या, स्वय सिकन्दर से उसका सघर्ष तथा सिहरण-सिकन्दर युद्ध में सिकन्दर की पराजय, सिहरण द्वारा सिकन्दर को और चन्द्रगुप्त द्वारा सिल्युकस को प्राण-दान प्रसाद की अद्भुत कल्पनाएँ हैं । सिहरण के ये वाक्य-'तुमको स्वय इतना साहस नहीं करना चाहिए सिकन्दर सैनिक । तुम्हारे सम्राट् की अवस्था शोचनीय है, ले जाओ इसकी शुश्रूषा करो. पर्वतेश्वर के प्रति उदारता, दिखाने का यह प्रत्युत्तर है । यवन !

---

1 डायोडोरस-17/98 ।
2 अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया, पृष्ठ 78 ।
3 एकार्किभि क्षुद्रको-3/52 ।
4 काशिका-4/2/45 ।
5 कर्टियस-भाग 1, अध्याय 4 ।

जाओ, शीघ्र जाओ[1]-भातीय सस्कृति की कृतज्ञता, उदारता और विजय का प्रमाण है । वैसे इतिहास में इसके सकेत अवश्य मिलते हैं अपने को चारों ओर से घिरा देख स्वय सिकन्दर सीढी के सहारे दुर्ग मे कूदा था, इसका एक सहायक मारा गया और इसका कवच भी तीर की नोंक से बिध गया था । दुर्ग-द्वार तोडकर आहत सिकन्दर के प्राण यवन सैनिकों ने बचाये थे[2] किन्तु सिहरण या किसी भारतीय योद्धा का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं मिलता । प्रसाद ने अपनी कल्पना से यह नाम जोडा है । वस्तुतः, मालव-दुर्ग पर सिकन्दर की विजय सत्य भी प्रतीत नहीं होती और फिर मात्र तीन सैनिकों के साथ सिकन्दर के दुर्ग पर चढने की बात भी मानस-पटल पर बैठती नहीं । इस प्रकार इस दृश्य की घटनाओं में पर्याप्त नाटकीय सभावनाएँ हैं । यद्यपि प्रसाद ने ऐतिहासिक घटनाओं में यथेष्ट परिवर्तन किये हैं । यहा एक बात ध्यातव्य और महत्वपूर्ण है कि इतिहास की प्राप्त घटनाओं और अपनी मौलिक सभावनाओं में प्रसाद जी ने अद्‌भुत सतुलन बनाया है, जिससे कल्पना भी सत्य से अधिक स्वाभाविक और जीवन्त हो उठी है ।

तृतीय अक का प्रारम्भ चाणक्य की कूटनीतिज्ञ चातुरी और अद्‌भुत उपलब्धि से होता है । राक्षस को छद्‌म सैनिकों द्वारा बन्दी बनाया जाना तथा तत्काल आठ अगरक्षकों का उपस्थित होकर सैनिकों को ही बन्दी बना कर उसकी रक्षा का स्वाग-अभिनय बडा मनोरम, हृदयावर्जक, और चाणक्य की कूटनीतिज्ञ चातुरी का प्रमाण है । छद्‌म सैनिकों को भेजकर राक्षस पर नंद के क्रोध की बात पुष्ट की गयी है, जिससे भयभीत वह मगध न जा सके । यही कौटिल्य नीति थी कि मगध में राक्षस के आते ही विरोधाग्नि शान्त पड जायेगी, जो नद के कुशासन के नाम पर भड़कायी जा रही थी । राक्षस के हृदय और मस्तिष्क-परिवर्तन के लिए नियोजित ये घटनाएँ बडी सजीव और स्वाभाविक लगती हैं । नवागत चर द्वारा राक्षस को अलका-सिहरण-विवाह में सम्मिलित लगती हैं । नवागत चर द्वारा राक्षस को अलका-सिहरण-विवाह में सम्मिलित होने का आमत्रण मिलता है, जो रावी-तट के विस्तृत शिविरों की रगभूमि में चाणक्य के निर्देशों पर आयोजित हुई है । इस अवसर पर मालव-यवनों के सम्मिलित उत्सव की योजना में सिकन्दर की उपस्थिति चाणक्य-नीतिलता के ही पुष्प हैं । राक्षस एक ओर इस विद्वतापूर्ण व्यक्तित्व वाले ब्राह्मण की विलक्षण बुद्धि पर आश्चर्य चकित भी है, जिसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीतिज्ञ के साथ दिन रात खिलवाड करती है, साथ ही उसकी सफलता-उपलब्धियों के लिए ईर्ष्यालु भी । ऊपर की सारी घटनाए प्रसाद की कल्पना-प्रसूता हैं । मात्र एक उत्सव का क्षीण सकेत ग्रीक लेखकों ने दिया है कि

---

1 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 137 ।

2. कर्टियस, भाग 1, अध्याय 7 ।

युद्ध-पर्यन्त अनेक स्वर्ण खचित भव्य रथों पर आसीन लगभग सौ सुसज्जित, अलकृत पुरुषों ने हजारों वर्षों की अपनी सास्कृतिक गरिमा के बावजूद सिकन्दर से सम्मान जनक पराजय के उपलक्ष्य में सम्मिलित भोज का प्रस्ताव किया । सिकन्दर ने असाधारण स्नेह और सद्भाव पूर्वक उनका स्वागत किया । भोजन-सुरापान हुआ और फिर सब विदा हुए[1] । वैसे प्रसाद के उत्सव और इस इतिहास वर्णित उत्सव में कोई निकट या दूर का सबध स्थापित नहीं होता । सभव है कि इस प्रकार के उत्सव के आधार पर प्रसाद ने सुन्दर कल्पना की होगी, जो इस ऐतिहासिक विवरण से कहीं अधिक स्वाभाविक-सत्य लगती है । अपने राष्ट्र की गरिमा और सस्कृति की उच्चता, महत्ता प्रदर्शित करने के लिए प्रसाद ने सिकन्दर से ही उस रमणी-अलका-के विवाह में सम्मिलित होने का प्रस्ताव करवाया है, जिसने मालव-दुर्ग में उसका प्रबल-प्रतिरोध किया था । यह सम्मानजनक लगता है, और स्वाभाविक भी । पोरस की वीरता, मालवों के साहस, दाण्ड्यायन की निर्भीकता, चाणक्य की चातुरी से प्रभावित सिकन्दर के लिए ऐसा प्रस्ताव आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता ।

तृतीय अक का दूसरा दृश्य मनोरम कल्पनाओं की शृखला समेटे हैं । अलका के प्रेम को दिवा स्वप्न की तरह हृदय में सजोये रखने वाला पर्वतेश्वर उसके विवाह के समाचार से मर्माहत ईर्ष्यावश आत्महत्या करना चाहता है, किन्तु चाणक्य उपयुक्त समय पर आकर उसे रोक लेता है । पुनः बदली हुई राजनीतिक स्थिति के सदर्भ में चाणक्य चद्रगुप्त के वृषलत्व की बात उठाता है और पर्वतेश्वर विराट् आयोजन को उसके क्षत्रियत्व का प्रमाण बताकर अपनी स्वीकृति देता है । गांधार राज, बेटे की देश द्रोहिता से क्षुब्ध, मात्र अलका के मिलन का आकांक्षी है । विवाह की वेदी पर पिता-पुत्री का मिलन होता है । कार्नेलिया-चद्रगुप्त के प्रेम-प्रसग पुनः उभरते हैं और फिलिप्स की तज्जन्य स्वाभाविक ईर्ष्या दर्शनीय है । इन सारी घटनाओं की शृखला कल्पित है । इतिहास में चाणक्य द्वारा पर्वतेश्वर की आत्म हत्या रोकने के प्रयास, अलका-गाधारराज पुनर्मिलन, चद्रगुप्त-कार्नेलिया-प्रसग के कोई प्रमाण नहीं मिलते । प्रसाद ने अपने कथानक की प्रकृति और प्रवाह के अनुरूप इन कल्पनाओं से विशेष नाटकीयता, प्रभाव, प्रवाह और संभावना लाने के सफल प्रयास किये है ।

सिकन्दर की प्रस्थान-यात्रा का वर्णन प्रसाद के उच्चतम आदर्शों का परिचायिक है । सिकन्दर तलवार खींचे भारत आया था, हृदय देकर जा रहा है । जिनसे तलवारें मिलीं, उनसे मैत्री के हाथ मिलाकर जाते समय उसकी यह स्वीकारोक्ति-"मैंने भारत में हरक्युलिस, एचिलिस, डिमास्थनीज की आत्माओं को

---

1 (क) मौक्क्रिन्डल, इन्देजन, पृष्ठ 248-51 ।
(ख) करिंबिस, भाग 10, अध्याय 7 ।

देखा । सभवत प्लेटो और अरस्तु भी होंगे । मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ ।''-भारत की विश्व-विजय है । बुद्धि और बाहुबल के प्रतीक चाणक्य और चद्रगुप्त उसे विदा देते हैं-यह कहते हुए कि ''भारतीय उत्तम गुणों की पूजा करते हैं । हम लोग युद्ध करना जानते हैं, द्वेष नहीं ।'' यह दृश्य पूर्णत अनैतिहासिक होकर भी सर्वथा अलौकिक और सत्य हैं, सिकन्दर की ही भारत के प्रति उन भावनाओं के आलोक में, जिन्हें इतिहास प्रतिबिबित करता है ।

इस अक के चौथे दृश्य में राक्षम की मुद्रा, पर्वतेश्वर के चाणक्य के आगे आत्म और सर्वस्व समर्पण तथा फिलिप्स के द्वन्द्व युद्ध हेतु आमत्रण के प्रसग नियोजित हैं । कथा-स्रोत और कथा-विकास से स्पष्ट होता है कि मुद्रा का वह प्रसग मुद्राराक्षस पर आधृत है, भले ही दोनों में कोई सबध-समन्वय नहीं मिलता । 'चद्रगुप्त' में मुद्रा चाणक्य स्वय प्राप्त करता है-नद और राक्षस में फूट डालने के उद्देश्य से और 'मुद्राराक्षस' में एक जौहरी, चन्दन दास नामक, चाणक्य का चर कौतुक-क्रीडा कर गाव-घर में मनोरजन करता हुआ एक बालक के हाथ से गिरी मुद्रा उठा लेता है, जिस पर राक्षस नाम अकित है । बालक कौतुक-क्रीडा देखने के क्रम में घर से बाहर आता है, घर में उसे लेकर कोलाहल होता है और एक स्त्री बाह पकडकर उसे भीतर ले जाती है, जो सभवतः राक्षस की पत्नी थी और वह बालक उसका पुत्र । चर पूर्वोक्त मुद्रा चाणक्य को देता है[1] । इस मुद्रा के सहयोग से चाणक्य अपनी कूटनीति का पूरा लाभ उठाता है । शकट दास के पत्र के माध्यम से मलयकेतु राक्षस में वैमनस्य पैदा कराने और उसके ही कई सहायक सिधराज सुखेण, पुष्कराक्ष, चित्रवर्णा, सिहनाद, मेघाक्ष इत्यादि की हत्या कराने में वह सफल होता है । 'चद्रगुप्त' का चाणक्य मुद्रा का उतना उपयोग नहीं करता । दोनों के कथानकों में पर्याप्त अतर होने पर भी 'चद्रगुप्त' की इस कथा का क्षीण स्रोत वही लगता है । आत्म समर्पण कर चाणक्य के कहे अनुसार मगध जाने को तत्पर पर्वतेश्वर की कथा ऐतिहासिक हैं । 'मुद्राराक्षस' ही इसका भी आधार है । 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य पर्वतक की सहायता से नन्दवश का उन्मूलन करता है । 'चद्रगुप्त' में चद्रगुप्त को अधिकार दिलाने में चाणक्य पर्वतेश्वर की सहायता मागता है, जो राज्य-लक्ष्मी से उदासीन और जीवन से विरक्त हो चुका है । इसी अवसर के लिए चाणक्य ने उसे आत्महत्या से रोका था । 'मुद्राराक्षस' के नद की राजलक्ष्मी त्याग की प्रतिमूर्ति है और चन्द्रगुप्त के प्रति स्नेह सिक्त। मगध साम्राज्य के विभाजन की कल्पना मात्र से वह मनसा अस्थिर है । 'मुद्राराक्षस' के ये प्रसग प्रसाद ने आवश्यक नहीं समझा अपने नाटक में । निश्चित रूप से ग्रीक इतिहास के पोरस तथा 'मुद्राराक्षस' के पर्वतक ही उनके पर्वतेश्वर हैं । इस दृश्य के अत में फिलिप्स-चन्द्रगुप्त द्वन्द्व है तो ऐतिहासिक, किन्तु घटना का काल

---

1 मुद्राराक्षस, प्रथम अक ।

क्रम सर्वथा भिन्न है । ग्रीक इतिहास के अनुसार पचनद के विदोह के समय भारतीयों ने चन्द्रगुप्त के सेनापतित्व में सिकन्दर के अंतिम चिह्नों को नष्ट कर दिया तथा इसी युद्ध में क्षत्रप फिलिप्स मारा गया[1] । हत्या करनेवाले का नाम कहीं उल्लिखित नहीं है । इससे पृथक प्रसाद ने कार्नेलिया के लिए हुए वैमनस्य के कारण दोनों में द्वन्द बतलाया है, जिसमें अतत फिलिप्स मारा गया । यह अनैतिहासिक प्रस्तुति अपनी समग्रता में पर्याप्त नाटकीयता और सभाव्यता से परिपूर्ण है ।

मगध की रगशाला में नद द्वारा सुवासिनी पर बल प्रयोग, भोग्या बनाने के प्रस्ताव और राक्षस की आकस्मिक उपस्थिति पूर्णतः अनैतिहासिक है । हा, प्रसाद ने इससे चाणक्य की कूटनीति और राक्षस को नद की नीचता की दी गयी सूचना का समर्थक अवश्य कराया है । साथ ही भावी सघर्ष और नद-राक्षस में विरोध की स्वस्थ भूमिका तैयार हो जाती है ।

चाणक्य राक्षस की मुद्रा का उपयोग करते हुए मालविका को पत्र देकर नन्द के पास भेजता है, जिससे राक्षस-सुवासिनी का विवाह टल सके । उसकी अगली योजना है मगध में वणिकवेष में सेना एकत्रित करना, जो राक्षस-विवाह के समय विद्रोह कर चन्द्रगुप्त को सिहासनारूढ करने में सहायक हो । इतिहास में इसका कोई सकेत नहीं मिलता है, भले ही कौटिल्य-अ' 'ास्त्र की दड और कूटनीति के यह अनुकूल पडता हो । सात-सात गोद के लालों को भूख से पडपकर मरते देखने वाला शकटार प्रतिशोध की आग में जलता हुआ वनमानुस का रूप बनाये उपस्थित होता है । उसका सकल्प है-नर-राक्षस नन्द की अतडियों से खींचकर रक्त का फव्वारा निकालना । चाणक्य से उसकी मुलाकात होती है और एक ही पथ और लक्ष्य के दोनों पथिक सफलता की आशाओं में खो जाते हैं । हां । उसे सुवासिनी के जीवित होने का समाचार मिल जाता है । प्रसाद ने शकटार सम्बन्धी इस कथा का सूत्र 'कथासरितसागर' से लिया है । वररुचि, इन्द्रदत्त और व्यादि अयोध्यानरेश नद के पास दक्षिणा लेने पहुँचे, किन्तु नर की मृत्यु का समाचार पाकर इन्द्रदत्त ने छल-बल, योग-विद्या से मृतक नद के शरीर में प्रवेश कर उसे जीवित किया और वररूचि दक्षिणा मागने लगा । व्यादि इन्द्रदत्त के शून्य शरीर का रक्षक था । योगनद के आदेश से मत्री शकटार ने दस हजार स्वर्ण मुद्राए दे दी, किन्तु नन्द के पुत्र की अल्प वयस्कता के कारण योगनन्द को निष्कटक शासनाधिकारी बनाये रखने के उद्देश्य से राज्य के सभी मृतकों को जलवा दिया, जिसमें इन्द्रदत्त का शरीर भी भस्म हो गया । व्यादि की सलाह पर योगनन्द ने शकटाल को सौ पुत्रों सहित बन्दी गृह में डलवा दिया । वहाँ मात्र थोडा सत्तू, नमक और जल दिया जाता था । उसके क्षुधापीडित सारे पुत्र मर गये । प्रतिहिसा

1 कर्टियस, भाग 10, अध्याय 1 ।

की आग में जलकर जीवित रहा मात्र शकटार[1] । कालान्तर में विलासिता में निमग्न वररुचि उसे मुक्त कर मत्री बनाता है, किन्तु शकटार अहर्निश प्रतिशोध की योजना के कार्यान्वयन का अवसर खोजता रहा । इसके लिए उसने चाणक्य से मैत्री की, जिसने कृत्या-प्रयोग से नद-वध करवाया[2] । चाणक्य कथा भी नद द्वारा अपने सेनापति को ईर्ष्यावश सौ पुत्रों सहित कारागार में डलवाने का समर्थन करती है। यहाँ नाम तथा कथा में थोडा अन्तर है । सभी कारागार में मर गये, मात्र चन्द्रगुप्त जीवित रहा । लका से नद के पास बन्द पिजरे में एक शेर की मूर्त्ति भेजकर उसे बिना खोले निकालने का निर्देश था । प्रतिभाशाली, मेधावी चद्रगुप्त ने सारी स्थिति समझकर मोम के उस शेर को गर्म शलाखाओं से पिघलाकर पिजरा खाली कर दिया । तदन्तर कुछ माह बाद उसे कारागार से मुक्त कर दिया गया । वह पिता और भाइयों की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के अवसर खोजता रहा और समय मिलते ही एक श्राद्ध-कर्म-सपादन हेतु चाणक्य को बुलाया । नद से अपमानित चाणक्य को भी बदला लेने का अवसर मिल गया । उपर्युक्त दोनों इतिहास के आधार ग्रथों की कथाओं का प्रकारान्तर से प्रसाद जी ने सहारा लिया है । दोनों की चद्रगुप्त सबधी कथा में पर्याप्त समानता है । अन्तर है कि शकटार चाणक्य कथा में चन्द्रगुप्त नाम से वर्णित है । चाणक्य कथा में शकटार के मरने और चद्रगुप्त के बन्दी होने की बात है । प्रसाद ने इस कथा में थोडा परिवर्तन कर दिया है । 'चद्रगुप्त' में मगध-विजय के कुछ पूर्व शकटार अंध कूप से अपने पुत्रों की हड्डियों और नाखूनों से सुरग बनाकर बाहर निकलता है, निकलते ही संयोग वश चाणक्य से मुलाकात होती है, जो स्वयं उसी पथ का पथिक था, सहधर्मी, समान वेदना और प्रतिशोध से पीड़ित । स्वाभाविक प्रतिक्रिया, जनारोष, पाप का प्रतिफल दिखाने के लिए किये गये प्रसाद जी के ये परिवर्तन इतिहास की लीक से कुछ हटकर भी पूर्ण सभाव्यताएँ समेटे हैं ।

सातवें दृश्य की घटना मौर्यपत्नी का अनुनय-विनय, वररुचि का उसके समर्थन में न्याय देने की प्रार्थना और प्रतिक्रिया में दोनों को अन्धकूप का दण्ड-विधान है । यह कथानक सरल और स्पष्ट लगाता है । वैसे 'कथा सरित्सागर' के आधार पर कथानक की सृष्टि प्रसाद जी ने की है, किन्तु दोनों में विशेष घटना-साम्य नहीं है । बन्दी बनाया जाना दोनों में वर्णित है, किन्तु कार्य-कारण का तालमेल स्वतत्र है । 'कथा सरित्सागर' के अनुसार नद ने एक चित्रकार द्वारा महारानी के बहुत सुन्दर चित्र बनाने पर उसे काफी पुरस्कार दिया और उस अतःपुर में लगवाया । शास्त्र, वेद, ज्योतिष के ज्ञाता वररुचि ने अपने योग बल से उसे चित्र में कुछ शुभ चिह्नों का अभाव जानकर कटि प्रदेश से थोडा नीचे एक तिल बना

1. कथा सरित्सागर - प्रथम खड, पृष्ठ 7, 8 प्रथम तरग ।
2. वही, प्रथम भाग ।

दिया । रानी से अनुचित सबध के सशय पर योग नद ने शकटार को वररुचि के वध का आदेश किया । शकटार ने उसके बदले दूसरे का वध कराकर उसे अपने घर छिपा लिया । कालान्तर में वररुचि ने नन्द पुत्र को अपने योगबल से किसी शाप से मुक्ति दिलाकर वैश्यानर बनाया[1] । प्रसाद जी ने इतिहास के इतने लम्बे और उलझे कथानक की आधार नहीं बनाकर अपनी प्रतिभा से अत्यत सरल, सुदृढ, प्रभावशाली कथानक की कल्पना की । प्रसाद का शकटार तो स्वय बदी था, वररुचि की रक्षा कैसे करता, किन्तु 'कथा सरित्सागर' का शकटार नद का प्रिय पात्र है, आज्ञाए मानता है । यहा इतिहास के कथानक में ही अस्वाभाविकता की झलक मिलती है । इसी दृश्य में मालविका द्वारा दूती बनकर सुवासिनी के नाम राक्षस का पत्र ले जाने की घटना का आधार 'मुद्राराक्षस' है, किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है । राक्षस सबधी प्रसाद के चाणक्य की कूटनीति, दावपेंच उतने स्वस्थ नहीं दीखते, हालाकि प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है । हा, मालविका का अभिनय अनायास अवश्य मोह लेता है ।

चतुर्थ अक प्रसाद के जीवनादर्श और महत्त उद्देश्य को निरूपित करने के लिये नियोजित है, कथानक को सुखद, सुन्दर परिणति प्रदान करने का प्रयास है । इसके आरभ में कामुक पर्वतेश्वर का कल्याणी के प्रति दुर्व्यवहार और परिणाम स्वरूप कल्याणी द्वारा उसकी हत्या की घटना है । अपने मानस प्रेमी-चन्द्रगुप्त को नहीं प्राप्त करने की निराशा स वह आत्महत्या कर लेती है। दोनों की मृत्यु के बाद चाणक्य का यह कथन - 'चन्द्रगुप्त, आज तुम निष्कटक हुए, चाणक्य की संकल्पनिष्ठा के प्रति क्रूरता और वज्रादपि कठोर व्यक्तित्व का आभास देते है । मुद्राराक्षस के अनुसार पर्वतेश्वर की हत्या कर विषकन्या द्वारा हुई, जिसे राक्षस ने चद्रगुप्त की हत्या स्वय निष्कटक होने के लिए भेजा था । चाणक्य ने उसका प्रयोग पर्वतक पर किया । 'चद्रगुप्त' नाटक में पहली बार पर्वतेश्वर की महत्वाकाक्षा स्पष्ट होती है, जब वह मगध के आधा राज्य का अधिकार चाहता है । कामुक व्यवहार के कारण कल्याणी द्वारा उसकी हत्या करा देने से नाटकीयता आ जाती है । वैसे चाणक्य को पर्वतेश्वर की हत्या का कोई कारण ढूंढना पडता । चद्रगुप्त के मार्ग के दोनों अवरोधकों को हटाने के उद्देश्य से प्रसाद ने भावावेश में कल्याणी की भी आत्महत्या करवा दी है। ये घटनाएं सर्वथा काल्पनिक हैं । इतिहास की विष कन्या का स्थान नद दुहिता कल्याणी को मिल जाता है । विषकन्या को रगमच से हटाकर आलिगन, चुम्बन, दत-क्षत इत्यादि के अनेक वर्जनीय दृश्य और प्रसगों से प्रसाद ने मुक्ति पा ली है, जो सास्कृतिक भी है, नाटक की गरिमा के अनुकूल भी । सुवासिनी-राक्षस वार्ता इतिहास सम्मत नहीं है । इसे या तो कथा-विकास या फिर सुवासिनी की

---

1 कथासरित्सागर - प्रथम तरग ।

पिता के प्रति स्नेहशीलता, आज्ञाकारिता दिखाने के लिए लाया गया है । वैसे राक्षस के सशय चाणक्य से प्रतिद्वद्विता के भी आधार बना लेते हैं । कल्याणी की मृत्यु की अपनी व्याख्या से जनारोष उभाडने का वह सकल्प तक लेता है ।

मात्र परिणाम में भलाई को काम की कसौटी मानने वाला चाणक्य चद्रगुप्त को दक्षिणापथ जाने का निर्देश देता है और विजयोत्सव नहीं मनाने का निर्णय लेता है । चद्रगुप्त के माता-पिता इस पर रुष्ट होते हैं । 'विजयोत्सव' सबधी प्रसग का आधार 'मुद्राराक्षस' है । प्रसाद ने चाणक्य-चन्द्रगुप्त के मनोमालिन्य को सही रूप में दिखाकर चद्रगुप्त की चारित्रिक विशेषता और चाणक्य के चारित्रिक उत्कर्ष को प्रदर्शित किया, किन्तु 'मुद्राराक्षस' में वर्णित यह सघर्ष मात्र अभिनय था । चद्रगुप्त के दक्षिण-विजय का समर्थन इतिहास में स्पष्टतः नहीं होता । स्मिथ के अनुसार सभवत· विन्दुसार ने यह कार्य किया था[1] । एक अन्य स्रोत चद्रगुप्त के नाम का भी समर्थन करते हैं[2] । बाल्यस्मृतियां दुहराते हुए चाणक्य-सुवासिनी का सक्षिप्त सवाद, चाणक्य की दुर्बलता का आभास कल्पना-प्रसूत है । पता नहीं चलता किन उद्देश्यों से प्रेरित हो प्रसाद ने उसे नियोजित किया है । सभवतः कन्या के अनावश्यक विकास की शुष्कता, जटिलता एव गम्भीरता कम करने के लिए । इसके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं दीखता । चाणक्य के निर्देश पर चद्रगुप्त की प्राण रक्षा का भार लेने वाली मालविका काल्पनिक अनुराग और स्नेह के सपने देखती षडयत्र कारियों द्वारा हत्या की शिकार बन जाती है । राक्षस के षडयत्र पूर्णतः सफल नहीं हो पाते । ये सारी घटनाएँ सर्वथा काल्पनिक हैं । विजय के उत्सव और स्वागत के नहीं मनाये जाने के कारण रुष्ट होकर मौर्य दम्पति के चले जाने पर चन्द्रगुप्त का रोष इतिहास समर्थित नहीं है । चाणक्य से उसके सवाद, अपने कुटुम्ब पर नियत्रण का क्रोध, चाणक्य का प्रस्थान और उन्हें खोजने हेतु सिहरण का जाना किसी इतिहास में प्राप्त नहीं होते । प्रसाद की ये कल्पनाएँ चाणक्य के चारित्रिक उत्कर्ष, चद्रगुप्त के क्षणिक रोष और पश्चाताप प्रदर्शन करने की भूमिका स्पष्ट करती हैं । अपने माता-पिता, गुरुदेव, स्वप्न सहचरी मालविका, कधा मिलाकर चलने वाले मित्र सिहरण के चले जाने पर चद्रगुप्त का पश्चाताप अद्‌भुत नाटकीयता तथा सभाव्यताएँ ला देता है । सिन्धु-तट के पर्ण कुटीर में चाणक्य और कात्यायन की वार्ता इतिहास के सत्य नहीं है । यह सिर्फ कथा-विस्तार और चाणक्य के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष को उजागर करने के लिए लाया गया है । कार्नेलिया-चन्द्रगुप्त के परिणय की पूर्व सूचना यहीं मिल जाती है, जब कात्यायन को चाणक्य विवाह में आचार्य बनने का आग्रह करता है । सिकन्दर के जाने के बाद सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त के बीच पुनः तलवारें बजने की

---

1 अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया, पृष्ठ 175 ।

2 द एज आफ इम्पिरियल यूनिट, पृष्ठ 61 ।

सभावना को रोकने के लिए, विश्वबधुत्व का उच्चतम भारतीय आदर्श स्थापित करने के लिए यह उपयुक्त भी लगता है । इसी दृश्य में आम्भीक और चाणक्य वार्ता के माध्यम से चन्द्रगुप्त की विभिन्न राज्यों पर विजय तथा आर्य सामाज्य की स्थापना की सूचना मिलती है । हिमाद्रि के उतुग, शृग से उठी मा भारती की पुकार जनमानस में बिखेरती अलका तक्षशिला में जनजागरण का मत्र फूकती है । दिग्भ्रमित आम्भीक ब्राह्मण चाणक्य का सिहरण के तक्षशिलाधीश होने का प्रस्ताव सहज स्वीकारता है । निश्चित रूप से इस काल्पनिक दृश्य की योजना आम्भीक के हृदय परिवर्तन और कलक धोने के लिये नियोजित है । इसी दृश्य के अत में चाणक्य और सुवासिनी की वार्ता नयी योजनाओं और सभाव्यताओं की सूचिका है । चाणक्य द्वारा शैशव के अकुरित राग को कुचल कर राक्षस के लिए सुवासिनी के त्याग पर स्वय सुवासिनी अचभित है । सप्तम दृश्य में यवन-कन्या से राक्षस की वार्ता सर्वथा अनैतिहासिक घटना है । भारत के प्रति समर्पित कार्नेलिया के चरित्र में अपूर्व-उत्कर्ष तथा राक्षस के चरित्र में असीम अपकर्ष दिखाने के लिये यह दृश्य नियोजित हुआ है । प्रतिशोध की आग में जलते राक्षस को यवन-कन्या देश-द्रोही और पाप की मलिन छाया मानती है, जिसके हृदय में अधकार और राक्षसत्व है । सिकन्दर से भी बडे साम्राज्य स्थापित करने का सेल्यूकस का स्वप्न बडा हास्यास्पद लगता है । इन घटनाओं के वर्णन का उद्देश्य कथा में प्रवाह और विचित्रता लाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। चन्द्रगुप्त की पुनः यवन-युद्ध हेतु तत्परता मात्र कथा-विकास का परिणाम है । राक्षस के सम्बन्ध में कार्नेलिया और सुवासिनी की बातचीत प्रसाद की कल्पना है। पिता को चन्द्रगुप्त से युद्ध न करने का आग्रह और तर्क देकर कार्नेलिया अपना पूर्वराग प्रदर्शित करती है और हाथ में आये सेल्युकस को प्राणदान देकर, आत्महत्या का प्रयास करती कार्नेलिया को बचा कर, सेल्युकस को बन्दी नहीं बना कर, चन्द्रगुप्त ने कार्नेलिया के प्रति अपने पूर्व राग को प्रतिबिम्बित किया है । सेल्यूकस-चन्द्रगुप्त युद्ध के सदर्भ में आम्भीक की मृत्यु प्रसादीय कल्पना अवश्य है, किन्तु युद्ध और उसमें सेल्यूकस की हार सर्वथा ऐतिहासिक सत्य है[1] । इतिहास इस तथ्य का भी उद्घाटन करता है कि सेल्युकस के सन्धि की थी, निषध पर्वतमाला तक फैले प्रदेश को चन्द्रगुप्त की साम्राज्य-सीमा मानी थी । सन्धि का समापन वैवाहिक सम्बन्ध से हुआ था[2] । इतिहास इस बात का प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता कि विवाह सेल्युकस की पुत्री से चन्द्रगुप्त का हुआ था । यह चाणक्य-व्यवस्था (नीति) और वर्णन प्रसाद की कल्पना है । निश्चित रूप से भारत की विश्व-बधुत्व भावना, उदारता, मानवतावाद और शाति प्रियता की उद्घोषणा इस

1 स्ट्राबो, खड 2, अध्याय 2, 9 ।

2 राधा कुमुद मुखर्जी-चन्द्रगुप्त ऐण्ड द मौर्य एम्पायर, पृष्ठ 60 ।

वैवाहिक सन्धि का कारण रहा होगा । प्रसाद ने चाणक्य की ओर से विवाह-प्रस्ताव दिलवा कर विशेष सदाशयता दिखायी है ।

सिरिया पर एन्टीगोनस के आक्रमण के समय सेन्यूकस को गजसेना की सहायता इतिहास समर्थित है[1] । स्मिथ ने यह भी माना है कि सेल्यूकस ने काबुल हिरात (एरिया), कधार (एरेकोसिया) और मकरान (गैड्रोसिया) के प्रदेश चन्द्रगुप्त को सौंपे थे ।[2] नाटक का तेरहवॉं दृश्य सर्वथा अनैतिहासिक है, जिसमें चन्द्रगुप्त के पिता द्वारा चाणक्य की हत्या का प्रयास, चन्द्रगुप्त का रोष, राक्षस की क्षमायाचना और चाणक्य द्वारा राक्षस के लिये अपने मत्रित्व का अपूर्व त्याग की नियोजना है । मौर्य को काषाय ग्रहण करने का परामर्श और स्वय सन्यास का सकल्प लेकर चाणक्य ने कथा को प्रसादान्त की ओर उत्प्रेरित किया है । यह घटना इतिहास के एकदम विरुद्ध पडती है । इतिहास के अनुसार चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद चाणक्य बिन्दुसार का मत्री रहा था ।[3] प्रसाद ने उसे निष्काम, विरक्त बताकर, इतिहास के प्रतिकूल स्थापना देकर, उसके चरित्र को हिमाद्रि की उच्चता, व्योम की स्वच्छता और सागर की गभीरता एव विशालता प्रदान की है । वैसे एक जैन इतिहास के अनुसार चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैन धर्म मानकर वैराग्य ले लेते हैं[4], किन्तु प्रसाद ने अपने नाटक की भूमिका में इसे भ्रामक और अनैतिहासिक कहा है ।

नाटक का अतिम दृश्य पाश्चात्य-पौर्वात्य का मिलन बिन्दु है, जिसमें विजेता और विजीत हृदय, भावना, राग-द्वेष का पारस्परिक आदान-प्रदान की मुहर लगाकर स्थायी शान्ति के सबल आधार बनाते हैं । सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त के मिलन के समय नाटकीय ढग से प्रवेश कर चाणक्य ब्राह्मणत्व का अमृतमय आशीष देते हैं । दो शस्त्र व्यवसायी सम्राटों के बीच निर्मल स्रोतस्विनी प्रवाहित करने हेतु ग्रीस की गौरवशाली नारी को भारत की कल्याणी बनाने के अपने प्रस्ताव को अंतिम स्वीकृति दिलाकर चाणक्य प्रसाद की आदर्श कल्पना को मूर्त रूप देते हैं । यद्यपि इतिहास में प्राप्त क्षीण संकेत के आधार पर प्रसाद की यह स्थापना अपूर्व सभाव्यताओं की सर्जना करता है ।

ध्रुवस्वामिनी : ऐतिहासिक आधार

सन् 1933 में रचित और प्रकाशित 'ध्रुवस्वामिनी' के ऐतिहासिक तथ्य को सामने लाने के प्रयासों में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण भूमिका प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की है,[5] जिनके अनुसंधान से कई अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर प्राप्त होते हैं । तदनन्तर डा०

1 स्मिथ-अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया, पृष्ठ 125 ।
2. वही, परिशिष्ट, पृष्ठ 158 ।
3 वही, पृष्ठ 157 ।
4 इण्डियन एन्टीक्वैरी, 21/287 ।
5 खसो के हाथ ध्रुवसामिनी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन स०, भाग 1, पृष्ठ 234-35 ।

सिल्वा लेबी ने नाट्य दर्पण का उल्लेख किया, जिसके प्रणेता रामचन्द्र और गुणचन्द्र थे[1] । इसके बाद श्री राखालदास बनर्जी ने इस नये तथ्य का उद्घाटन सप्रमाण किया कि सम्राट् समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) दोनों की मध्यम कडी के रूप में किसी सम्राट् की वर्त्तमानता को नकारा नहीं जा सकता[2] । उन्होंने एक भिन्न गुप्त वशावली भी दी । कुछ वर्ष बाद 1928 में भाषान्तर मात्र से प्रायः इसी सत्य और तथ्य की सम्पुष्टि डाक्टर अल्तेकर ने विभिन्न प्रमाण देकर की[3] । समुद्र गुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बीच की समन्वित कडी के रूप में रामगुप्त का नाम आता है, जो अपने अनैतिक, अनादर्श चरित्र के कारण इतिहास के अधकार में सर्वथा विलीन हो चुका था ।

वैसे इन सत्यों और तथ्यों से सबद्ध तर्क एव विचारों में प्रमुख तर्क नाट्य-दर्पण का है, जिसमें देवी चन्द्रगुप्तम् के उल्लेख और उद्धरण आये हैं और गुप्त वशों की अर्गला खोलकर कुछ सत्य पर प्रकाश डाला गया है । 'मुद्राराक्षस' के रचयिता श्री विशाख दत्त ही देवीचन्द्रगुप्तम् के भी प्रणेता हैं, इसके प्रमाण नाट्य दर्पण के उद्धरणों में प्राप्त होते हैं । एक अन्य इतिहास ग्रथ[4] में भोज रचित 'शृगार रूपकम्' का उल्लेख है, जिसमें देवीचन्द्र गुप्तम् के विभिन्न प्रसग उद्धृत हैं, जिसके अनुसार खसाधिपति शकराज है और शर्मगुप्त सभवतः रामगुप्त । रामगुप्त की ऐतिहासिक वर्तमानता के प्रमाण ईरान में प्राप्त समुद्रगुप्त के स्तभ लेख में भी मिलते हैं कि समुद्रगुप्त के कई पुत्र-पौत्र थे । पुत्र-पौत्रों के साथ उसके सबध अच्छे थे। वह पुत्र पौत्रों के विचारों पर कार्य करता था । रामगुप्त उसका ज्येष्ठ पुत्र था, जो अपने पिता समुद्रगुप्त के निधनोपरान्त सम्राट् बना[5] । श्री भण्डारकर इस बात की पुष्टि करते हैं कि रामगुप्त के लघु शासन-काल का सूचक सिक्का भी प्राप्त है । जिस पर 'कांच' अकित है । 'काच' अकित सिक्के गुप्तकालीन हैं और रामगुप्त के ही हैं । संभवतः भ्रमवश 'राम' का पाठान्तर 'काच' रूप में हो गया[6]। यानी यह सर्वथा स्पष्ट है कि रामगुप्त के जीवन तथा चरित्र पर प्रकाश डालने वाले कई सस्कृत ग्रथ है । उदाहरणार्थ-विशाखदत्तकृत 'देवी चदगुप्तम्' राजशेखर कृत 'काव्यमीमासा', भोजराज कृत 'शृगार रूपकम्,' रामचन्द्र गुणचन्द्र रचित 'नाट्य दर्पण' तथा वाणभट्ट रचित 'हर्ष चरित' । प्रायः इन सभी ग्रंथों में रामगुप्त की कापुरुषता, नपुसकता, पत्नी का उपहार देकर राज्य-रक्षा के कुकृत्य, धुवदेवी की

1 जर्नल एशियाटिक, अक्टूबर-दिसबर-अक, सन् 1923 ई० ।

2 मणीन्द्र चन्द्र नन्दी लेक्चर्स, सन् 1934 ।

3 द न्यू गुप्ता किग, जर्नल आफ द बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसाइटी, ग्रथ 14 पृष्ठ 223, 253 ।

4 इन्डियन ऐन्टीक्वारी-1923, पृष्ठ 181 ।

5 फ्लीट-सी० आई० आई० प्लेट स० 2, पृष्ठ 20 ।

6. ध्रुवस्वामिनी सूचना, पृष्ठ 4 ।

चन्द्रगुप्त द्वारा रक्षा तथा उससे परिणय की घटनाओं के लगभग समान स्वर में वर्णन हैं । इससे यह भी स्वत. प्रमाणित होता है कि ये घटनाएँ ऐतिहासिक हैं । भण्डारकर जी ने इस तथ्य को भी प्रकाश में लाया कि ध्रुव देवी और चन्द्रगुप्त के विवाह को शास्त्रीय दृष्टि से कुरुचिपूर्ण, असभव और अन्यायोचित माना गया[1] । खसाधिपति शब्द का प्रयोग राजशेखर ने शकपति के लिये किया है और शर्मगुप्त शब्द का प्रयोग विशाखदत्त ने रामगुप्त के लिए । ऊपर के विवरण से रामगुप्त के चरित्र और प्रसाद के ध्रुवस्वामिनी-रचना के प्रेरणास्रोत प्रकाश में आते हैं । जहां तक नाटक के सपूर्ण कथानक का प्रश्न है ध्रुवस्वामिनी का कथानक सरल, सुलझा हुआ, सर्वथा सीधा और स्पष्ट है । इसमें प्रसाद के ही अन्य नाटक स्कन्दगुप्त की तरह न विखराव है, न चद्रगुप्त और राजश्री की तरह व्यापक काल का समाहार, न अनावश्यक ढग से कथा-विकास है और न विभिन्न स्वतत्र कथानकों की वर्त्तमानता से उत्पन्न जटिलता ।

इस प्रकार दो बातें स्पष्ट होती हैं । एक यह कि रामगुप्त की वर्त्तमानता इतिहास स्वीकृत है, दूसरी यह कि प्रसाद जी ने ध्रुवस्वामिनी-रचना के आधार-स्वरूप जिन ऐतिहासिक तथ्यों को स्वीकारा है, वे मुख्यत. ये हैं - हर्षचरित तथा सजात ताम्रपत्र । कुछ इतिहासकारों - अल्वी, भण्डारकर, राखालदास बनर्जी, जायसवाल, अल्टेकर, अबुलहसन - के भी नामोल्लेख प्रसाद जी ने किये हैं । वैसे स्मृति पर नारद और पाराशर भी यथास्थान प्रमाण स्वरूप उल्लिखित हैं । 'ध्रुवस्वामिनी' की ऊपर वर्णित कथावस्तु को इतिहास और उपलब्ध प्रमाणों के आलोक में देखने से पता चलता है कि ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की परिणीता थी । इसका पोषण-समर्थन देवी चन्द्रगुप्त प्रथम में प्राप्त उद्धरण[2] तथा अन्य कई इतिहासकारों द्वारा होता है[3] । वैसे गुप्तकुल की परपरा और नियम के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होता था, किंतु चद्रगुप्त में असाधारण प्रतिभा और योग्यता देख समुद्रगुप्त ने उसे ही राज्याधिकार दिया था । 'राजपद', के लिए 'चुनाव' की इस घटना का विवरण समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में प्राप्त है । चन्द्रगुप्त को राज्याधिकार मिल जाने पर तत्कालीन परिषद् सदस्यों समवयस्क राजकुमारों की मानसिक प्रतिक्रिया के भी वर्णन उसमें प्राप्त है कि वे अत्यन्त खिन्न, असन्तुष्ट तथा म्लान मुख थे । सभ्येषूच्छ्रितेषु तुल्य कुलाज-म्लाना-ननोद्वीक्षित:[4] । विभिन्न गुप्तकालीन शिलालेखों में कई स्थानों पर वर्णित यह शब्द 'तत्परिगृहीतो' को भी डा० जगदीशचन्द्र जोशी

1 ध्रुवस्वामिनी सूचना, पृष्ठ 3 ।

2 'समीक्षायण' में डा० कन्हैयालाल सहल का निबन्ध-ध्रुवस्वामिनी का अनुमानिक कथानक ।

3 जर्नल आफ बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसाइटी, अल्टेकर का निबन्ध, खण्ड 14, सन् 1928 ।

4 प्रयाग प्रशस्ति (सरकार), पृष्ठ 254 ।

ने उपर्युक्त घटना को पोषक सकेत स्वीकारा है[1] । विभिन्न शिलालेखों[2] में भी समुद्रगुप्त के बाद तथा गुप्त वशावली में रामगुप्त के नामोल्लेख नहीं होने के प्रमाण मिलते हैं । चन्द्रगुप्त के भी शिलालेख पिता के बाद स्वय चन्द्रगुप्त के शासनाधिकार प्राप्त होने के तथ्य की पुष्टि करते हैं, किन्तु यह प्रश्न अत्यत महत्वपूर्ण हो जाता है कि समुद्रगुप्त के बाद सक्षम, योग्य और वीर चन्द्रगुप्त के होते हुए राम गुप्त को शासनाधिकार किस प्रकार प्राप्त हुआ । प्रसाद के नाटक में उल्लिखित सभावनाए और मान्यताए कि चन्द्रगुप्त के विरुद्ध शिखर स्वामी की सहायता से षडयन्त्र कर रामगुप्त ने राज्याधिकार प्राप्त किया होगा-किसी ऐतिहासिक तथ्य, प्रमाण या वर्णन द्वारा समर्थित नहीं है, बल्कि इसके प्रतिकूल देवीचन्द्रगुप्तम्' के उद्धरण इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि दोनों भाइयों-चन्द्रगुप्त और रामगुप्त - में परस्पर स्नेह, सद्भाव, सौहार्द्र था । विशाखदत्त के पदों में जिस परस्पर स्नेह, भावना का वर्णन है । उससे शकयुद्ध और चन्द्रगुप्त के राज्याधिकार के पूर्व किसी मनोमालिन्य की सभावना नहीं दीखती । अबुलहसन अली के वर्णन विश्लेषण भी छल पूर्वक एव शिखर स्वामी की सहायता से रामगुप्त के राज्याधिकार पाने के प्रमाण नहीं देते । जायसवाल मात्र इसका अनुमान लगाते हैं कि सभवत· हिन्दू धर्म में प्रबल आस्थावान चन्द्रगुप्त ने आदर्श प्रस्तुत करने के लिए अपने ज्येष्ठ अग्रज के लिए राज्य का परित्याग किया होगा[3] । रामगुप्त पर प्रबल प्रीति और असीम अनुराग के कारण चन्द्रगुप्त द्वारा स्वेच्छा से ध्रुव देती को अगीकार न करने की बात तो विशाखदत्त के इस वर्णन से स्पष्ट है ---

भक्ति च मध्यनुपमानुरूध्यमानो ।
देवीं त्यजामि बलवास्त्वपि में अनुराग:[4] ।।

इसके सर्वथा विपरीत प्रसाद जी की धारणा है कि चन्द्रगुप्त ने विवशतापूर्वक राज्य त्याग किया होगा, स्वेच्छा से नहीं । छल-छद्म षडयत्र द्वारा चन्द्रगुप्त के राज्याधिकार का अपहरण दिखाना उनकी सर्वथा मौलिक और निजी धारणा है, जिसे किसी ऐतिहासिक तथ्य या प्रमाण समर्थन नहीं देते । सभव है, रामगुप्त के चरित्र के इस बलहीन किन्तु छलपूर्ण पक्ष को दिखाना उनका उद्देश्य रहा हो ।

नाटक के प्रारम्भ में ही खड्गधारिणी के साथ वार्ता में ध्रुवस्वामिनी के मन के अतर्द्वन्द्वों से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि उस वातावरण में उसे घुटन का अनुभव हो रहा है और वह कुमार (चन्द्रगुप्त) के प्रति श्रद्धा और सद्भाव रखती

---

1 डा० जगदीश नारायण जोशी, प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृष्ठ 128 ।

2 स्कन्द गुप्त का विहार का शिलालेख, स० 29, भिखारी का शिलालेख, स० 28 ।

3 जर्नल आफ विहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी, भाग 14 ।

4 ध्रुवस्वामिनी ।

है । नाटक में आगे इसके भी सकेत मिलते हैं कि वह चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता थी, जो रामगुप्त के शासनाधिकारी बनने के कारण उसकी पत्नी बनी । चद्रगुप्त के साथ उसके पूर्वगग का प्रमाण इतिहास में कहीं प्राप्त नहीं होता । नाटक में रामगुप्त के मन में सशय बराबर बना रहा है, इसी कारण अपनी आशका को पुष्टि के लिए खड्गधारिणी को भेजता है । चन्द्रगुप्त पर राजकोप का अप्रत्यक्ष कारण यही है । देवीचन्द्रगुप्तम् से ध्रुवदेवी तथा उसके परिणय का कोई विवरण प्राप्त नही होता। सभवत: प्रसाद जी ने इस घटना का आधार अबुलहसन अली की कथा से प्राप्त किया होगा, जिसमें यह वर्णन है कि रानी (ध्रुवदेवी) का विवाह वर्क मारीस (विक्रमादित्य से होना निश्चित हुआ था, लेकिन उसी के ज्येष्ठ भाई रूवाल (रामगुप्त) ने उसे अपनी पत्नी बना लिया[1] । इससे कई सभावनाऍं निश्चित की जा सकती हैं --- एक यह कि ध्रुवदेवी का उससे पूर्व प्रेम था, दूसरे यह कि चन्द्रगुप्त शासनाधिकारी रहा होगा और उससे ध्रुवदेवी के विवाह की बात रही होगी, जो रामगुप्त के शासनाधिकार में आने से पूरी नहीं हो सकी । गुप्त कुल में ध्रुवस्वामिनी के प्रवेश के कारण प्रसाद जी 'कचोपायन दान' प्रथा को मानते हैं, जिसके उल्लेख समुद्रगुप्त की 'प्रयाग प्रशस्ति' में प्राप्त है । फिर भी ये सभावनाऍं ऐतिहासिक आधार से सपुष्ट नहीं है । प्रसाद की खड्गधारिणी सर्वथा काल्पनिक है, जिसे रामगुप्त ने ध्रुवदेवी की अत:स्थिति जानने के लिए नियुक्त किया है । देवी चन्द्रगुप्तम् एक विशुद्ध भारतीय नारी के रूप में ध्रुवदेवी का रामगुप्त से प्रेम और निष्ठा का समर्थन करता है । इसके अनुसार ध्रुवदेवी स्वेच्छा और तत्परता के राजा रामगुप्त की सहचरी है, वैसे राजा के अन्य स्त्री पर आकर्षित होने की ईर्ष्या और कटुता उसे निरन्तर पीड़ित करती है । अल्टेकर ने इसका उद्घाटन अपने लेख में किया है[2] । इसके सर्वशा प्रतिकूल प्रसाद ध्रुवदेवी राजा से अतर्मन से घृणा करती है और चन्द्रगुप्त से स्नेह । ध्रुवदेवी सिर्फ एक बार आत्मसमर्पण करती है, अह्म का विसर्जन करती है, जब उसे शक शिविर में भेजे जाने के निश्चय का पता चलता है । ये प्रसाद की मौलिक योजनाए है, इतिहास सम्मत-समर्थित नहीं । चन्द्रगुप्त के प्रति रोष और राजकोष को भी इतिहास का समर्थन प्राप्त नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है प्रसाद ने इसके कथानक में सर्वथा नवीन कथ्य-तथ्य लाने का निश्चय प्रारभ से ही किया था । नाटक में प्रतिहारी से शकों द्वारा त्रिरिपल रोकने की सूचना की घटना, रामगुप्त से अमात्य शिखर स्वामी का समाधान ढूढने का निवेदन प्रसादीय उद्भावनाए हैं । इस अवरोध के कारण, स्थान और काल के सबद्ध प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते हैं । नाटक रामगुप्त के दिग्विजय प्रयाण के सकेत देता है, किन्तु इतिहास में रामगुप्त के इस शौर्यपूर्ण कार्य का कही कोई सकेत--उल्लेख नहीं है।

1. जर्नल आफ बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी, भाग 18 ।
2. जे० बी० ओ० आर० एस० अल्टेकर का लेख ।

सभावना है, प्रसाद जी समुद्रगुप्त की ही तरह रामगुप्तकालीन सिक्कों पर उत्कीर्ण शब्दों --- 'काचोगा अभिजित्य दिव कर्म भिर उत्तमौर जयत्ति सर्वराजोच्छेता'[1] से भ्रमित और प्रभावित हुए हों । काच रामगुप्त के लिए आया है । नाटक में शकपति को ध्रुवदेवी का उपहार देनेवाली घटना इस बात के सकेत अवश्य देती हैं कि शकों से पराजित हो, आत्म और राज्य रक्षार्थ रामगुप्त ने प्रजा को सतुष्ट करने के लिए यह अपमान जनक निश्चय किया होगा । वैसे इतिहास रामगुप्त पर शकों के आक्रमण की सूचना नहीं देता, किन्तु हर्ष, चरित, श्रृगार रूपक और काव्य मीमासा के कुछ उद्धरण इसकी पुष्टि करते हैं कि पराजित रामगुप्त से ध्रुवदेवी का उपहार मागा गया था, जिसे रामगुप्त ने स्वीकारा था । एक भारतीय पुस्तक के अरवी भाषा में अनुवाद--'मुजमुल-उल-तवारीख'--में अबुलहसन ने विस्तृत रूप से ख्वाल (रामगुप्त) कथा का उल्लेख किया है । पराजित रूवाल अपने बन्धु-बान्धवों के साथ भागकर दुर्ग में शरण लेता है, किन्तु शत्रु द्वारा दुर्ग को घेर लेने से आतकित रूवाल (रामगुप्त) शत्रु से सधि करने की इच्छा व्यक्त करता है । प्रत्युत्तर में शत्रु नवविवाहिता रानी के साथ अपने सरदारों के लिए लडकियों की माग करते हैं, इसकी पूर्ति होने पर लौट जाने का वे आश्वासन देते हैं । दुर्ग और वातावरण की स्थिति के आधार पर कुछ विद्वान युद्ध-स्थल कार्तिकेयपुर को बताते हैं, जो कागडा से अल्मोडा तक की वैद्यनाथ घाटी में अवस्थित है । प्रसाद जी ने इन नाम और स्थान के झमेलों से अपने को सर्वथा मुक्त रखा है । इस कारण वहॉ ऐतिहासिकता ढूंढने का प्रश्न ही नहीं उठता । प्रसाद जी उपर्युक्त विवरण से पृथक सधि-प्रस्ताव रामगुप्त से नहीं भिजवा कर शत्रु से भिजवाते हैं, किन्तु आशय, शर्त, परिणाम और उद्देश्य प्रायः समान ही हैं । प्रसाद जी ने शकराज का नामोल्लेख नहीं कर झमेले और विवाद से बचने का प्रयास किया है । वैसे इतिहासकारों के अनुसार शकपति सभवतः पश्चिमी क्षत्रपों की शाखा का शासक रुद्रसिह (रुद्रसेन) तृतीय था, जिसके उस युद्ध में सलग्न होने की संभावना इतिहासकार बताते हैं । प्रसाद के नाटक में संधि की शर्तें अबुलहसन अली की शर्तों के आधार पर स्वीकारी गयी है । अंतर इतना ही है कि प्रसाद का रामगुप्त मत्री शिखर स्वामी की मंत्रणा पर ध्रुवदेवी को भेजना तुरत स्वीकार लेता है, प्रसन्न भी होता है, ताकि उसे हृदय से प्यार न करने वाली ध्रुवदेवी से मुक्ति मिल सके । इसे वह राजनीतिक विजय भी मानता है, किन्तु मुजमुल उल तवारीख का रूवाल (रामगुप्त) शर्ते सुनकर निराश होता है, अपने सफर नाम के अधे वजीर के बहुत समझाने-बुझाने पर कि प्राण देने से क्या लाभ ? अभी वह स्त्री-सम्प्रदान कर आत्म-रक्षा कर ले, बाद में शत्रु से इसका बदला चुका दे --- अततः पत्नी का उपहार देना स्वीकारता है ।

---

1 एलन-कैटलाग आफ इण्डिया क्वाइन्स - 38/3 ।

नाटक में वर्णित रामगुप्त-ध्रुवस्वामिनी और शिखर स्वामी का वार्तालाप पूर्णतः काल्पनिक है । वैसे ध्रुव देवी का आत्म समर्पण, अह-त्याग तथा रक्षा और दया की प्रार्थना का आधार प्रसाद जी ने विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' से प्राप्त किया है, जब ध्रुवदेवी अन्य स्त्री में राजा की आसक्ति की शका से स्वगत द्वारा भावाभिव्यक्ति करती है कि वह राजा के प्रति पूर्ण समर्पित है[1] ।

प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी अपने को पति कहलाने वाले, पुरुष शरीर में नारी आत्मा और बल समेटे रामगुप्त को रक्षा में असमर्थ पाकर आत्महत्या का वरण श्रेयस्कर समझती है । उसके इस प्रयास के समय अकस्मात् प्रवेश द्वारा कुमार (चन्द्रगुप्त) उसे बचा लेता है । नाटककार ने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के आधार पर आत्महत्या का प्रसग वर्णित किया, किन्तु चन्द्रगुप्त-प्रवेश, सर्वथा मौलिक उद्भावना है, वैसे सदर्भ और परिस्थिति के आलोक में यह न तो प्रक्षेप लगता है न अनैतिहासिक । 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में चन्द्रगुप्त प्रवेश स्त्री वेश में वर्णित है, जब वह ध्रुवदेवी के रक्षार्थ शक-शिविर में जाने को तत्पर है । उसी वेश में उसकी मुलाकात रामगुप्त से भी होती है । इससे सर्वथा पृथक् चरित्र मुजमुल-उल-तवारीखे के बर्कमारीस (विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त) रूवाल (रामगुप्त) का अनुज का है, जो गाढे समय में उपस्थित हो राजा को सहायता देने का सकल्प सुनाता है । अन्य सामन्त पुत्रों के साथ स्त्री वेश में बाल में छूरी लेकर शक-शिविर जाने को तत्पर है[2]। उसके कथन ये सकेत देते हैं कि वह किसी स्थिति में राज्य की लक्ष्मी और प्रतिष्ठा ध्रुवदेवी को भेजने के पक्ष में नहीं है । प्रसाद जी के रामगुप्त द्वारा हर स्थिति में ध्रुवदेवी को भिजवाने के निश्चय का कारण सर्वथा स्पष्ट है । शकराज को सच्चे अर्थ में प्रसन्न करना, जिससे वह पुनः उसे आतकित न करे और इससे भी महत्वपूर्ण कारण था, ध्रुवदेवी और चन्द्रगुप्त दोनों से मुक्ति पाना । एक पर प्यार न करने का अभियोग था, दूसरे पर राज्याधिकार मार्ग के कटक होने की आशका । यह तथ्य इतिहास से विलग होकर भी अधिक सत्य, स्वावाभाविक, प्रभावी और सभाव्यताओं से पूर्ण दीखता है । प्रथम अक का मदाकिनी-प्रसँग भी कहीं से इतिहास द्वारा समर्थित नहीं है । वैसे हिजडे-बौने का प्रसग अनैतिहासिक, प्रक्षेप और घटना कम, कथा-विकास से सर्वथा असंपृक्त लगता है, किन्तु इसके दो उद्देश्य स्पष्ट दीखते हैं । एक घटना की गभीरता को हास-परिहास द्वारा हल्का करना, दूसरा यह दिखाना कि रामगुप्त की प्रतिमूर्ति उसके शासन काल में पर्याप्त व्याप्त थी, जो राजा की तरह ही नपुसक-कापुरुष थे ।

ध्रुवस्वामिनी के कथानक का अधिकाश प्रसाद जी की कल्पना का परिणाम

---

1 जे० बी० ओ० आर० एस० 18/1938 ।

2 जायसवाल - जे० बी० ओ० आर० एस० ।

है । आचार्य मिहिरदेव की कन्या से शकराज का प्रेम, उसकी अवहेलना, कमल सी कोमल तन्तुओं से बनी शोभा और आचार्य का सत्परामर्श, धूमकेतु का अवतरण, इत्यादि भी कल्पना प्रसूत घटनाए हैं, किन्तु नाटक के कथा-विकास और उद्देश्य से इस प्रकार जुडी हैं कि इतिहास से अधिक सत्य दीखती हैं । उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य है शकराज के अतिशय पतन और दुश्चरित्र का प्रकाशन-उद्घाटन । शक-शिविर में स्त्री वेशी चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का शकराज के समक्ष किया गया अभिनय है तो सर्वथा अनैतिहासिक, कितु सभावनाओं से भरपूर । शकराज की चन्द्रगुप्त द्वारा हत्या और शक-दुर्ग पर उसकी विजय इतिहास सम्मत तथ्य हैं । शकराज वध-प्रसग तथा दुर्ग-विजय की प्रक्रिया की घटनाओं में हेर-फेर अवश्य है । नाटक के अनुसार चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी के अभिनय के बाद चन्द्रगुप्त शकराज की हत्या करता है ध्रुवदेवी तूर्य नाद करती है, सामन्त कुमार दुर्ग विजय कर रक्ताक्त कलेवर लिये दोनों के पास पहुचकर जयघोष करते हैं[1] । किन्तु अबुलहसन अली के अनुसार चन्द्रगुप्त के तूर्य नाद पर पूर्व निश्चयानुसार बाहर सेना के साथ तत्पर रब्वाल (रामगुप्त) दुर्ग-विजय करता है । रामगुप्त का यह ऐतिहासिक स्वरूप पता नहीं क्यों हृदय को स्वीकार्य नहीं होता, क्योंकि पत्नी-सप्रदान करने वाला व्यक्ति इतना शौर्य कहा से ला पायेगा ? प्रसाद ने वस्तुतः कथानक को प्रारम्भ से ही सर्वथ था । पृथक् दिशा में बढाया है, जिसमें चद्रगुप्त-रामगुप्त में परस्पर स्नेह-सबध, का नामो निशान नहीं है । वैसे यह तो स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने अबुलहसन अली का सहारा काफी लिया है, किन्तु उद्देश्य की सिद्धि और पात्रों के चारित्रिक विश्लेषण के लिए पर्याप्त सवच्छदता भी बरती है । स्त्रीवेश में चन्द्रगुप्त ने शक-शिविर में प्रवेश किया था और शकपति की हत्या की थी यह कई पुस्तकों से प्रमाणित है । हर्षचरित, शाकरी टीका, शृगार रूपकम् में इसके प्रसंग हैं--स्त्री वेश निहनुतश्चन्द्रगुप्तः रात्रौ स्कन्धावारमलिपुर शकपति बधाया गमत[2] ।

नाटक के अतिम अक की एक अत्यत महत्वपूर्ण घटना का काल भी प्रसाद जी ने इतिहास विरुद्ध होकर स्थापित किया है । अली के ग्रंथ के अनुसार रूवाल (रामगुप्त) दुर्ग-विजय करता है, चन्द्रगुप्त के तूर्यनाद पर तत्काल उपस्थित होता है, किन्तु प्रसाद जी का रामगुप्त शकराज की हत्या, दुर्ग-विजय तथा ध्रुवदेवी की कुशलता का समाचार सुनकर विजय का उत्साह दिखाने अपने सैनिकों के साथ निरीह, निहत्थे शकों, निरपराध आचार्य और उनकी कन्या की हत्या करता हुआ उपस्थित होता है । यह घटना नियोजन काल्पनिक है, किन्तु प्रसाद के कथानक के विकास-क्रम में सर्वथा उपयोगी और स्वाभाविक । आचार्य कन्या कोमा का

---

1 ध्रुवस्वामिनी, पृ० 48 ।

2 शृगाररूपकम् (भोज) ।

ध्रुवदेवी से शव-याचना भी प्रसाद की निजी उद्भावना है । इससे ध्रुवदेवी के नारी हृदय की प्रतिक्रियाओं और गुणों पर प्रकाश पडता है । निरीह कोमा और आचार्य की अनपेक्षित बर्बरतापूर्ण हत्या के नियोजक रामगुप्त की इस योजना का एक मात्र उद्देश्य उसके चरित्र के अपकर्ष को दिखाना है । नाटककार खलनायक में जिन घृणास्पद अशों का समावेश करना चाहता है, धुवस्वामिनी नाटक में उन सबों का आधार रामगुप्त को बनाया गया है. हालाकि प्रसाद प्रत्यक्ष रूप से उसे खलनायक बनाना नहीं चाहते, किन्तु परिस्थिति की इस सभाव्यता में नाटकीयता में तो उत्कर्ष आ गया है, इतिहास से इसकी वास्तविकता का कोई सबध नहीं है ।

कथानक का महत्वपूर्ण अश है रामगुप्त-बध, चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण तथा राजरानी के रूप में ध्रुवदेवी का अभिनदन । विशाखदत्त के अनुसार चन्द्रगुप्त शकविजय के बाद काम-मोहित, मदन-विकार पीडित चन्द्रगुप्त विक्षिप्त होने का अभिनय करता हुआ राजमहल में इधर-उधर घूमता दीखता है[1] । इससे अधिक सकेत इसमें नहीं प्राप्त होते । अमोघवर्ष का ताम्रपत्र यह सूचना अवश्य देता है कि किसी गुप्तवशी राजा ने अपने भाई की हत्या कर उस राज्य और उसकी पत्नी पर अधिकार किया । इस सकेत के आधार पर इतिहासकार उसे निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त होना स्वीकारते हैं, क्योंकि दोनों में कथा और घटना का साम्य है । देवीचन्द्रगुप्तम् के श्लोकों से प्राप्त सकेतों से यह सभावना बनती है कि सभवतः स्त्रीत्व रक्षा के बाद ध्रुवदेवी और चन्द्रगुप्त में प्रेम हुआ हो और विक्षिप्त का अभिनय कर उसने आत्म रक्षार्थ आकमण के क्रम में रामगुप्त का वध किया होगा। प्रसाद जी ने भ्रातृ-वध का कलक अपने चरित्र नायक पर नहीं देने के उद्देश्य से इतिहास के इतने बड़े सत्य का रूपान्तरण कर दिया । सजात ताम्रपत्र की हत्या के प्रसग का समर्थन मुजमुल उल तवारीख भी करता है । इसके अनुसार रानी शकपति से आत्म रक्षा के बाद चद्रगुप्त (वर्कमारीस) के पूर्व राग को अधिक प्रगाढ करने के लिए उन्मुक्त प्रेम करने लगी थी, जिससे क्रुद्ध रूवाल ने भाई को एक बार अपमानित भी किया था । एक समय रानी और रूवाल राजमहल के अतःपुर में गन्ना खा रहे थे । रानी धूरी से छील कर उसे खिला रही थी । अतःपुर में होने के कारण द्वार पर कोई दास दासी नहीं था । तभी दीन भिक्षुक के वेश में वर्कमारीस वहाँ पहुचा, जिसे रूवाल ने तो नहीं, किन्तु रानी ने तत्काल पहचान लिया । रानी के अनुनय विनय पर राजा ने उस भिक्षुक वेशी वर्कमारीस को गन्ना खाने को दिया । गन्ना छीलने के लिए रानी ने उसे घूरी दी । सकेत पाते ही उसी छूरी से वर्कमारीस ने रूवाल की हत्याकर दी और रानी को अपनी पत्नी बना लिया । अधे वजीर सफर की गलतियों पर बर्कमारीस ने क्षमा कर उसे ही मंत्री पद पर रखा । इतिहास आगे बताता है कि सफर बडा अनुभवी, योग्य राजनीतिज्ञ

1. देवीचद्रगुप्तम् - पचम अक ।

था, उसने एक राजनीति की पुस्तक का भी प्रणयन किया था । कालान्तर में उसने जीवित अग्नि-समाधि ले ली । इस तथ्यों के विश्लेषण से यह तो स्पष्ट होता है कि रामगुप्त की हत्या का प्रधान कारण था चद्रगुप्त-ध्रुवदेवी का परस्पर प्रेम । कुछ विद्वान इसमें दोनों का षडयन्त्र मानते हैं । वैसे राजघरानों के प्रेम में ऐसी राजीनतिक हत्याए प्रायः होती देखी जाती हैं । प्रसाद जी ने रामगुप्त की हत्या चन्द्रगुप्त के पक्षधर और हितैषी एक सामन्त कुमार द्वारा करायी है, जब रामगुप्त क्षुब्ध, क्रुद्ध, असतुष्ट हो चन्द्रगुप्त पर प्रहार करना चाहता था । जायसवाल जी की यह धारणा मस्तिष्क को नहीं भाती कि रामगुप्त अपनी प्रजा के साथ युद्ध में मारा गया[1], क्योंकि सारे सदर्भ, इतिहास उसकी हत्या शक-शिविर में बताते हैं, किसी अन्य स्थान पर नहीं । सामन्त कुमार द्वारा हत्या करवाकर प्रसाद ने रामगुप्त की अलोकप्रियता तथा चन्द्रगुप्त की लोकप्रियता का सहज उद्‌घाटन कराया है । देवीचन्द्रगुप्तम् के तथ्य भी कुछ सही जचते हैं कि ग्रह कृत उन्माद मदन विकार (कृतकोन्मत्त) के वश में चन्द्रगुप्त ने उसकी हत्या की और उसे विक्षिप्त समझा जाकर जन-रोष का उसे सामना भी नहीं करना पडा ।

रामगुप्त की हत्या के ठीक पूर्व प्रसाद के नाटक में नियोजित पुरोहित-ध्रुवस्वामिनी प्रकरण सर्वथा अनैतिहासिक है । इतिहास से ऐसा कोई सकेत नहीं प्राप्त होता कि रामगुप्त से मुक्ति पाने के लिए ध्रुवदेवी ने धर्म, शास्त्र, न्याय की दुहाई मागी थी। प्रसाद जी की यह मान्यता सर्वथा स्वतत्र और अपने स्वतन्त्र कथानक की भूमिका के सागोपाग के लिए है । प्रतिष्ठित वश-परम्परा की ध्रुवदेवी का पुनः विवाह एक सामाजिक कलक न बन जाय, इस उद्देश्य से धर्म-शास्त्र के नियमों की रेखाएं खींची गयीं, रामगुप्त को क्लीव घोषित किया गया और अततः शास्त्र विहित नियमानुसार उसका पुनर्लग्न कराकर उसे सामाजिक कलक से बचाकर परपरित प्रतिष्ठा से पुनर्विभूषित किया गया ।

साराशतः, प्रसाद का यह नाटक कई स्थानों पर ऐतिहासिक कथानक से पृथक् होकर भी सत्य के अत्यन्त निकट प्रतीत होता है । हा, इतना अवश्य है प्रसाद जी का प्रधान उद्देश्य रहा है ऐतिहासिक घटनाओं की पृष्ठभूमि में विशेष परिस्थिति में नारी मोक्ष की समस्या का समाधान ढूँढना और, इस महत् उद्देश्य में वे सफल रहे हैं । उनकी काल्पनिक उद्‌भावनाएँ स्वतंत्र कथानक के समानान्तर और स्वाभाविक दीखती हैं, प्रक्षेप या बेतुकी नहीं ।

●●●

1 ध्रुवस्वामिनी भूमिका-वेरी लाइकली इट केम इन द फार्म आफ पोपुलर राइजिग ।

चतुर्थ अध्याय

प्रसाद के नाटकों में संस्कृति

प्रसाद आर्य सस्कृति की आत्मा के प्रतीक हैं और उनकी समस्त कृतिया सास्कृतिक आत्मा के प्रोद्भाषित मुखरित स्वर हैं । वे आर्य सस्कृति को भारतीय सस्कृति का पर्याय मानते थे । प्रसाद ने अपने गहन और विस्तृत अध्ययन के क्रम में विभिन्न सस्कृतियों का अध्ययन, अवलोकन और अवगाहन किया, किन्तु उनके अन्तस्थल में अपनी सस्कृति की विराटता के प्रति जो आस्था, रागात्मक स्नेह, भावात्मक सम्बन्ध था उसने सस्कृति के महत्व के चित्रण और विश्लेषण करने को अनायास बाध्य किया । भारतीय सस्कृति उन्मुक्त व्योम में उद्भाषित वह निश्छल प्रकाश है, जो मात्र कोलाहल की अवनी से मुक्ति नहीं दिलाता, प्रत्युत् निश्छल प्रेम-कथा कहता है, क्षितिज के पार से आनेवाले भूले-भटकों, आक्रामकों, आततताइयों को स्नेह, सद्भाव, सहानुभूति और सही दिशा का निर्देश करता है । यह सच है कि भारतीय सस्कृति के स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण ओर दर्शन प्रसाद के नाटकों में अधिक मिलता है । सस्कृति सस्कार का घनीभूत रूप है इसलिए भारतीय जीवन के विभिन्न सस्कारों का प्रसाद जी ने विस्तार सहित चित्रण किया है । सस्कार वशगत, परिवेशगत के अतिरिक्त धर्मगत भी होते हैं और जातिगत भी । इनके अतिरिक्त परिस्थितिजन्य परिवेश की मान्यता की भी अवहेलना नहीं की जा सकती । क्षत्रियत्व और दानशीलता यदि क्षत्रियों के जन्मगत, सास्कारिक गुण हैं, तो उदारता, ज्ञानशीलता, त्यागमयता भी ब्राह्मणों के साथ प्राण की तरह संस्कार में समाहित रहती है । प्रसाद के पात्र नियति और धर्म में आस्था रखते हैं । ईश्वर के प्रति उनमें श्रद्धा, स्नेह और समर्पण का भाव है, मात्र भय नहीं । यह प्रसाद की आत्मा का स्वर है, जो यह प्रतिध्वनित करता है-परम प्रभु ने इस विश्व का निर्माण कर स्व का विस्तार और मानव का उपकार किया है । इस धरती के सारे उपकरण भगवान् की विभूति हैं ।...उसकी सृष्टि विचित्रताओं से भरी है । रत्न मिट्टियों से ही निकलते हैं,...स्वर्ण से जड़ी मजूषाओं ने तो कभी एकरत्न नहीं उत्पन्न किया[1] । हम सभ्यता की होड़ में चाहे जितने आगे निकल जाए, रगीन बन जाए, किन्तु इसे कदापि नहीं भूल सकते कि हम उसी विराट् की लघु प्रतिच्छाया हैं । यह बात तर्क से सर्वथा परे है कि वह (ईश्वर) भविष्य में मगलमय आशा का सुखद परिणाम देने वाला है[2] । हम विश्व-वेदना से दुःखी हो काप उठते हैं, दया की भावना से द्रवित हो राज्य, मोक्ष, पुनर्जन्म से पृथक् प्राणीमात्र के दुःख को मिटाने और बाटने में सद्यः तत्पर रहते

---

1 विशाख, पृष्ठ 12 ।

2 वही, पृष्ठ 36 ।

है । इसके पीछे हमारी सस्कृति हमें प्रेरित करती है कि हम मगलमय विभु के अश है और मात्र उसके आदेशों और सदेशों को प्रसारित-प्रवाहित करने हेतु धरा पर विभिन्न रूप-रग, शरीर लेकर उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि 'वे (ईश्वर) करुणा-सिन्धु और कामना विहीन हैं, और विश्व के उपकार में सतत् निरत् हैं'[1]। ध्रुवस्वामिनी के वाक्य हमारी सास्कृतिक आस्था के प्रगीत सुनाते है कि 'भगवान् ने मानव को इस धरती पर आनन्द का प्रतिनिधि बनाकर भेजा है, किन्तु जब वह ईश्वर का प्रेममय सदेश भूल जाता है तो उसके विधान की स्याही का एक बिन्दु गिर कर भाग्य लिपि पर कालिमा चढा देता है[2] ।

नियति के नियम, परिवर्तन और प्रकोप के प्रति आस्थावान प्रसाद अपने नाटक में भारतीय सस्कृति के उस अध्याय को खोलते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है-'नियति, परिवर्तन द्वारा सृष्टि का शृगार किया करती है । कभी शील का बोझ एक पैर भी महल से बाहर चलने में रोकता है और कभी निर्लज्ज गणिका का उच्छृखल आमोद मनोनीत होता है[3] । सस्कृति की रेखाए सामाजिक परिस्थितियों को प्रभावित करती हैं और सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण भी, प्रसाद के नाटकों से यह तथ्य सहज प्रमाणित हो जाते हैं ।

सस्कृति में परिभाषित ईश्वर प्रसाद के नाटकों में भी शक्ति का एक अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म ज्योतिपुज है, जो नियति-परिवर्तन द्वारा सृष्टि का श्रृगार किया करता है । क्षुद्र अहताओं और उपलब्धियों में हम अपने को चाहे, जितने अहवादी और महान् माने बैठे, किन्तु सकट में वे ही काम आते हैं[4] । वे अदृष्ट रूप में व्यक्ति के सहायक और सरक्षक है । "इसी विश्वास से व्यक्ति नियति की डोरी पकड कर निर्भय, कर्म कूप में कूदता है, क्योंकि विधाता के विचार और व्यवस्थानुसार ही सब होना है[5] । चेतन जीवन निर्जीव पदार्थों के समायोजन का परिणाम है । यानि जीवन विश्व चेतना के आकार ग्रहण करने का दूसरा नाम है, जिसका लक्ष्य सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है, और जिसके मूल में ईश्वर ने आनन्द की सत्ता निर्धारित की है[6] । अपने साहित्य में अन्यत्र भी प्रसाद जी ने यह माना है कि सदैव सत्कर्म में सलग्न प्राणी ईश्वर की करुणा का आलोक और स्नेह पाता है । अपने निर्देशों के विस्मरण पर उसकी क्रोधाग्नि अग्नि में घी के समान काम करती है । विनोद, लीला और आनन्द ईश्वरीय ऐश्वर्य है, जो मानव को उत्तरदायित्व-निर्वहन पर

---

1 विशाख, पृष्ठ 57 ।
2 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 57 ।
3 अजातशत्रु, पृष्ठ 129 ।
4 विशाख, पृष्ठ 69 ।
5 वही, पृष्ठ 36 ।
6 एक घूट, पृष्ठ 20-21 ।

ईश्वरीय इच्छा और वरदान स्वरूप मिलता है इससे यह स्पष्ट है कि वह प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है[1] । नियति कभी हमें बुद्धि का प्रकाश देती है, कभी कर्म-शक्ति और तदनुरूप प्रेरणा । वह अपनी इच्छा और व्यवस्था से उत्थान-पतन की नियोजना करती है । प्रकृति के बहुत सारे उलट-फेर से साधारण मानव ऊब जाता है, किन्तु विचारशील ही यह समझ पाते हैं कि इस उलट-फेर में भी ईश्वर ने विश्व कल्याण छिपा रखा है,[2] क्योंकि वह प्रभुतासपन्न[3] और विपद-भजन हैं, जो अपने स्निग्ध अचल से आर्त्त के अश्रु पोंछने के लिये सदा तत्पर रहता है[4] । लौकिक-पारलौकिक शक्तिओं से श्रेष्ठ वह अटल, अदृश्य का नियमन करता है । मानव-प्रकृति और प्रवृत्ति का आवश्यकतानुसार निर्धारण करता है । अपनी चेतना, प्राणशक्ति और दिव्य आलोक मृत्यु के माध्यम से वह लौटा लेता है[5], क्योंकि वह अन्तर्यामी और मानव-कल्याण में सलग्न है । उसका निश्चय निर्देश बडे-से-बडे सम्राटों से भी प्रबल है[6] । परिस्थितिया उसके इशारे पर भयावह या आनन्दमयी बनती हैं यह उस पर है कि आनन्द में विष घोलकर नयी व्यवस्था का विधान करे या प्रलय की अग्नि बुझाकर, आनन्द आलोक विकीर्ण कर सुख की राशि लुटा दे[7] । गौरव, गरिमा, उसकी कृपा और व्यवस्था के परिणाम हैं[8]।

धर्म गुण का पर्याय है । स्वार्थ, आडंबर, छल, प्रपच, संकीर्ण सीमाओं से परे यह एक ऐसा प्रकाश और आलोक है, जिसकी उज्ज्वलता और पवित्रता सूर्य की रश्मियॉ की तरह प्रकृति और विश्व-कल्याण के लिये उपयोगी है यह जितना प्रेय है उतना ही श्रेय भी । सस्कृति निश्चित करती है कि छात्र-धर्म कितना अटल हो, ब्राह्मण-धर्म कितना त्यागशील, उदार और कल्याणकर । सबसे बडा धर्म सत्य होता है, जिसमें एक साथ सूर्य-रश्मियों की दाहकता भी है और शरद्कालीन प्रवाहित जलस्रोत की शीतलता भी, चन्द्रज्योत्स्ना की उज्ज्वलता भी और ज्ञान की गहनता, विशालता एव सदाशयता भी । धर्म (सत्य) मानव-मन का प्रकाश है चित्त शुद्धि का साधन और वरदान है[9], प्रदर्शन का साधन नहीं । मात्र वस्त्र और आवरण परिवर्तन से धर्म पर एकाधिकार नहीं मिल जाता । मानव चित्त शुद्धि द्वारा ही मगलमय सत्य के स्वरूप को समझकर उस पर अग्रसर हो सकता है । सत्य की

---

1 जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ 38 ।
2 वही, पृष्ठ 69-70 ।
3 वही, पृष्ठ 95 ।
4. स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 63 ।
5 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 96 ।
6 वही, पृष्ठ 96 ।
7 अजातशत्रु, पृष्ठ 30 ।
8. वही, पृष्ठ 45 ।
9 वही, पृष्ठ 80 ।

दृढता ही धर्म और सस्कृति में प्राणशीलता सबलता, उपादेयता, लोकमागलिकता और विराटता लाती है । इसी कारण विजय श्री उसी का वरण करती है, जो सत्य का परम तत्व मानकर कर्मोन्मुख होता है[1] ।

आस्था, विश्वास एव मान्यताएँ हर सस्कृति के निकष पर बदलती रहती है। इसी कारण ये कभी सार्वकालिक और अपरिवर्तनशील नहीं रहीं । आर्य सस्कृति के अनुसार यह आस्था प्रबल रही कि उपद्रवों के बाद शान्ति कर्म (स्वस्त्ययन-शाति पाठ) आवश्यक है । आक्रामकों के प्रवेश द्वारा मातृ भूमि के अपवित्र हो जाने पर शान्ति कर्म, मन्त्रोच्चार, स्वस्त्ययन ही शान्ति व्यवस्था ला सकते हैं[2] । प्रसाद के नाटकों में इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं । इसी भावना से प्रेरित होकर शुभ कार्य या महत्कार्य के प्रारभ हेतु शुभ मुहूर्त की योजना थी[3] । युद्धारभ हो या कृषि-कार्य, रोपनी-कटनी विवाह, मुडन, राज्याभिषेक सबके लिए शुभ मुहूर्त की व्यवस्था आर्य सस्कृति की महत्वपूर्ण आस्थाओं में थी । यद्यपि आज की अज्ञानता वैज्ञानिकता के नाम पर इसे ढोंग, अविश्वास और ढकोसला करती है और कुछ अहित हो जाने पर, विपत्ति ग्रस्त हो जाने पर पुनः सस्कृति के उन्हीं निर्दिष्ट आस्थाओं के दरवाजे खटखटाती है । हालाकि इस आस्था और विश्वास के नाम पर हमें काफी लूटा भी गया है । अतिशय विश्वास ही का परिणाम था कि मन्त्र उच्चारण द्वारा मिट्टी को सोना बनाने जैसे प्रलोभन में हम फँसते रहे । राष्ट्र और समाज की सुव्यवस्था, सुशासन, दृढता और मागलिकता के लिए सत्कर्मों, पूजा हवनादि, यज्ञ, तप के विधान आर्य-सस्कृति के रेखाकित कर्म हैं । यह आस्था बराबर प्रबल रही कि यज्ञ से सारे अच्छे-बुरे कर्मों का प्रतिकार, ग्रहों कुदृष्टियों का उपचार हो जाता है । अमगल के क्रूर अट्टहास और अभिशाप से सत्कर्मों द्वारा मुक्ति की आस्था आर्य सस्कृति के ही नहीं, अपितु अनेक सस्कृतियों की स्वीकृत आस्था है । यद्यपि प्रसाद के अधिकाश नाटक भारत के प्राचीन समाज और सस्कृति के उद्‌गीथ सुनाते हैं, तथापि उनके विकास और ह्रास के इतिहास भी उनमें सहज प्राप्त हो जाते हैं । परिस्थिति, परिवेश, प्रभाव और अन्य सस्कृति के प्रदूषण के कारण कोई भी सस्कृति अपने मूलरूप से पृथक् होने लगती है । हिन्दू समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था सनातन धर्म की आदियुगीन प्रवृत्ति है, फिर भी भारतीय इतिहास के मौर्यकाल में यह व्यवस्था मूल रूप से कुछ भिन्न रूप में भी मिलती है । गुप्तकाल से पूर्व, जैन और बौद्ध धर्मों से प्रभावित युग में ब्राह्मण-सस्कृति का काफी ह्रास हुआ । तब उसी धर्म और सस्कृति के मानने वालों ने परम्परागत रूढिवादिता, धर्मान्धता, कट्टरता के विरुद्ध मुक्ति की आकाक्षा ले

---

1 जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ 92 ।

2 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 52 ।

3 वही, पृष्ठ 29 ।

विद्रोह किया था । पुन. गुप्तकाल में ब्राह्मण सस्कृति अपने विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुच गयी थी । अजातशत्रु में जिस ब्राह्मण-सस्कृति की पकड ढीली पड गयी थी, चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में वही सार्वभौम ब्राह्मणत्व के रूप में सर्वस्वीकृत हो गया था ।

आक्रमण के समय सस्कृति का ह्रास अवश्यम्भावी होता है । सस्कृति का ऐसा ही रूप-परिवर्तन सघर्ष के समय भी होता है । यही कारण है कि स्कन्दगुप्त के साम्राज्य-काल में अतिशय सघर्षों के कारण व्यवस्था कभी जर्जर हुई कभी स्वस्थ । अजातशत्रुकालीन ब्राह्मणत्व में वह दम नहीं था, जो अपने स्वर की ऊँचाई पर यह कह सके कि ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम सत्ता है, शाश्वत बुद्धि-वैभव है जो न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है । वह स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है[1] । फिर भी सस्कृति के नियमों के अनुसार निर्धारित वर्णव्यस्था प्राय· हर काल में स्वीकृत रही है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों का अलग-अलग नियमन है । अजातशत्रु में बसन्तक और विरुद्धक की कुछ उक्तियों से ब्राह्मण और क्षत्रियों के रेखाकित महत्व, गुण और कार्य का सहज आभास होता है[2] । प्रसाद के अन्य नाटकों में भी सामाजिक समन्वय और सांस्कृतिक विशिष्टता--सदाशयता के स्पष्ट दर्शन होते हैं । चन्द्रगुप्त मौर्य से हर्षवर्द्धन काल तक के समाज में वर्ण-व्यवस्था प्रायः एक सी मिलती है । हा ! ब्राह्मण-संस्कृति को जो ऊँचाई चन्द्रगुप्त मौर्य काल में मिली, वह न कभी पहले मिली थी और न कभी बाद में मिली । तत्कालीन ब्राह्मण सस्कृति थी शास्त्र-प्रणयन और राज्य-व्यवस्थापन[3] । तपोनिष्ठता ब्राह्मण के प्रधान चारित्रिक गुण थे, जो यम, नियम, कर्म, क्षमा, निष्पृहता समेटे हुए था । भाषा के परिमार्जन की आवश्यकता होती है, किन्तु इसके पहले और इससे अधिक ब्राह्मण आदमी के सस्कार को बनाने में विश्वास रखता था । तत्कालीन ब्राह्मण-सस्कृति भी आज से भिन्न थी, जिसमें उसका निवास झोपड़ी, जीविका मृत-अमृत, भोजन-फल-फूल थे और अंजली भर शीतल सलिल उसके लिये अपेक्षित और उपादेय थे । वह नश्वर चमकीले भौतिक प्रदर्शन से अभिभूत नहीं होता था[4], बल्कि अपनी तेजोमय निर्भीकता[5] समेटे हुए भूमा का सुख और उसकी महत्ता में तल्लीन रहता था । उसकी आस्था विद्या और विनम्रता से अधिक विमुक्ति में विश्वास रखती थी और यही उसका आचार्यत्व था । चाणक्य में अर्थशास्त्र, रणनीति,

---

1. चन्द्रगुप्त ।
2. अजातशत्रु, पृष्ठ 2/70, 2/105 ।
3. चन्द्रगुप्त, 1/88 ।
4. वही, 1/102 ।
5. वही, 1/103 ।

कूटनीति और दण्डनीति के साथ प्रेम, दर्शन, मोक्ष-समायोजन इसके प्रबल प्रमाण हैं। ब्राह्मण सस्कृति इतनी उच्च, आदर्श और उपादेय थी कि सिल्यूकस की कन्या एक ओर भारतीय कला और सगीत की साधना करती थी, दूसरी ओर भूमा के सुख से अभिभूत, निश्छल, अटल, चरित्र वाले महर्षि दाण्ड्यायन के पास दर्शन पढने जाने में उसे गर्व का अनुभव होता था[1] ।

ब्राह्मण-सस्कृति के माध्यम से प्रसाद ने समाज के उच्चतम आदर्श का मानदण्ड निरूपित किया है । सच्चा ब्राह्मणत्व राज्य की प्राप्ति और उसके सम्यक् सचालन में नहीं, अपितु राज्यारोहण की पात्रता का निर्णय और नियमन करने में है । वैदिक ऋषियों की परम्परा से ब्राह्मण मत्र-द्रष्टा और धर्म का नियामक रहा है । जब-जब आर्य-सस्कृति पर आघात हुआ, उसे (वशिष्ठ को) पीडा पहुची, तब-तब पल्लव, वर्द्, काम्बोज जैसे क्षत्रिय पैदा हुए[2] । यह भारतीय सस्कृति का स्वीकृत सत्य है कि धर्म-परायण, सस्कृति निष्ठ राजाओं ने सदैव ब्राह्मणों का आदेश-पालन किया है । चन्द्रगुप्त मौर्य इस आदर्श का प्रतीक है, जो करुणा के साम्राज्य, आनन्द समुद्र में शान्तिद्वीप के अधिवासी ब्राह्मण (चाणक्य) की भृकुटी तनते ही छोकरियों से विमुख होकर कर्त्तव्य के प्रति सचेत हो जाता है । मेघ के समान मुक्त-वर्षा या जीवनदान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर की तरह अथाह सम्पदा, सामर्थ्य और शक्ति रखकर भी नहीं छलकने वाले सागर की तरह ब्राह्मग की सस्कृति और तपस्या-त्याग को विदेशी कार्नेलिया भी स्वीकारती है[3] । ऊपर वर्णित तथ्य के अनुसार क्षमाशीलता ब्राह्मण-सस्कृति की महान् उपलिब्ध है--'राजा न्याय कर सकता है, पर क्षमा का अधिकार मात्र ब्राह्मण को है[4] । यह सस्कृति का उत्कर्ष ही' है कि मात्र नैतिक, आत्मिक, साधनात्मक शक्ति के बल पर वह बीहड वन्य-प्रान्त में साधना कर पाता था । बडे-बडे पराक्रमी सम्राट् उनके समक्ष निरस्त्र होकर निर्भीक और निर्विकार होने का वरदान पाने की कामना करते थे । ऐसा प्रतीत होता है, जैसे प्रसाद जी ने ब्राह्मण-सस्कृति को विश्व की सर्वोच्च संस्कृति का आधार और प्रतिरूप मान लिया था । बौद्धकालीन कथाओं के पर्यावरण में भी मुक्त कंठ से ब्राह्मण, ब्राह्मणत्व और ब्राह्मण-सस्कृति के उनके उद्घोष के पीछे सभवत: यही प्रवृत्ति और कामना काम कर रही होगी कि अकेला ब्राह्मणत्व ही स्वराज्य में विचरण करता है और अमृत होकर जीता है । घर-बार का त्याग कर सन्यास लेने वाले धर्म, प्रवर्तक भी इस ब्राह्मणत्व के आगे निस्तेज हो जाते हैं । कर्मवाद आर्य सस्कृति का मूलाधार है।

---

1. चन्द्रगुप्त, 1/112 ।
2 वही, 1/97 ।
3. वही, 4/224 ।
4 वही, 4/243 ।

प्रसाद जी की यही आस्था है । प्रसाद ने हीन-कर्मों से युक्त ब्राह्मणों से घृणा भी की है । व्यक्तिगत लोभ स अनुप्राणित हो अर्थकरी वृत्तिया ग्रहण करने वाले, टुकडों पर बिकने वाले, धर्म का व्यवसाय का साधन बनाने वाले, धन, पुत्र, यश, स्वर्ण, विजय, मोक्ष, दिलाने का स्वाग करने वाले ब्राह्मण अपनी सस्कृति से च्युत हो राज्यशक्ति के सामने समर्पित हो चारण का जीवन जीते हैं[1] । मनुस्मृति में ब्राह्मण के छ: कर्म निर्धारित किये गये हैं -- अध्ययन, अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह । इनमें तीन कर्म -- अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह आजीविका से सबद्ध कर्म हैं[2] । मनुस्मृति में मनु को निर्दिष्ट नियमों के अनुसार ब्राह्मण अवध्य होते थे[3] । सभवत· इसी निर्देश के आलोक में प्रसाद जी ने नन्द जैसे पतित, कलकित राजा द्वारा ब्राह्मण का मात्र शिखा पकडवाकर अपमानित करवाया, प्रसाद ब्रह्महत्या की कल्पना नहीं कर सकते । जीवन के हर मोड, हर क्रिया-कलाप से ब्राह्मण इस तरह सबद्ध और सयुक्त है कि उसके ही निर्देश ब्रह्म-वाक्य माने जाते हैं । ध्रुवस्वामिनी सकट की घडी में विपन्न होने पर अपने क्लीव पति से मुक्ति के लिये राज पुरोहित के निर्देश की प्रतीक्षा करती है, क्योंकि वह जानती है कि गौरव से नष्ट, आचरण से पतित कर्मों से राज किल्विषी और क्लीव पति से मुक्ति के द्वार, निर्भीकतापूर्वक ब्राह्मण ही खोल सकता है । ब्राह्मण केवल धर्म से भयभीत होता है, अन्य तुच्छ शक्तियाँ उसके धार्मिक सास्कृतिक सत्य-कथन को रोक नहीं सकतीं[4] ।

प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक में ब्राह्मण सस्कृति के चरमोत्कर्ष के सहज दर्शन होते हैं । लगता है प्रसाद जी ने ब्राह्मणत्व को इतना महत्व अन्यत्र कहीं नहीं दिया है । चाणक्य और दाण्ड्यायन अपने आदर्श, गुण, प्रतिभा, दर्शन, त्याग, क्षमा, करुणा और सस्कार के कारण आर्य सस्कृति के पर्याय बन गये हैं । वे कहीं भी व्यक्ति नहीं दीखते, उनका समग्र मूल्याकन व्यक्तित्व के रूप में होता है । मौर्यकालीन ग्रीक इतिहासकारों ने ब्राह्मण के आदर्श, चरित्र और सस्कृति पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि भारतीय ब्राह्मणों में दार्शनिकों का एक ऐसा सम्प्रदाय है जो स्वतत्र जीवन व्यतीत करता है । मास और अग्नि परक (उत्तेजक)

---

1 स्कन्दगुप्त, 4/122-23 ।

2 मानव धर्मशास्त्र-10/75-76 ।

3 भौडय प्रेणाति को दडो ब्राह्मणस्य विधीयत ।
इतेरेषातु वर्णाना, दड प्राणान्ति को भवेत् ।।
न जातु ब्राह्मण पहलात्सर्व पापेश्वपिस्थितम् ।
राष्ट्रदेनेम् वहि· कुर्यात् सग्रधन मक्षतम् ।।
-मनुस्मृति, 8/79-80

4 ध्रुवस्वामिनी, 3/62 ।

भोजन नहीं करता । वृक्ष में लगे फल तोडकर नहीं, अपितु गिरने पर उसे आहार बनाता है । टगवेना[1] (सभवत. तुगभद्रा) के शीतल जल से अपनी प्यास बुझाता है । शरीर को ईश्वर द्वारा दिया गया आच्छादन और आवरण मानकर आजीवन नग्न रहता है । ईश्वर को ज्योति स्वरूप मानकर मृत्यु से विचलित भयभीत नहीं होता । वह ब्रह्म की उपासना भक्ति द्वारा और प्रार्थना मत्र द्वारा करता है[2] । उपर्युक्त आदर्शों के आलोक में प्रसाद जी के 'चद्रगुप्त' के दाण्ड्यायन ही ऐसे व्यक्तित्व के रूप में उभरते है । क्योंकि उनकी आवश्यकताए परमात्मा की विभूति-प्रकृति-पूर्ण करती है[3] । विश्व इतिहास में सरल जीवन, उच्च विचार एव त्याग का ऐसा अन्यतम उदाहरण दुर्लभ है ।

प्रसाद के समस्त नाटकों में ब्राह्मण के प्राय: सभी प्रकार के कर्मों और सस्कारों का उल्लेख है । कुछ हीन-सस्कारों के कारण सस्कृति च्युत हैं और कुछ उच्च कर्मों के कारण वरेण्य भी । कुछ यात्रिक सस्कारों में प्रवीण, धार्मिक कृत्यों के नियामक थे । चाणक्य, दाण्ड्यायन और राक्षस अध्यापन-कार्य से सम्बद्ध थे। वररुचि का भी सम्बन्ध अध्ययन और प्रणयन से था । राक्षस यथानाम, तथागुण: की साकार प्रतिमा है, जिसके जाति गत सस्कार परिस्थिति एव परिवेश के कारण नद के वंशानुकूल सस्कारों के बहुत अनुरूप हो गये थे, अन्यथा वह चाणक्य ऐसे निष्काम और त्यागशील का विरोध नहीं करता । चाणक्य का निष्काम चरित्र अपने त्याग के कारण[4] इतिहास में रेखांकित स्थान बना लेता है । वैसे वह दान भी लेता था, किन्तु दूसरों के अहम् और कुसस्कार को, अपने सस्कार की ज्वाला से पवित्र बनाकर परिष्कृत कर उसे लोकमगल हित उपादेय बना देता था ।

आपात्काल और विशेष परिस्थिति में मनु ने ब्राह्मण को गृहस्थी सम्बन्धी अन्य कर्मों में सलग्न होने की स्वीकृति दी है । कृषि, गौ-रक्षा और व्यापार ऐसे ही कर्म हैं[5] जिन्हें विशेष स्थिति में ब्राह्मण सम्पादित कर सकता है । स्वय त्यागशील ब्राह्मण चाणक्य अपने अतिशय दारिद्र्य के कारण शास्त्र के बदले कृषि को आजीविका का आधार बनाना चाहता है ।

ब्राह्मण की तरह क्षत्रियों के सस्कारों और उनकी सस्कृति पर भी प्रसाद ने सूक्ष्मतापूर्वक प्रकाश डाला है । मनुस्मृति क्षत्रिय का परम धर्म प्रजा-रक्षण मानती है[6] । शुक्राचार्य ने यह परिभाषित किया है कि दुष्ट-दलन में समर्थ, प्रजा-रक्षण में निपुण, पराक्रमी और शूर ही क्षत्रिय है । उसकी प्रधान जीविका शस्त्रास्त्र पर

---

1 ऐंसियन्ट इडिया (मेडिकल), पृष्ठ 1-20 ।

2 वही, पृष्ठ 120-121 ।

3 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 4/245 और 1/103 ।

4 वही, पृष्ठ 3/156 ।

5 मनुस्मृति, पृष्ठ 10/82, कृषि गोरक्षमास्याक जीवेत वैश्यस्य जाविकाम् ।

6 वही, पृष्ठ 1/89 ।

आधृत है[1] । प्रसाद जी के नाटकों में ब्राह्मण की तरह क्षत्रियों के धर्माधर्म व्यवहार रूप में वर्णित हैं । स्कन्दगुप्त की जयमाला जैसी क्षत्राणियों के माध्यम से प्रसाद ने उनके आदर्श, गुण और सस्कृति को प्रतिबिम्बित किया है । जयमाला के अनुसार पीडितों, अनाथों, ब्राह्मणों और स्त्रियों के रक्षार्थ प्राणार्पण क्षत्रिय का परम और आदर्श कर्त्तव्य है[2] । बधु वर्मा के स्वर भी उतने ही सशक्त और प्रभावकारी हैं, जब वह मानता है कि विपत्ति का सहर्ष आलिगन, आर्त्त-त्राण में सजगता, विभीषिकाओं को हसकर झेलना, विपन्न, धर्म और देश के लिए प्राणदान करना क्षत्रिय का पुनीत धर्म है[3] । पर्णदत्त की महत्वाकाक्षा है -- सस्कृति में निर्दिष्ट क्षात्र-धर्म का अनुपालन करते हुए प्राणोत्सर्ग[4] । यह क्षत्रिय-सस्कृति के निर्देश के अनुरूप ही है कि क्षत्रिय कुमार विरुद्धक अपनी आजीविका के लिए मृगया और बाहुबल को सहज और श्रेष्ठ मानता है[5] । चन्द्रगुप्त ने भी सस्कृति के इसी स्वर को सराहा और स्वीकारा है[6] । पुलकेशिन ने युद्ध को क्षात्र-धर्म की अग्नि-परीक्षा का अनिवार्य तत्व माना है[7] । क्षत्रियत्व की सार्थकता और राजपद की उपयुक्तता प्रजा-रक्षण और धर्म पालन की क्षमता के प्रदर्शन में ही मानी जा सकती है[8] । प्रसाद ने चाणक्य के स्वर में क्षत्रिय सस्कृति में निर्दिष्ट क्षात्र-धर्म की उद्घोषणा भी करवायी है -- क्षत्रिय के शस्त्र-धारण करने पर आर्तवाणी नहीं सुनायी पडनी चाहिए[9] । प्रसाद की क्षत्राणियों की चिर-सगिनी खड्ग लता होती है, जिन्हें वे आजीवन हृदय से स्नेहपूर्वक लगाये रहती हैं । विजय क्षत्राणियों को आग की चिनगारी और ज्वालामुखी की सुन्दर लपट मानती है[10] । यह सस्कृति का प्रभाव भी है कि क्षत्राणी युद्ध के सदेश को सर्वाधिक सुखद और शुभ सदेश के रूप में स्वीकारती है । क्षत्रिय-सस्कृति और मनुस्मृति के निर्देश के अनुसार किसी भी परिस्थिति में क्षत्रिय के लिए भिक्षा-वृत्ति ग्रहणीय नहीं है, आपत्काल में भी नहीं । विशेष परिस्थिति में वह वैश्य-वृत्ति भले ही अपना सकता है । प्रसाद जी ने भी सस्कृति का अनुसरण करते हुए अपने नाटकों में इसका चित्रण किया

---

1 लोक सरक्षण दक्ष शूरोदात. पराक्रमी दुष्ट निगह शीलेय, स वै क्षत्रि उच्यते-शुक्रनीति 1/41 ।
2 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 1/47-48 ।
3 वही, पृष्ठ 2/72 ।
4 वही, पृष्ठ 1/9 ।
5 अजातशत्रु, पृष्ठ 2/70 ।
6 चद्रगुप्त, पृष्ठ 1/130, 4/236 ।
7 राज्यश्री, पृष्ठ 3/58 ।
8 स्कदगुप्त, पृष्ठ 4/122 ।
9 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 1/97 ।
10 स्कंदगुप्त, पृष्ठ 1/46-47 ।

है[1] । वे भी किसी परिस्थिति में भी भिक्षा-वृत्ति को क्षत्रिय का आपत्कर्म नही मानते, यद्यपि अत्यत विवशता वश दुर्दशा की स्थिति में वीरों की सेवा के लिए पर्णदत्त को भिक्षा-वृत्ति अपनानी पडती है, किन्तु वह उस कर्म को सयम पाप की सज्ञा देता है -- 'मै क्षत्रिय हूँ । मेरा यह पाप ही आपत्धर्म होगा[2] ।

तत्कालीन सस्कृति में 'वृषण' शब्द शूद्रों या शूद्रवत् आचरण और सस्कार से युक्त व्यक्तियों का पर्याय था । कतिपय कारणवश 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त को वृषल माना गया है । इसी कारण इतिहासकारों ने उसे मुरा दासी (शूद्रा) से उत्पन्न शूद्र-सन्तान माना है, किन्तु प्रसाद जी ने तत्कालीन धर्म और सस्कृति की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि पिप्पली कानन के मौर्य शुद्ध क्षत्रिय थे । बौद्ध-धर्म के प्रचार और प्रभाव के कारण उनके श्रोत सस्कार लुप्त हो गये थे । उनके जन्म, धर्म और सस्कृति में कहीं मिलावट और परिवर्तन नहीं हुआ था और न उनके क्षत्रिय होने में किसी सशय की सभावना थी[3] । यह प्रसादीय धारणा है कि आर्य सस्कृति में निर्दिष्ट क्रियाओं के लोप हो जाने से क्षत्रियों को वृषल माना जाता था । प्रसाद की यह अवधारणा शास्त्र-सम्मत है । मनुस्मृति की कुल्लूक भट्ट की टीका यह मानती है कि क्रियाओं के लोप से क्षत्रिय और अध्यापन-याजन और प्रायश्चितादि के अभाव में ब्राह्मण शूद्र की श्रेणी में आ जाते थे। मनु ने भी इस धारणा की पुष्टि की है कि क्रिया लोप से और ब्राह्मण के आदर्श न मानने से क्षत्रिय वृषल हो जाता है । पौंड्रक, चौड्र, द्रविड, कम्बोज, यवन, शक, पारद, किरात, दरद इत्यादि ऐसे ही वृषलत्व प्राप्त क्षत्रिय थे[4] ।

वैश्य और शूद्र की सस्कृति एव गुण-धर्म सम्बन्धी विचार प्रसाद जी के नाटकों में नहीं मिलते । यत्र-तत्र प्राप्त सकेतों के आधार पर यह धारणा पुष्ट होती है कि ब्राह्मण एक सार्वभौम व्यक्तित्व था । वैश्य उसके पोषक थे और शूद्र सेवक, क्षत्रिय आज्ञानुपालक और रक्षक । चाणक्य के कथन से यह पुष्ट होता है[5] । अर्थ, सम्पन्नता वैश्यों (वणिकवर्ग) को ही प्राप्त थी । इसी कारण उन्हें यह सम्बोधन किया जाता था । ऐसा नहीं था कि वे गुण, धर्म, विद्धत्ता या विशेष महत्व के कारण समाज में श्रेष्ठ थे[6] । स्कन्दगुप्त की विजया भी ऐसे ही वर्ग

---

1 राज्यश्री, पृष्ठ 1/23 ।

2 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 5/136 ।

3 चद्रगुप्त, पृष्ठ 1/96 ।

4 शनकेस्तु क्रियालोपादिभा क्षत्रियजातय । वृषलत्व गता लोके ब्राह्मणादशननेन च पौडकाश्चौन्ड, विडा, काम्बोजायवना. शका । परदापहलवाश्चीना किराता दरदा॰ खशाः । -मनु॰ 10/43-44 ।

5 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 1/98 ।

6 अजातशत्रु, पृष्ठ 1/71 ।

की कन्या है, जिसकी आखें स्वर्ण रत्न की चमक देखती और पहचानती है[1] ।

शूद्र, आर्य-सस्कृति के अनुसार सेवा-कार्य के लिए निहित थे । प्रसाद के नाटकों में विशेषत: 'चन्द्रगुप्त' में शूद्रों की हीनता वर्णित हुई है । सस्कृति और अद्वितीय प्रतिमा के पर्याय चाणक्य ने शूद्र नद के प्रतिहारी को 'शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते,[2] का सम्बोधन किया है और पर्वतेश्वर ने उसे शूद्र शासित राष्ट्र में रहनेवाला ब्राह्मण कहकर अपमानित किया है[3] । तेजोमय ब्राह्मण शूद्र द्वारा पददलित, निगड-बद्ध होने और क्षत्रिय द्वारा निर्वासन दण्ड पाने पर अपमान सहन न कर सकने के कारण अपनी ही ज्वाला में दग्ध हो जाता है[4] । इन बातों के अतिरिक्त प्रसाद के नाटकों में शूद्र की सस्कृति के बारे में कुछ विशेष प्रकाश नहीं मिलता, मात्र उनके कार्य और सेवा-भाव तथा उनकी हीनता के उल्लेख हैं । प्रसाद के नाटकों में शूद्रों के निर्दिष्ट कर्म मनुस्मृति समर्थित हैं । मनु ने स्पष्ट किया है कि शूद्र का एकमात्र कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा-शुश्रुषा करनी है[5] ।

सस्कृति के पोषक, प्रसाद ने चारों वर्णों के व्यक्तियों के चरित्र और जातिगत गुण पर पर्याप्त शर्करावेष्टित व्यग्य भी किया है । हालाकि ये व्यग्य अत्यत साहित्यिक गरिमा युक्त और तथ्यपूर्ण है । उनके ये शब्द 'अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, बनियों की दीवालों की चोट से गिर जाने में और शूद्रों की हम तीनों की ठोकरों से मुक्ति ही मुक्ति है । महादेवी तो क्षत्राणी है । सभवत: उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी[6] । प्रसाद ने ब्राह्मणों के कुछ और चारित्रिक गुणों के उल्लेख किये है । जैसे, उसका भोजन भट्ट (पेटू) होना[7] और बहुत क्रुद्ध हो जाने पर शाप देने को उद्यत होना[8] ।

जीवन की सम्पूर्ण अवधि को विभिन्न सस्कृति और समाज ने चार आश्रमों में विभाजित किया है । ये आश्रम उम्र यानि वय विशेष में किये जाने वाले विशेष कर्मों के आधार पर सुनिश्चित होते थे । प्रसाद के नाटकों में तत्कालीन समाज-व्यवस्था के वर्णन क्रम में इसके उल्लेख और संकेत प्राप्त होते हैं । गुरुकुल में विद्याध्ययन पूर्ण करने तक स्नातक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते थे और इसे ब्रह्मचर्याश्रम की सज्ञा दी जाती थी । प्रसाद के नाटकों में यह सकेत तो मिलता

---

1. स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 1/46 ।
2 चद्रगुप्त, पृष्ठ 1/81 ।
3 वही, पृष्ठ 1/97 ।
4. वही, पृष्ठ 1/97 ।
5. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु· कर्म सामदिशत् ।
   एते षामेक वर्णाना शुश्रुशामनसूयया । -मनु० 1/91 ।
6 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 2/61 ।
7. अजातशत्रु, पृष्ठ 2/105 ।
8 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 3/99 ।

है कि स्नातक हो जाने पर ही गुरु की आज्ञा से शिष्य गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते थे । चाणक्य की यह उक्ति 'सौम्य । कुलपति ने मुझे गृहस्थ जीवन (गृहस्थाश्रम) में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी है'[1], किन्तु, ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि और वर्ष तथा गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने का सुनिश्चित काल प्रसाद जी के नाटकों से स्पष्ट नहीं होता । सम्भवतः नाटक में इसके लिए उन्हें उपयुक्त अवसर नहीं मिला । 'स्कन्दगुप्त' में मातृगुप्त के सवाद के क्रम में यह सत्य स्पष्ट होता है कि सच्चा और आदर्श गृहस्थ वह है जो सादा, स्वच्छ, पवित्र और उपकारी जीवन व्यतीत करता हो । गृहस्थाश्रम में दीन-दुखियों की सेवा, आवश्यकतानुसार उन्हें अन्न, द्रव्य, वस्त्र दान से सतुष्ट करना सद्गृहस्थ का परम कर्त्तव्य होता था। यद्यपि यह प्रसादीय अवधारणा तत्कालीन समाज के उच्चादर्शों का निर्धारण करती है । मातृगुप्त का कहना -- 'किसी आर्यसद्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आगन की भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी[2] । इसे सत्यापित करता है ।

तीसरा आश्रम वानप्रस्थ का है, जो गृहस्थाश्रम के समापन पर प्रारम्भ होता है । अजातशत्रु के बिम्बसार के कई सवादों से इस बात की पुष्टि होती है । विष वृक्ष रूपी विश्व से ऊबकर या राज्य और शासन से तृप्त हो व्यक्ति प्रकृति की शातिमय छाया में सुख की दो घडिया बिताना चाहता है । बिम्बसार ने भी इसी शुद्ध और सद्बुद्धि से प्रेरित हो राजमद से मुक्ति पाने के लिए वानप्रस्थाश्रम का वरण किया था । हालाकि इसकी प्रेरणा उसे गौतम से मिली थी[3] । छलना भी उत्पात और सघर्ष रोकने के लिए कुणीक का राज्याभिषेक यथा-शीघ्र करवाना चाहती है[4] । वासवी तो वैसे भी शान्तिप्रिया और शुद्ध, सरल मन-वचना है । एक अधिकारी व्यक्ति को राज्य या गृह-व्यवस्था का भार सौंपकर भीषण-भोग से विश्राम लेने का आनन्द अद्भुत होता है । वानप्रस्थाश्रम यही आनन्द उपलब्ध कराता है । मनु द्वारा समर्थित इस सामाजिक व्यवस्था में क्षत्रिय राजा योग्य उत्तराधिकारी को उत्तराधिकार देकर तपोवन चला जाता था[5] । प्रसाद के नाटकों में वानप्रस्थ का महत्व और उद्देश्य स्पष्ट है । जीवन की सारी क्रियाओं का अन्त केवल अनन्त विश्राम में है । इस बाह्य हलचल का उद्देश्य आतरिक शांति है, फिर जब उसके लिए व्याकुल पिपासा जग उठे तब कोई उसमें विलम्ब क्यों करे ? वानप्रस्थाश्रम की सही उपादेयता तभी है जब व्यक्ति त्याग की भावना से

---

1. चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 1/55 ।
2 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 4/118 ।
3 अजातशत्रु, पृष्ठ 1/37 ।
4. वही, पृष्ठ 1/34 ।
5 मनुस्मृति, पृष्ठ 6/2 ।

उद्‌बुद्ध हो मानापमान से परे हो जाता है । यानि वानप्रस्थाश्रम शाति का पर्याय है । मगध को एक सुव्यवस्थित राज्य और सुयोग्य चन्द्रगुप्त ऐसा राजा देकर, आक्रामकों की सारी योजनाए विफल कर चाणक्य का शातिमय जीवन बिताने हेतु वानप्रस्थ ग्रहण करने का उसका निश्चय अपूर्व त्याग का ज्वलन्त उदाहरण है[1] । यह प्रसाद की निजी कल्पना और उद्‌भावना है कि गुरुकुल से अध्ययन-पूर्ण करने पर सर्वश्रेष्ठ स्नातक की हैसियत से चाणक्य एक वर्ष तक उसी गुरुकुल के स्नातकों को अर्थशास्त्र पढाकर गुरु दक्षिणा से मुक्ति पाता है । यह भी इतिहास से क्षीण समर्थित प्रसादीय कल्पना ही है कि चाणक्य ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थ जीवन का मधुर-रस पिये बिना वानप्रस्थाश्रम अगीकारता है । प्रसाद के नाटक में स्कन्दगुप्त भी भटार्क को अपनी यह घोषणा सुनाता है कि 'पुरगुप्त को सिहासन देकर मैं वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करूगा[2] ।' प्रसाद के नाटक के कुछ उपर्युक्त सदर्भ ब्रह्मयर्च और वानप्रस्थाश्रम की महत्ता पर विशेष बल डालते हैं । प्रसाद के दो आदर्श चरित्र और व्यक्तित्व आजीवन सेवा, त्याग और बल डालते हैं । प्रसाद के दो आदर्श चरित्र और व्यक्तित्व आजीवन सेवा, त्याग और कौमार्य व्रत का पालन कर अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । वे हैं-स्कन्दगुप्त और चाणक्य । लगता है, प्रसाद इन्हें सस्कृति का पर्याय बनाना चाहते थे ।

प्रसाद के नाटकों में चौथे आश्रम यानि सन्यास आश्रम का बहुत अधिक वर्णन उल्लेख नहीं मिलता । यत्र-तत्र काषाय-ग्रहण करने-कराने के सकेत भर मिलते हैं । सभवतः यही प्रसाद जी का सन्यास धर्म रहा होगा, क्योंकि उससे प्रकारान्तर से सन्यास की ही ध्वनि निकलती है । बौद्ध-भिक्षुओं के संदर्भ में 'काषाय ग्रहण' का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर हुआ है । ब्राह्मण चाणक्य द्वारा भी काषाय-ग्रहण करने का निर्देश चन्द्रगुप्त मौर्य के पिता को दिया गया है । उसका भी सदर्भ यही है कि वह अपने अभिमान के समापन के लिए, मिथ्या गर्व के दमन के लिए काषाय-ग्रहण करें । हालांकि 'चन्द्रगुप्त नाटक की समाप्ति पर चाणक्य भी मौर्य के कधे पर हाथ रखकर उसकी संन्यास-यात्रा में साथ देता है । सन्यास के संदर्भ में प्रसाद जी ने 'वैखानस' शब्द का भी प्रयोग किया है । बौद्ध-सस्कृति के अनुसार अहकार और विकार के त्याग हेतु काषाय-ग्रहण करने का विधान है । महत्वपूर्ण कार्य-सम्पादन के बाद, राजा हो या गृहस्थ, सबके लिए जीवन के कोलाहल से दूर रहने में ही जीवन की सार्थकता और आनन्द की प्राप्ति सभव है । प्रसाद के कुछ नाटकों में, जैसे स्कन्दगुप्त, राज्यश्री, अजातशत्रु इत्यादि में सन्यास जैसी परिस्थितिया आयी है और बडे प्रभावशील रूप में । वस्तुतः, सस्कृति में वर्षा और आश्रम की व्यवस्था तत्कालीन समाज के

---

1. चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 4/250 ।
2. स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 5/144 ।

श्रम-विभाजन, विभिन्न कार्य-सम्पादन एव लक्ष्य और उत्तरदायित्व निर्धारण के लिए होती थी । हर समाज की व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था कर्मणा समर्थित है । जीवन के चार लक्ष्य-अर्थ, धर्म काम और मोक्ष-इन्हीं चारों आश्रमों में समाहित हैं । ब्रह्मचर्य अध्ययन, चिन्तन, मनन, शिक्षा और साधना के लिए है । यानि यह आश्रम ज्ञान, विज्ञान और शास्त्र में मानसिक एव शस्त्र, शक्ति में शारीरिक परिपक्वता प्राप्त करने का काल है । गृहस्थाश्रम उस प्राप्त ज्ञान के समुचित सदुपयोग, समाज सेवा, अतिथि-सत्कार ओर सृष्टि के विकास के लिए है । मात्र 'काम' जीवन को खडहर और जर्जर बनाने के लिए पर्याप्त है । वानप्रस्थाश्रम शिक्षा और सदेश देने के लिए है कि किस प्रकार हम कीचड से उत्पन्न होकर भी कमलवत् आकाश के सूर्य और चन्द्र से अनुराग रखें । यानि जीवन में रहकर भी जीवन के चकाचौंध और रगीनियों से निर्लिप्त रहें । सन्यास आश्रम जीवन के समस्त कर्मों के सम्पादन के बाद का वह विराम है, जहाँ रुक-रुक कर हम उनका आकलन, विश्लेषण और लोक मागलिकता के हेतु प्रयत्न करते हैं । गुरुकुल में शिक्षा-समापन पर हुए 'समावर्त्तन सस्कार[1]' के समय गुरु जीवन में प्रवेश करते शिष्यों को सविस्तार ये कर्म निर्देश देते हैं । तत्कालीन समाज और सस्कृति ने इसे जिस रूप में स्वीकारा था, आज कल्पना के विषय है । प्रसाद के नाटक इन सारी स्थितियों के जीवन्त उदाहरण हैं । समस्त प्रसाद नाटक उस सस्कृति को दुहराता है, जहॉ यह माना गया है-

सर्वेपि सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्[2] ।

जिस प्रकार स्वस्थ आहार पर शुद्ध, स्वस्थ मानस और शरीर निर्भर है, उसी प्रकार शुद्ध कर्मों पर शुद्ध, स्वस्थ सस्कार एवं चारित्रिक गुण निर्भर करते हैं । अध्ययन-अध्यापन के व्यापार के ही कारण ब्राह्मण त्यागमयता और सहनशीलता जैसी विभूति का अधिकारी बन चुका था । सहनशीलता तपोधन और उत्तम ब्राह्मण का लक्षण है[3] । मायास्तूपों को ठुकराकर वह प्रकृति के लिए ज्ञान-दान करता है[4] । वह लोहे और सोने के सामने झुकना नहीं जानता, मात्र शास्त्र-प्रणयन नहीं, बल्कि राजनीति, अर्थनीति, और दण्डनीति का भी व्यवस्थापन करता है । राजन्य शौर्य-सस्कृति से पूर्ण मनुष्य का मूर्धाभिषेक से लेकर, पात्र देखकर उनके सस्कार का नियमन तक ब्राह्मण के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है ।

वीरतापूर्ण कार्य और राज्याधिकार क्षत्रियों के लिए सुनिश्चित थे । आर्य

---

1. जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ 62 ।
2 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 119 ।
3 जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ 106 ।
4. चद्रगुप्त, पृष्ठ 256 ।

सस्कृति के अनुसार क्षत्रिय अपने भुजबल से राज्य-उपार्जन और उसका विस्तार करते थे । यानि रगीनियों और भोग-विलास से अलग वे हाथ में शस्त्र और शरीर पर लौह आवरण धारणकर राष्ट्र, स्त्री, ब्राह्मण, पीडित और अनाथों की रक्षा में प्राणोत्सर्ग करते थे[1] ।

उपासना और रक्षा में लीन ब्राह्मण एव क्षत्रिय की क्षुधा-तृप्ति एव भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था का भार महाजनों, वणिकों एव श्रेष्ठियों को सौंपा गया था । वह उसका निजी कार्य-क्षेत्र था । क्षुधा-तृप्ति के बाद ही ब्राह्मण, क्षत्रिय अपने-अपने कर्त्तव्य पर अडिग रह सकते थे । बुधिक्षत कोई काम कर नहीं सकता । इस प्रकार वैश्य समाज का उपकारक वर्ग था, जिन्हें महाजन या श्रेष्ठि के सम्बोधन देकर उचित सम्मान दिया गया था । वे अन्न-धन के व्यापारी थे ।

शूद्र समाज के तीनों वर्णों की सेवा हेतु-नियत थे । उन तीनों वर्णों के आदेश और इशारे पर चलने वाला वर्ण सेवा और कर्त्तव्य निष्ठता का ज्वलन्त उदाहरण और अद्वितीय प्रतीक था । वे किसी बुद्धिशील और महान कार्य के सम्पादन की क्षमता से सर्वथा हीन होते थे । चन्द्रगुप्त का नद इसका ज्वलन्त उदाहरण है, जो न ब्राह्मण की प्रतिभा पहचानता है न क्षत्रिय की शक्ति । अधिकार पाकर वह विध्वस ही करता है, निर्माण नहीं ।

प्रसाद के नाटकों में मानव-दर्शन और दृष्टि बहुत स्पष्ट है । करुणा, दया, शील, सौजन्य से युक्त पात्र ही सस्कृति के अनुदेशों का पालन कर सकता है, घृणा और क्रूरता से युक्त हिसक पशु-समान व्यक्ति कदापि नहीं । प्रसाद के नाटक में हमें इसके दर्शन होते हैं कि करुणा, उपकार, संवेदना, पवित्रता मानव-हृदय के लिए निर्मित हैं । ये देवता के नहीं, मनुष्य के कर्त्तव्य हैं[2] । प्रतिहिसा जैसी पाशववृत्ति हमारे निर्माण की शक्ति क्षीण कर देती है । सस्कृति के अनुसार पाप का विरोध और परोपकार करने में प्राण तक दे देने का साहस किसी भाग्यवान को ही होता है[3] । परोपकारिता, सेवा परायणता, शरणागत रक्षा, क्षमाशीलता आर्य संस्कृति के अनन्य गुण रहे हैं । समस्त विश्व को आर्यों ने अपना कुटुम्ब स्वीकारा है[4] । पराजितों को शरणागत और सम्मान दिया है । दूसरी ओर हतवीर्य और कायर की तरह दया की भीख मांगने का आचरण सस्कृति कभी नहीं सिखाती । हम स्नेह और सौहार्द में जितने मसृण है, कर्त्तव्य में कुलिश सदृश उतने ही कठोर। एक रोते हृदय को प्रफुल्लित कर देने में संस्कृति सैकड़ों स्वर्ग के सुख का विधान बताती है । संस्कृति मित्र के लिए स्नेहिल, श्रद्धेय और आश्रितों के लिए उदार

---

1 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 45 ।

2 विशाख, पृष्ठ 180 ।

3. अजातशत्रु, पृष्ठ 123 ।

4. वही, पृष्ठ 90 ।

और शत्रुओं के लिए वज्र बनने का निर्देश देती है[1] । प्रसाद के नाटक में ऐसे स्थल अनेक है । क्षमा एक ऐसा अस्त्र है, जिससे बडा-से-बडा अपराध-परिमार्जन सभव है । शस्त्र राष्ट्र जीतता है और क्षमा हृदय । इसके माध्यम से हम बडे-से-बडे निकृष्ट को अनुगामी और अनुवर्ती बना सकते हैं । वैसे भी क्षमा मानवीय गुण है और क्रोध, घृणा एव प्रतिशोध पाशविक । हम जिसे क्षमा करते हैं, वह ग्लानि की अग्नि में जलकर पूर्णतः शुद्ध बन जाता है । क्षमा वीर और समर्थ ही कर सकते हैं, कायर, क्लीव नहीं । प्रसाद स्पष्ट कहते हैं --'मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ । तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकडों बिच्छुओं के डक की चोट करेंगे । आजीवन तुम उसी यन्त्रणा को भोगो । क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है। -- प्रतिहिसा पाशव धर्म है[2] । भारत आये यवन द्वारा विजीत पौरव को प्राण-दान देने की कृतज्ञता भारतीय मालव वीर सिहरण पराजित सिकदर को प्राणदान देकर व्यक्त करता है । सिकन्दर के प्राण लेने को उतारू सैनिकों को रोककर सिहरण कहता है -- 'ठहरो ! मालव वीरों । यह एक प्रतिशोध है । यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है[3] ।' इस देश में कृतज्ञता पुरुषत्व का चिह्न है । जननी और जन्म भूमि की सेवा और रक्षा प्राणपन से करना हमारा संस्कृति द्वारा निर्दिष्ट धर्म है ।

यह हमारी आर्य-सस्कृति की उच्चता का द्योतक है कि ग्रीक बालिका कार्नेलिया सिन्धु-तट पर स्वर्ग के सुख का अनुभव करती हुई भारत-भक्ति में विभोर हो जाती है[4] । यह आर्य संस्कृति के सामने पराजित सिकदर की आत्मा का ही स्वर है -- 'दाण्ड्यायन को देखो न ! थोडा ठहरो ! यहॉं के वीरों का भी परिचय मिल जाएगा । यह अद्‌भुत देश है[5] ।' स्पष्टवादिता एक अदभुत चारित्रिक गुण और सस्कृति प्रदत्त शक्ति है । शत्रु के शिविर में सिकदर के समक्ष चन्द्रगुप्त का यह कहना -- 'मुझे लोभ से पराभूत गान्धार-राज आम्भीक समझने की भूल नहीं होनी चाहिए, मैं मगध का उद्धार करना चाहता हू, परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं । -- लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को एकत्र करके उन्हें वीर सेना कहना, रण-कला का उपहास करना है[6] । आर्य सस्कृति की कर्मशीलता चाणक्य के स्वर में मुखरित हुई है, जो सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों । उसके पास पाणिनि में सिर खपाने का समय नहीं । भाषा के ठीक

---

1 जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ 65 ।
2 स्कन्दगुप्त, पृष्ठ 78-79 ।
3. चद्रगुप्त, पृष्ठ 2/37 ।
4 वही, पृष्ठ 100 ।
5 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 103 ।
6 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 105 ।

करने से पहले वह मनुष्यों को ठीक करने का सकल्प रखता है[1] । शिष्य चन्द्रगुप्त से कहीं अधिक स्पष्टवादिता गुरु चाणक्य में है, जब वह वररुचि को स्पष्टत· कहता है -- 'मै कुत्ता, साधारण युवक और इन्द्र को कभी एक सूत्र में नहीं बाध सकता, कुत्ता कुत्ता ही रहेगा, इन्द्र इन्द्र . नीचों के हाथ में इन्द्र का अधिकार जाने से जो सुख होता है, उसे मै भोग रहा हूँ ।' ये व्यग्य-वाण वररुचि और नद को लक्ष्य कर कहे गये हैं ।

आर्य सस्कृति में अनेक सस्कारों का विधान है । जन्म से लेकर मरण तक विभिन्न सस्कार--मुडन, यज्ञोपवीत, शिक्षारभ, विवाह, राज्याभिषेक, इत्यादि--हमारे जीवन से सपृक्त हैं । अन्य बातों के अतिरिक्त प्रसाद के नाटकों में प्रणय और विवाह के वर्णन के अनेक चित्र मिलते हैं । यह और बात है कि उनकी मान्यताए परम्परागत मान्यताओं से अलग दिशा रखती हैं । प्रणय के सबध में उनके पात्रों को पर्याप्त स्वतत्रता प्राप्त है । जो स्वतत्रता उन्होंने अपने पात्रों को दे रखी है, वह प्राचीन सस्कृति, भारतीय समाज में दुर्लभ है । इनके नारी पात्र प्रणय के क्षेत्र में आत्मा की आंखों से देखती हैं, बाहर की आखों से नहीं । मनुस्मृति में निर्देश मिलता है कि-बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि दोषिता, न स्वातत्रेण कर्त्तव्य चित्कार्यम् गृहष्वपि । बाल्ये पितुवशे तिष्ठेत्, यौवने भर्तरि, पैतने भवेत् स्त्री स्वतंत्रताम्[2] । प्रसाद के नारी पात्र इन लक्ष्मण रेखाओं से बाहर हैं । प्रसाद के नाटकों में प्रेम के जिस स्वरूप का चित्रण हुआ है, वह प्रसादीय स्वच्छन्द दर्शन हैं; प्राचीन भारतीय समाज और सस्कृति के सिद्धान्तों से सर्वथा पृथक् । वैसे संस्कृत साहित्य के अद्धितीय साधक कालिदास के साहित्य में भी उन्मुक्त और उद्दाम प्रणय-निरूपण है । उनमें सस्कृत के प्राचीन कवियों द्वारा प्रस्तुत मान्यताओं और श्रृगार-योजना का अत्यन्त सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है । वैसे यह स्पष्ट आभासित होता है कि प्राचीन समाज में अपेक्षा कृत अधिक स्वतंत्रता थी, किन्तु वहा भी दो स्वरूप थे । एक काव्य-ग्रन्थ थे, जिनमें कवि सीमाओं-बन्धनों से घिरी पृथ्वी का त्याग कर उन्मुक्त व्योम में कल्पना के यान पर विचरण करता था, इसीलिये उसके काव्य में काल्पनिक प्रणय-प्रसंग अधिक मिलते थे । दूसरे ऐतिहासिक, पौराणिक घटनाओं एवं दन्तकथाओं पर आधारित प्रणय-प्रसग । इनसे प्राप्त प्रणय-स्वरूप में उन्मुक्तता की सीमा उससे कम थी । प्रसाद के नाटक के पात्र उदयन के कथास्रोत कथा सरितसागर भासकृत प्रतिज्ञायोंगधरायण एव हर्ष की रत्नावली में प्राप्त होते हैं । दोनों सस्कृत नाटकों में उसके ऐतिहासिक चरित्र से अधिक उसके प्रणय-व्यापार उभरे हैं । वर्णन क्रम में नाटककार अपने धीरोदात्त नायक के सम्मान की रक्षा करना भूल जाते हैं । सस्कृत के अन्य अनेक नाटककार

---

2 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 84 ।

3 मनुस्मृति, 5/47-48 ।

एव कालिदास भी इसी लकीर पर चले हैं । विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्त' में तत्कालीन इतिहास और समाज में निर्दिष्ट सीमाओं के अनुपम प्रणय और श्रृगार के सयत-वर्णन मिलते हैं । प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक में उन्मुक्त प्रणय-वर्णन के कारण प्राचीन भारतीय समाज, सस्कृति और इतिहास की सीमाए टूटने से उनके स्वरूप कई जगह बदल गये हैं । प्रसाद के नाटकों में मुख्यत: प्रणय के दो स्वरूप उभरे हैं । एक उन्मुक्त प्रेम का, जहॉ जाति, वर्ग, देश, काल की कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं होती । उदाहरणार्थ-स्कन्दगुप्त की विजया । यह श्रेष्ठि कन्या कभी भटार्क से प्रेम करती है, कभी पुरगुप्त और स्कन्द से[1] । मालव राज देवगुप्त सुरमा मालिन के प्रति आसक्त है --- बिना किसी सकोच, उलझन के[2] । महारानी राज्यश्री पर शान्ति-भिक्षु की प्रणय-दृष्टि भी कम प्रखर और उन्मुक्तता का परिचायक नहीं है[3] । यवन सेनापति सेल्यूकस की बेटी कार्नेलिया देश, धर्म, सस्कृति की सारी सीमाओं को भूल कर चन्द्रगुप्त मौर्य से प्रेम करती है । वह अपने इस प्रणय को अपनी क्रियाओं और व्यवहार तथा अपने पिता के समक्ष चद्रगुप्त के प्रति सहानुभूति पूर्ण उद्गार व्यक्त कर प्रदर्शित करती है । वैसे अपने चारित्रिक उत्कर्ष, शौर्य और प्रभुता के कारण चन्द्रगुप्त अन्य कई प्रेम-पात्रियों का प्रेमाधार बना है । सिन्धु देश की कोमल कंठ स्वर वाली अत्यन्त साधारण कन्या मालविका का उसके प्रति प्रेम कम प्रगाढ और उन्मुक्त नहीं है[4] । कल्याणी भी अन्दर-अन्दर चन्द्रगुप्त के प्रति आसक्त थी[5] । 'चन्द्रगुप्त मौर्य' का चाणक्य भी सुवासिनी बालसखा है तथा शैशव काल से ही दोनों एक दूसरे के प्रति समर्पित भाव की त्यागमयी मूर्ति हैं । यद्यपि प्रसाद ने उसके पद, उसकी मर्यादा, उसकी प्रतिभा और उसके उत्तरदायित्वों के कारण उसे बहकने नहीं दिया है । मात्र बाल्यकाल की स्मृतियों के रूप में वह एकाध बार उसे याद कर लेता है कि सुवासिनी उसके हृदय-स्थल में बसी एक मनोरम उपत्यका की भाति थी । राक्षस के साथ उसके प्रणय-व्यापार की जानकारी पर सुवासिनी पर अत्यंत कडा व्यंग्य इसी शालीन प्रतिशोध का परिणाम है --- 'वेश्याओं के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा ही हुआ[6] । प्रसाद के नाटकों में वर्णित कुछ अन्य स्वरूप वाले प्रेम भी कम प्रच्छन्न और उन्मुक्त नहीं हैं, किन्तु अन्तर इतना ही है कि वे समान, वश, वर्ग, शील और स्थिति के हैं । ये प्रणय-सबंध अत्यत शुद्ध और उदात्त हैं और उनकी परिणति विवाह में हुई है । इसी कारण इनमें शील

---

1. स्कन्दगुप्त, 2/51, 2/75, 3/94 ।
2 राज्यश्री, 1/22 ।
3. वही, 1/24 ।
4. चन्द्रगुप्त, 4/207 ।
5. वही, पृष्ठ 72 ।
6 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 67 ।

और मर्यादा का भग नहीं हुआ है । पहले स्वरूप का प्रणय-व्यापार विवाह की मर्यादा में नहीं बधने के कारण उतना आदर्श, अनुकरणीय और सामाजिक नहीं लगता। दूसरे स्वरूप के प्रेम के उदाहरण है -- बाजिरा और अजातशत्रु[1] । अलका और सिहरण[2], स्कन्द-देवसेना[3], कार्नेलिया और चद्रगुप्त[4] । इस प्रकार के प्रणय-वर्णन द्वारा सस्कृति के आदर्श ही निर्वहित होते हैं और स्वतः नैतिकता, सामाजिकता चली जाती है तथा ऐतिहासिक सभावनाए अनायास बहुत बढ जाती है ।

ऊपर वर्णित दोनों प्रकार के प्रणय का प्रसाद-साहित्य में प्रचुरता और प्राबल्य है । इसमें दोनों ओर से प्रणय के प्रथम प्रयत्न वर्णित हुए हैं- कभी स्त्री की ओर से और कभी पुरुष की ओर से । तत्कालीन सस्कृति के चित्र प्रस्तुत करते हुए प्रसाद यह आभास देते हैं कि तत्कालीन समाज में प्रणय की उन्मुक्तता और विवाह के पूर्व प्रणय की छूट के विधान थे । प्रसाद के नाटकों की ये पात्रिया--कोमा, विजया, कल्याणी, सुवासिनी और वाजिरा-प्रेम प्रयत्न अपनी ओर से प्रारभ करती हैं । इनके अतिरिक्त मालविका, अलका, कार्नेलिया, ध्रुवस्वामिनी, देवसेना और सुरमा के प्रणय पारस्परिक, नैकट्य के कारण क्रमशः विकसित हुए हैं । पुरुष भी इनमें सक्रिय और मुखर हैं । प्रसाद के नाटक इस बात के स्पष्ट और स्वस्थ सकेत देते हैं कि तत्कालीन सस्कृति में विवाह के पूर्व उन्मुक्त प्रेम-सबन्ध की स्वतत्रता तो थी ही, जाति, वश, गोत्र, देश-काल की सीमाए भी बहुत क्षीण या नगण्य थीं। चाहे दासी हो या मालिन, राजमत्री की पुत्री हो या राजकुमारी स्वेच्छा से उन्हें प्रेमाश्रय खोजने में समाज अवरोधक नहीं होता था । हर पूर्व प्रणय के परिणाम परिणय नहीं होते थे । कभी तो ये प्रणय-सबन्ध कली रूप में ही कुम्हला जाते थे कभी पुष्पित होते और कभी अपनी सुरभि और फल विकीर्ण करते थे । प्रसाद के नाटकों में प्रणय के सुनिश्चित आधार और स्वरूप नहीं मिलते । कभी तो प्रथम दर्शन में ही उनके स्त्री-पुरुष पात्रों के प्रणय प्रगाढ़ हो जाते थे और कभी बाल्यावस्था की स्मृतिया प्रस्फुटित होकर प्रगाढ़ प्रणय का रूप ले लेती थीं । कहीं पुरुष पात्र की प्रतिभा, शौर्य, पराक्रम और सद्गुण तथा नारी का सौन्दर्य एवं कलाशीलता प्रणयाधार होते थे । अलका प्रथम परिचय में ही सिहरण के प्रति समर्पित हो जाती हैं, विजया की भी यही स्थिति है । कोमा और शकराज, सुवासिनी और विष्णुगुप्त, कल्याणी और चन्द्रगुप्त पूर्व परिचय के आधार पर निकट आते हैं । हालाकि ये प्रणय पुष्पित-पल्लवित नहीं हो पाते । देवसेना का स्कन्दगुप्त

---

1 अजातशत्रु, 3/114 ।
2 चन्द्रगुप्त, 2/159 ।
3 स्कन्दगुप्त, 3/97 ।
4 चन्द्रगुप्त, 4/282 ।

से और कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त से प्रेम, कला प्रेम और सौन्दर्य के आधार पर हुआ है और इनके परिणाम हुए हैं--सुखद परिणय संबन्ध । वाजिरा और सुवासिनी के प्रेम भी सौन्दर्य और कलाद्भुत ही है । शास्त्र भी प्रथम प्रणय को समर्थन और सम्पुष्टि ही प्रदान करता है । यह स्पष्ट है कि यदि मन और चक्षु परस्पर आबद्ध हो जायें तो विवाह कर लेना वरेण्य और श्रेयस्कर है[1] । यस्या मनः चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धि नेतरामा द्रियेतेत्येके । यह सूत्र स्पष्ट करता है कि पूर्वराग और प्रथम प्रणय को नैतिकता और सामाजिक स्वीकृति प्रदान करने के लिए विवाह एक अपेक्षित प्रक्रिया है । वैसे इतिहास जातक ग्रन्थ, काव्य-ग्रन्थ, प्राचीन सस्कृत नाटक, प्राचीन भारतीय सस्कृति इस बात के प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि नारी-पुरुष का सहज स्वाभाविक प्रेम और माधुर्य एक नैसर्गिक और सर्वकालिक वस्तु है । विवाह के सबन्ध में प्रसाद की कुछ निजी धारणाए अत्यन्त सशक्त और स्पृहणीय हैं--'वस्तुतः स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वास-पूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग ही विवाह कहा जाता है । यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल हैं[2] । अपने काव्य में भी प्रसाद विवाह को मानव जीवन की अनिवार्यता स्वीकारते हैं, जिसके बिना गृहस्थी अपूर्ण है[3] । ध्रुवस्वामिनी अपने जीवन के कटु अनुभवों के आधार पर यह घोषणा करती है कि विवाह के समय पुरुष स्त्री को आजीवन भरण-पोषण, सुख-दुःख में सहयोग के संकल्प करता है, जहाँ ऐसा नहीं होता, वह धर्म-विवाह नहीं रह जाता[4] । पत्नी के लिये 'धर्मपत्नी' और 'सहधर्मचर्या[5]' शब्द उसके गुण-धर्म के आधार पर ही दिये गये हैं । मनुस्मृति के ये शब्द--'सहो मोचरताम् धर्ममिति वाचानुमाष्यच्[6] । आर्य सस्कृति और शास्त्र स्पष्ट घोषणा करते हैं कि विवाह सृष्टि के विस्तार, परम्परा-निर्वाह और वश-वृद्धि हेतु नियोजित हैं।

सस्कृतियों के कालक्रम के इतिहास का अवलोकन पर यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में विवाह-पद्धति अपेक्षाकृत सरल थी । स्मृतियों के काल में ये कुछ जटिल भी हुई और इनके कई प्रकार बने । प्रसाद के नाटकों में कई प्रकार के प्रेम के साथ-साथ कई प्रकार के विवाह भी वर्णित हैं । देव-विवाह, वह विवाह है, जिसे सहजता से लैकिक-सामाजिक स्वीकृति मिल जाय । यानि ये विवाह दोनों की सहमति, स्वीकृति और सामाजिक प्रतिरोध के बिना सपन्न होता है । प्रसाद ने राक्षस विवाह का भी उल्लेख किया है । इस विवाह में कन्या

1 आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, 1/3, 20 ।
2. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 52 ।
3 कामना, पृष्ठ 10 ।
4 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 70-73 ।
5. कौटिल्य अर्थशास्त्र-2/3 ।
6 मनुस्मृति-3/30 ।

बलपूर्वक विजय के परिणाम स्वरूप लायी जाती है । तदनन्तर पुरोहितों द्वारा मत्र पढाकर उसे शास्त्र-समर्थित करने का स्वाग रचा जाता है[1] । ध्रुवस्वामिनी इसी अभिशाप की सिसकती प्रतिमूर्ति है । मनुस्मृति के निकष[2] पर ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त का विवाह, राक्षस-विवाह नहीं सिद्ध होता । राक्षस विवाह जैसे सामासिक शब्द का उल्लेख करते हुए प्रसाद जी को वैवाहिक नियमों का विस्मरण हो गया है, ऐसा नहीं माना जा सकता । इन दो शब्दों के द्वारा एक स्वाभाविकता की सृष्टि हुई है । मनोवैज्ञानिक सत्य है कि क्रोध से अभिभूत मानव विवेक-शून्य हो जाता है । अत्यत आह्लादिकता के क्षण भी जैसे आखों में ऑसू ला देते हैं, वैसे ही शकराज पर विजय की इस घडी में ध्रुवस्वामिनी को जब स्मरण होता है, कि रामगुप्त ने तो उसकी सुरक्षा से मुकर कर जैसे जीवन को नरक में ही ढकेल दिया था, तो अनायास वह रोषपूर्ण हो जाती है और तब डाटती हुई पुरोहित से इसकी शिकायत करती है कि उसने रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी का राक्षस-विवाह कराया है। यह राक्षस शब्द बलात् का द्योतक है, क्योंकि वह किसी और की वाग्दत्ता थी[3]। जिस विवाह में एक पक्ष की स्वीकृति न हो और जिसके दुष्परिणाम सभावित हों, ऐसे ही विवाहों के लिए राक्षस-विवाह जैसे उद्धरण प्रस्तुत किये गये । यह विवाह माता-पिता की स्वीकृति के प्रमाण से भी रहित है[4] । ऐसे विवाह के बारे में वात्स्यायन की धारणा है कि 'उद्यान, ग्राम या एकान्त स्थान में जाती हुई कन्या के रक्षकों की हत्या कर या आतकित कर उसका बलपूर्वक अपहरण राक्षस विवाह है[5] । प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी समुद्रगुप्त के दिक्विजय में उपहार स्वरूप प्राप्त वस्तु है, अपहृता नहीं । शास्त्रानुसार उसका विवाह भी कराया गया है । फिर भी अनिच्छा से प्रेरित इस विवाह को कुछेक ने राक्षस-विवाह माना है । वशिष्ठ[6] और बौधायन[7] बलात्कार की पीडिता कन्या को तबतक कुमारी मानते हैं, जब तक वैदिक मत्रोच्चार द्वारा उसका विवाह सम्पन्न नहीं हो जाता । देवल ने भी गान्धर्व, राक्षस, पैशाच -- सभी विवाहों को शास्त्र के मत्रों और अग्नि-साक्षी द्वारा समर्थित होना आवश्यक माना है । तदनंतर ही कन्या कुमारी नहीं रहकर पत्नी बन जाती है[8] ।

---

1 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 1/23, 24, 3/51 ।

2. मनुस्मृति-3/33, हत्वा, छित्वा च भित्वा च क्रोशिती रूदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरण राक्षसो विधिरुच्यते ।

3 ध्रुवस्वामिनी-3/55 ।

4. वही, 3/62 ।

5 कामसूत्र, 222 ।

6 वशिष्ठ, 17/73 । (अन्यस्मैविधि वद्धेया यथा कन्या तथैव सा) ।

7 बौधायन धर्मसूत्र, 4/1, 15 (बिलाच्येत प्रहलता कथा मत्र· यदि न संस्कृता) ।

8 मनुस्मृति, 8/226 ।

प्रसाद के नाटकों में विवाह की अन्य पद्धतियों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता । गन्धर्व और पैशाच विवाह के शास्त्रोक्त स्वरूपों के सकेत मात्र प्राप्त होते हैं । चन्द्रगुप्त का पर्वतेश्वर एकान्त पाकर कल्याणी के समक्ष प्रणय-निवेदन और भुजपाश में भर लेने का प्रयत्न करता है । क्रुद्ध कल्याणी उसका बध कर देती है । उसके ये स्वर-यह पशु मेरा अपमान करना चाहता था --- मुझे भ्रष्ट करके, अपनी सगिनी बनाकर पूरे मगध पर अधिकार करना चाहता था[1] । अपमान करने और भ्रष्ट करने जैसे शब्दों से कल्याणी की अनिच्छा स्पष्ट होती है । साथ ही यह भाव सकेतित होता हैं कि पर्वतेश्वर उस अरक्षिता पर बलपूर्वक अधिकार और विवाह करना चाहता था, जो पैशाच विवाह के लिए पर्याप्त प्रमाण है । वह पूर्णतया असहाय और बन्दिनी की स्थिति में होने के कारण[2] मात्र प्रतिकार कर सकती थी, जो उसने उग्ररूप में किया भी । प्रसाद के नाटकों में इन विवाहों के अतिरिक्त गान्धर्व-विवाह के भी सकेत प्राप्त होते हैं । मनु के अनुसार वर, कन्या दोनों की सहमति से होने वाला विवाह गान्धर्व-विवाह है, जो सर्वथा कामनानुकूल हो[3] । प्रसाद के नाटकों में गान्धर्व की सज्ञा देकर कोई विवाह नहीं कराया गया है, किन्तु उनकी प्रकृति, प्रवृत्ति और विधि उनसे पृथक् नहीं है । अजातशत्रु में अजात और वाजिरा का परस्पर माला और अगूठी पहनाना, प्रतिज्ञा और घोषणा करना गन्धर्व-विवाह के स्पष्ट प्रमाण हैं । वाजिरा कहती हैं --- तब प्राणनाथ मैं अपना सर्वस्व तुम्हें समर्पित करती हूँ । अजात का यह प्रत्युत्तर-प्रिये ! हम तुम अभिन्न हैं । यह जगली हिरण इस स्वर्गीय सगीत पर चौकडी भरना भूल गया है । अब यह तुम्हारे प्रेम पाश में पूर्णरूप से आबद्ध है[4] । वात्स्यायन बिना मा-बाप को सूचना दिये अभीष्ट कन्या और उसके नायक द्वारा किसी श्रोत्रिय के घर कुश-आसन पर बैठ अग्नि में आहुति और उसकी तीन बार परिक्रमा देकर सम्पन्न किये गये विवाह को गन्धर्व-विवाह मानते हैं[5] । प्रसाद ने अपनी मौलिक उद्‌भावना के कारण तीन अग्नि-परिक्रमाओं के बदले परस्पर माला-अगूठी पहना कर ही काम ले लिया है । इसमें आधुनिक सस्कार के भी प्रवेश मिलते हैं । चन्द्रगुप्त में अलका-सिहरण का परिणय एक विशेष प्रकार का है, जिसमें सहमति पिता से नहीं भाई से ली गयी है । सुवासिनी और राक्षस का उन्मुक्त प्रणय भी विवाह के लिये पिता की स्वीकृति चाहता है--'मैं तुम्हारा प्रणय अस्वीकार नहीं करती, किन्तु

---

1 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 4/176 ।

2 वही, पृष्ठ 4/194 ।

3 मनुस्मृति, 3/32, इच्छया-यौन सयोग कन्यायाश्च वरस्यच ।
गान्धर्व सतु वियोयो मैथुन्य काम सभवत ।

4 अजातशत्रु, 3/116 ।

5 वात्स्यायन कामसूत्र, 219-220 ।

अब इसका प्रस्ताव पिता जी से करो . .[1] । चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के प्रसग में भी सिल्यूकस द्वारा दोनों के हाथ मिलने मात्र से विवाह सम्पन्न कराया गया है[2] । यद्यपि यह पद्धति न तो ग्रीक सस्कृति में है, और न आर्य सस्कृति में है । यह प्रसादीय सस्कृति है, जिसमें ऐतिहासिक सभाव्यता को प्रश्रय मिला है । प्रसाद-साहित्य में सामाजिक मर्यादा, व्यक्ति की गरिमा एव आधुनिक सस्कारों का अपूर्व समायोजन हुआ है । वैसे ये विवाह मनु द्वारा अनुशासित विवाहों--आर्य, प्रजापत्य, देव, ब्राह्म इत्यादि की सीमा रेखा से बाहर नहीं हैं, क्योंकि इनमें न तो शक्ति-प्रयोग हुआ है और न अनिच्छा ही । इनमें गुरुजनों और अभिभावकों की पर्याप्त सहमति-स्वीकृति भी प्राप्त है । वैसे विवाह का एक और प्रकार प्रसाद के नाटकों में सकेतित होता है । सुरमा और देवगुप्त तथा मागधी और उदयन के प्रसग इसी प्रकार के सकेत हैं । यद्यपि प्रसाद ने इन विवाहों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है । बेमेल, विजातीय विवाह, जो कन्या के माता पिता को धन-वैभव देकर किया जाता है, शास्त्रानुसार आसुर विवाह है । उदयन राजा है और मागंधी एक दरिद्र कन्या[3] । उसी प्रकार देवगुप्त भी राजा है और सुरमा एक अति साधारण मालिन[4] ।

प्रसाद ने विवाह के सबध में अपने मौलिक सिद्धान्त भी बनाये हैं । इस कारण उनके कई विवाह सर्वथा स्वतत्र, शास्त्र-संस्कृति की रेखाओं से पृथक् लगते हैं । इसी कारण इसे प्रसादीय सस्कृति की संज्ञा देना अनुपयुक्त न होगा । 'स्कन्दगुप्त' में विजया द्वारा राजसभा में यह घोषणा--'मैंने भटार्क को वरण किया है[5] और 'राजा स्कन्दगुप्त द्वारा उसे सामाजिक स्वीकृति प्रदान करना सर्वथा विलक्षण और अद्भुत है । इस घोषणा के पहले भटार्क और विजया के प्रेमालाप के सकेत कहीं नहीं मिलते । यह घोषणा एकागी है और विजया वात्स्यायन के 'स्वय प्रार्थिता कन्या' की कोटि में चली आती है । यद्यपि विजया का यह प्रस्ताव प्रतिहिसा और आवेश जनित है । एकाध प्रसग को छोडकर प्रसाद के नाटकों के प्राय: सभी विवाहों के पूर्व प्रणय-प्रदर्शन हुए हैं । मात्र दो प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें प्रणय को महत्व नहीं दिया गया है । भटार्क-विजया और ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त के प्रसंग और उनकी असफलताएं इस बात के प्रमाण हैं कि प्रसाद विवाह से पूर्व प्रणय की महत्ता स्वीकारते थे, जिसके अभाव में विवाह की परिणति असफलता होती है । विवाह-सबन्ध की अतिम स्वीकृति या अस्वीकृति का दायित्व और अधिकार प्रसाद

---

1 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 178 ।

2 वही, 4/222 ।

3 अजातशत्रु, 1/44 ।

4 राज्यश्री, 1/22 ।

5 स्कदगुप्त, पृष्ठ 2/82 ।

जी ने अपनी स्त्री-पात्रों को दिया है । अलका पर्वतेश्वर और कार्नेलिया फिलिप्स के प्रस्ताव को अस्वीकृत करती हैं । इसमें प्राचीन आर्य सस्कृति के स्पष्ट सकेत मिलते हैं, जहाँ विवाह के पूर्वकन्या की सहमति मागी जाती रही थी या उसे ही स्वेच्छा से वरण का अधिकार दिया गया था । आर्य-सस्कृति के इस विश्वास कि जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवताओं का निवास होता है । --के आधार पर ही प्रसाद ने 'नारी को विश्वास रजत नग-पग-तल में, पीयूष स्रोत सी बहने वाली श्रद्धा की देवी, माना है । इसी आदर्श का निर्वाह करने के लिये कार्नेलिया के प्रेम-सबध को जानते हुए भी सिल्यूकस चन्द्रगुप्त से उसके विवाह के पूर्व साकेतिक स्वीकृति पा लेता है[1] ।

सस्कृति में निर्दिष्ट विभिन्न आश्रमों और कार्यों के लिए सुनिश्चित वय का भी प्रसाद के नाटकों में पर्याप्त अनुपालन हुआ है ।

आर्य-सस्कृति सर्वथा-सर्वदा समान कुल में विवाह की स्वीकृति देती है । प्रसाद के नाटकों में इसका अनुपालन किया गया है, किन्तु कई स्थानों पर ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि एव स्वीकृति के प्रतिकूल भी प्रसाद ने निजी मान्यताओं की स्थापना की है । एक ओर समान सामाजिक स्थिति और कुल के होने के कारण वाजिरा और अजातशत्रु का विवाह समान्य है । दूसरी ओर पचनद नरेश, पर्वतेश्वर अपने उच्च और लोक विश्रुत वश के कारण बौद्ध धर्मानुयायी शूद्र राजा नद की पुत्री कल्याणी से अपने परिणय की अस्वीकृति देते हैं[2] । पचनद नरेश द्वारा गाधार नरेश के पुत्र आभीक से अपनी पुत्री का विवाह नहीं करने में निर्णय के पीछे भी कुल गौरव और मर्यादा ही है, क्योंकि आभीक देश-द्रोही और कायर था । इस घटना की पुष्टि इतिहास भी करता है । कुल-गौरव के आधार पर पर्वतेश्वर की अस्वीकृति सस्कृति पोषित-समर्थित प्रसादीय कल्पना है, जो तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक स्थिति के कारण अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती । निम्न धर्मा शूद्र नद-वश की पुत्री से विवाह की अस्वीकृति इतिहास सम्मत भले न हो, शास्त्र[3] और सस्कृति समर्थित अवश्य है । इतिहास में अनेक प्रमाण हैं कि बौद्धकाल से हर्षकाल तक अनेक बेमेल विवाह हुए । प्रसाद के नाटकों में हीन कुल की कन्याओं -- मालिन, दासी-पुत्री, दरिद्र कन्या, अज्ञात कुलशीलवाली यवन कन्या से कुलीन राजाओं के विवाह के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त हैं । प्रसेनजित का दासी-पुत्री से विवाह कर उसे राजमहिषी का सा सम्मान देना[4], देवगुप्त का नीच कुलोत्पन्न मालिन कन्या सुरमा से विवाह[5], भटार्क का वणिक कन्या विजया से

1 चन्द्रगुप्त, 4/222 ।

2 वही, 1/73 ।

3 स्टडीज इन कामसूत्र-हारानचन्द्र, पृष्ठ 120 ।

4 अजातशत्रु, 1/52 ।

5 राज्यश्री, 2/41 ।

विवाह[1] इसी प्रकार के है । इतना ही नहीं, महापराक्रमी राजा स्कदगुप्त द्वारा वणिक कन्या से विवाह कर उसे राज महिषी का गरिमा देने का निश्चय इसे और सपुष्ट करता है[2] । प्रसाद ने इन बेमेल विवाहों की पुष्टि शुक्रनीति और मनुस्मृति के आधार पर की है । उनकी सास्कृतिक उदारता ही इससे परिलक्षित होती है । वस्तुतः, सस्कृति मात्र राजा को ऐसे विवाह की स्वीकृति विशेष परिस्थिति में देती है, क्योंकि वे वैभव एव शक्ति-सपन्न हैं । 'ध्रुवस्वामिनी' में भी म्लेच्छ शकराज का विवाह एक उच्च कुल कन्या से निश्चित हुआ था, जो घटना-क्रम में गुप्त-कुल बधू बन गयी[3] ।

ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता थी, किन्तु उसका विवाह उसके बडे भाई रामगुप्त से कराया गया । यह सस्कृति समर्थित नहीं है । स्मृति-ग्रथ वाग्दत्ता का विवाह उसके पूर्व निश्चित पति की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई से होना समर्थित करता है[4], किन्तु प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' में वाग्दत्ता का विवाह उसके बडे भाई (रामगुप्त) से चन्द्रगुप्त की जीवितावस्था में ही कराया गया है । तत्कालीन परिस्थिति और घटना-क्रम में यह विवाह भले ही अस्वाभाविक नहीं लगे, सस्कृति के निर्देशों के प्रतिकूल अवश्य लगता है ।

प्रसाद के नाटकों में विवाह के स्वरूप और प्रकार के बाद एक अन्य स्थिति भी स्पष्ट हुई है - वह है एक व्यक्ति के अनेक विवाह की । प्रसाद के अधिकाश नाटकों में इसके स्पष्ट सकेत हैं । 'अजातशत्रु' में[5] मुख्य रानी (राजरानी, पटरानी) छोटी रानी और सपत्नी के उल्लेख से ये सकेतित होते हैं । यानि सम्राटों के लिए विवाह की सख्या निश्चित नहीं थी । बिबसार के भी दो विवाह के प्रमाण प्राप्त हैं । उसी के दामाद उदयन की तीन विवाहिता रानियाँ थीं[6] । पर्वतेश्वर की भी अनेक रानिया थीं[7] । वस्तुतः, राजा राज्य-विजय के बाद भी विजयोपहार में मिली कन्या को पत्नी बनाता था, कभी सौन्दर्य लोलुपता के कारण भी । कभी ये विवाह विलास-भावना से उत्प्रेरित हुए, कभी राजनीतिक सबध स्थापित करने, सुधारने और सुदृढ़ करने हेतु । अधिकाशतः क्षत्रिय ही राजा होते थे, इसी कारण अधिकाशतः क्षत्रियों के ही बहु-विवाह के सदर्भ आये हैं । यानि राज्य-विस्तार और बहु-विवाह की एक प्रथा सी प्रचलित थी । राज्यश्री में भी इसके प्रमाण प्राप्त

---

1. स्कन्दगुप्त, 2/82 ।
2 वही, 5/133 ।
3 मनुस्मृति, 3/13, शुक्रनीति-4/72 ।
4. मनुस्मृति, 6/70 ।
5 अजातशत्रु, 1/29, 30, 31, 140 ।
6 वही, 1/50-51 ।
7 चन्द्रगुप्त, 2/133 ।

है[1] । दरिद्र ब्राह्मण का मागधी से और राजा उदयन के विवाह को बौद्ध इतिहास ने उद्दाम विलास-साधना से अनुप्राणित माना है[2] । स्कन्दगुप्त की अनन्त देवी भी उद्दाम-विलासिता की उद्दीपिका के रूप में चित्रित हुई है । क्षत्रियों के बहु-विवाह का समर्थन शास्त्रों-स्मृतियों में हुआ है ।

स्मृति और शास्त्र में ब्राह्मणों को बहु-विवाह और सभी वर्णों की कन्याओं से विवाह की अनुमति दी गयी है[3] । साथ ही उनके एक पत्नीव्रत को विशेष महत्ता और प्रशस्ति दी गयी है । यानि आदर्शचरित्र और समाज के श्रेष्ठवर्ग के होने के कारण उच्चतम आदर्श-निर्वाह हेतु ब्राह्मण का एक ही विवाह वरेण्य और शास्त्रानुकूल है । प्रसाद के नाटकों में भी ब्राह्मण कहीं एक से अधिक विवाह करते नहीं दिखाये गये हैं । इसका स्पष्ट कारण है कि ब्राह्मण को वे एक अमृत तत्व बाँटने वाला, सार्वभौम शाश्वत बुद्धिवैभव का प्रतीक, मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवन-दाता, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्णक सागर के समान महान् और नदियों के समान सीमा से बाहर न जाने वाला मानते थे । प्रसाद ने अपने नाटकों में उसे आदर्श की वह ऊँचाई दे दी है, जिसमें एक लघु दोष भी स्खलन ला सकता है । इसी कारण ब्राह्मण को प्रसाद ने बहु-विवाह से अलग रखा है । उनका चाणक्य ब्राह्मण का सर्वोपरि आदर्श और प्रतिनिधि है । ग्रीक और भारतीय सभी इतिहासकारों ने उसे कठोर व्रत पालक और आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत-धारी माना है ।

आज की वर्त्तमान सस्कृति और व्यवस्था में विवाह के पूर्व लेन-देन का प्रचलन एक भयानक रोग की भाति फैल रहा है । प्रसाद के नाटकों में दहेज शब्द या प्रथा का वर्णन तो नहीं है, किन्तु प्रसन्नता पूर्वक कुछ आदान-प्रदान के संकेत अवश्य मिलते हैं । 'अजातशत्रु' के प्रथम अक में वासवी बिम्बसार से राज्य और राजस्व छोडकर काशी-वास की प्रार्थना करती है और कहती है--'जो आपका है, वही न राज्य का है, उसी का अधिकारी कुणीक है और जो मुझे पीहर से मिला है, उसे जब तक मैं न छोडू तब तक तो मेरा ही है[4] ।..... काशी का राज्य मुझे, मेरे पिता ने, आचल में दिया है[5], . काशी प्रान्त का राजस्व, जो हमारा प्राप्य है, लाने का उद्योग करना होगा[6] । उपर्युक्त कथन के शब्द-'पीहर से मिला है, 'पिता ने आचल में दिया है, हमारा प्राप्य है' स्पष्टतः पिता से प्राप्त दहेज-राशि या वस्तु के सकेत देते हैं । इसी वस्तु को प्रसाद ने कहीं स्त्रीधन,

1 राज्यश्री, 2/40 ।

2 डिक्सनरी आफ पाली प्रौवरनेक्स, पृष्ठ 569, धम्मपद, 1/199, 3/194, 4/1 ।

3. मनुस्मृति, 3/12, 13 ।

4 अजातशत्रु, पृष्ठ 43 ।

5 वही, पृष्ठ 44 ।

6 वही, पृष्ठ 44 ।

कहीं रक्षित-धन[1], की सज्ञा दी है । प्रसादजी के अन्य नाटक 'स्कदगुप्त' में भी दहेज के स्वस्थ सकेत हैं अपनी खुशी के लिए कहे गये देवसेना के ये वाक्य -- 'लोग कहेंगे कि मालव देश देवसेना का विवाह किया जा रहा है[2]' । दहेज के सकेत देते है । प्रसाद के नाटकों में दहेज के ये सकेत पूर्णतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र की सीमा-रेखा में है । उसके अनुसार 'आभूषणादि और कहीं पर सुरक्षित रखा हुआ धन' स्त्री धन है यानि कन्या को पिता से प्राप्त होने वाली अनुग्रह या उपहार-राशि या वस्तु । परिवार पर आकस्मिक विपत्ति आ-जाने पर पति-पत्नी उसका उपयोग करते है[3] । ऐसी ही परिस्थिति और सदर्भ में 'अजातशत्रु' की वासवी ने बिबसार से अपने पितृगृह से मिले धन के उपयोग-उपभोग की प्रार्थना की थी । 'चन्द्रगुप्त' की भूमिका में 'चन्द्रगुप्त के समय का भारत वर्ष 'उपशीर्षक में प्रसाद जी ने प्लिनी के कथन के सदर्भ को स्पष्ट करते हुए लिखा है- 'भारत वासियों का व्यवहार बहुत सरलता. . .यज्ञ के अलावे कभी वे मदिरा नहीं पीते थे विवाह एक जोडी बैल देकर होता था और विशेष उत्सव में आडम्बर से कार्य करते थे[4] । तत्कालीन समाज में कृषि-प्रधान देश में दहेज-स्वरूप बैल देने का आदर्श भी वरेण्य और अद्‌भुत था ।

प्रसाद ने अपने नाटकों में विवाह के सदर्भ में विवाह-मोक्ष का उल्लेख किया है । वस्तुतः बेमेल और अनिच्छा से हुए विवाह जब कष्ट-प्रद बन जाते हैं, तब पीडित या दुःखी के मोक्ष का प्रश्न उठ खडा होता है । ध्रुवस्वामिनी में ऐसी ही समस्या उभरी है । ध्रुस्वामिनी, वाग्‌दत्ता, चन्द्रगुप्त की थी, हृदय से प्रेम उसे ही किया, किन्तु उसका विवाह क्लीव, कायर, धर्मभ्रष्ट रामगुप्त से हो गया । नाटक की घटनाओं से स्पष्ट है कि ध्रुवस्वामिनी गुप्तकुल में विजय के उपहार स्वरूप आई थी[5] । छल-बल से उसका विवाह रामगुप्त से हुआ[6] । यह और बात है कि अग्नि के फेरे और मत्रों द्वारा इस विवाह को शास्त्र-सम्मत बनाया गया । अग्निवेदी के सामने रामगुप्त ने सुख-दुःख में साथ न छोडने की प्रतिज्ञा की[7] । तदनतर राष्ट्र और रानी की रक्षा में अक्षम रामगुप्त ने अपनी पत्नी को शकराज की शय्या के लिये क्रीत दासी स्वरूप भेजने का निर्णय लिया[8] । अपने पाप, अपनी

---

1 अजातशत्रु, पृष्ठ 2/66 ।

2 स्कन्दगुप्त, 3/96 ।

3. अर्थशास्त्र, 2/16, 19, 20 ।

4. चन्द्रगुप्त की भूमिका, पृष्ठ 47 ।

5. ध्रुवस्वामिनी, 1/23 ।

6 वही, 70 ।

7. वही, 1/24 ।

8. वही, पृ० 17, 57 ।

कायरता और नपुसकता छिपाने के लिये ध्रुवस्वामिनी का चन्द्रगुप्त के प्रति अनुराग का बहाना बनाया गया[1] । ऐसी स्थिति में लाछिता, घर्षिता, और तिरस्कृता । ध्रुवस्वामिनी के सामने मात्र--सज्ञा पति से--मोक्ष के अतिरिक्त अन्य विकल्प नहीं है । उसकी क्लीवता का स्पष्टीकरण प्रसाद ने इस प्रकार किया है --- 'अपनी स्त्री को दूसरे की अकशायिनी बनने के लिये भेजने में जिसे सकोच नहीं, वह क्लीव नहीं तो और क्या है[2] ? ऐसी परिस्थिति में 'धर्मशास्त्र' रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है[3] । नाटक का अत धर्मशास्त्र के रक्षक, पुरोहित द्वारा मोक्ष के आदेश और महाराज एव महादेवी के रूप में चन्द्रगुप्त-ध्रुवस्वामिनी के जयघोष के साथ होता है । संभवतः, विवाह-मोक्ष ही इस नाटक की मूल समस्या है । इस विवाह-मोक्ष का ही रूपान्तरण आज की सस्कृति और समाज में व्याप्त तलाक है । प्रसाद जी के नाटक में व्यक्त इस क्रान्तिकारी और आदर्श समाधान को शास्त्र और स्मृति के पर्याप्त समर्थन प्राप्त हैं । मोक्ष और पुनर्विवाह का यह उदाहरण प्रसाद के नाटक को वह ऊँचाई देता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य युगस्रष्टा और जीवनद्रष्टा होता है । पाराशर, कौटिल्य, नारद आदि के उद्धरण और विचार के आधार पर प्रसाद ने नयी व्याख्या प्रस्तुत की है कि मृत, प्रव्रजित ही नहीं, नष्ट-गौरव, पतित आचरण, क्लीव और कर्म-च्युत पति से मोक्ष का अधिकार पत्नी को है । आज की विधि-व्यवस्था के अनुसार विवाह-मोक्ष (तलाक) के लिये दोनों पक्षों में परस्पर द्वेष का होना अनिवार्य है । कौटिल्य ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है[4] । कौटिल्य ने इसकी व्याख्या करते हुए यह भी बताया है कि उच्चवर्गीय समाज--ब्राह्म, आर्ष, देव, प्राजापत्य--में साधारण द्वेष के कारण विवाह-मोक्ष का विधान नहीं है[5] ।

अपने नाटक-ध्रुवस्वामिनी में विवाह-मोक्ष के लिए प्रसाद ने कौटिल्य को ही प्रधान आधार मानकर दोनों पक्षों में द्वेष और मनोमालिन्य दिखाया है । रामगुप्त ध्रुव देवी को कालसर्पिणी और परपुरुष अनुरक्ता[6] मानता है और ध्रुव देवी रामगुप्त को कापुरुष, क्लीव, स्त्री की लज्जा लूटने वाला दस्यु सबोधित करती है[7] । इस प्रकार प्रसाद ने विवाह-मोक्ष के लिए एक स्वस्थ आधार प्रस्तुत कर नाटक में

---

1 ध्रुवस्वामिनी, 3/61 ।

2 वही, 3/62 ।

3 वही 3/62 ।

4 अर्थशास्त्र, 3/19 परस्परम् द्वेषान्मोक्ष ।

5 वही, 3/21-22 ।

6 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 58 ।

7 वही, पृष्ठ 58 ।

सप्राणता ला दी है । मोक्ष के बाद पुनर्विवाह को आदर्श रूप देने के लिए प्रसाद ने अपनी नायिका को सर्वशुद्ध और अक्षत योनि प्रमाणित किया है, जिससे उसका कुमारी होना सदिग्ध न हो । मनु ने 'अक्षतयोनि' कन्या के पाणिग्रहण को महत्ता, प्रदान करते हुए उस विधवा के विवाह की भी स्वीकृति दी है, जो पति-सपर्क वचिता और अक्षत योनि रही है[1] । कौटिल्य ने पुनर्विवाह, विधवा-विवाह और मोक्षोपर्यन्त विवाह के लिए एक विशेष विधान दिया है कि पति के मरणोपरात विवाह देवर से मान्य और श्लाघ्य है[2] ।

प्रसाद के नाटक ध्रुवस्वामिनी में मोक्ष के दोनों आधार पूर्ण स्वस्थ, सपुष्ट और मान्य हैं । रामगुप्त द्वारा परित्यक्ता ध्रुवदेवी का पुनर्लग्न चद्रगुप्त से होता है, जो रामगुप्त से छोटा यानि ध्रुवदेवी का देवर है । यह कार्य सर्वथा शास्त्रसम्मत है । रामगुप्त से कहे गये ये वाक्य-'मैं स्वीकार करती हूँ कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरि नहीं हुई[3], और मन्दाकिनी को सुनाये गये ये उद्‌गार--'पुरोहित जी ने उस दिन कुछ मन्त्रों को पढा था । उस दिन के बाद मुझे कभी राजा से सरल सभाषण करने का अवसर ही न मिला[4]'--ध्रुवस्वामिनी के अक्षत योनि होने के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं । स्पष्ट है कि पति-सभाषण और पति के यौन सपर्क से वचिता ध्रुवस्वामिनी अक्षत योनि है । प्रसाद ने अपने नाटक में इस सदर्भ और कथन द्वारा यही सिद्ध करना चाहा है कि उनकी नायिका शास्त्रानुकूल पुनर्लग्न की अधिकारिणी है । प्रसाद के नाटक का पुनर्विवाह सदर्भ यह स्पष्ट करता है कि तत्कालीन सस्कृति ने समाज को ऐसी व्यवस्था और निर्देश दिया है ।

विवाह के बाद दाम्पत्य-जीवन बिता कर विभिन्न रानियों के सती होने की प्रथा बहुत पुरानी है । सस्कृति के अनुसार पति के बिना अपना जीवन, अपनी प्रतिष्ठा निरापद नहीं समझकर रानिया पति के दाह-सस्कार के साथ अग्नि-समाधि ले लेती थीं । प्रसाद के नाटकों में भी इस प्रथा के उल्लेख यत्र-तत्र मिलते हैं । ध्रुवस्वामिनी नाटक में कोमा, ध्रुव देवी से शकराज के शव की याचना करती है । संभवतः वह भावुक शक-बालिका अपनी व्यथा और असफल प्रेम की पीड़ा से मुक्ति पाने के एव शाश्वत शान्ति के लिये सती होना चाहती थी । कोमा को लक्ष्य कर कहे गये ध्रुवस्वामिनी के ये वाक्य सकेत देते हैं-'जलो, प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो, तो तुम उस शव को ले जाकर जलो. . ..अवश्य तुम्हारा जीवन धन्य है[5] । राज्यश्री नाटक में राज्यश्री के सती होने का निश्चय भी इसके

---

1. मनुस्मृति (कुलूक भट्ट-टीका), पृष्ठ 8/86, 9/65, 9/76 ।
2. अर्थशास्त्र 5/45 'तत. पति सौन्दर्य गच्छेत्'।
3 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 26 ।
4 वही, पृष्ठ 51 ।
5 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 3/53 ।

सकेत प्रस्तुत करते हैं[1] । प्रसाद जी ने यह धारणा व्यक्त की है कि चिता की ज्वाला में समर्पित हो जाना स्त्रियों का पवित्र कर्त्तव्य है, जिससे वे क्षणभगुर ससार से अपने आदर्श-निर्वाह कर ससम्मान विदा हो सके[2] । प्रसाद के नाटक में इस प्रथा के उल्लेख के साथ 'सती' शब्द का प्रयोग एक अत्यन्त साहित्यिक और आदर्श सदर्भ में भी हुआ है । अजातशत्रु में वासवदत्ता उदयन से कहती है --- 'आर्यपुत्र यह सती का तेज है, सत्य का शासन है, हृदयहीन मद्यप का प्रलाप नहीं[3] । यहाँ सती उस नारी की द्योतिका है, जिसमें अखण्ड सत्य की अनुगामिनी और पोषिका हो, जल भरने वाली नहीं ।

आर्य-सस्कृति स्त्रियों को विशेष महत्व, स्थान और स्वतत्रता देने की अनुशसा करती है । प्रसाद के नाटकों में भी स्त्रियों को गरिमा, महत्ता और स्वतत्रता प्रदान की गयी है । चन्द्रगुप्त नाटक की अलका एक आदर्श शक्ति सम्पन्ना और स्वतत्र विचारों वाली राष्ट्र अनुराग से भरी नारी है, जो नाटक में एक अलग व्यक्तित्व रखती है । तक्षशिला के नागरिकों को प्रेरणा और उत्तेजना देती है, देश की राजनीति में सक्रिय, सहयोग देती है । उत्साह और निर्भीकता के कारण सभी उस पर मुग्ध हैं[4] । 'ध्रुवस्वामिनी' की मदाकिनी सामन्त-कुमारों को अनुप्राणित और उत्साहित करती है[5] । अजातशत्रु में शक्तिमती सेनापति को निर्देश और आदेश देती है[6] । दूसरी ओर छलना मगध की शासन-व्यवस्था का नियमन-नियत्रण करती है । उसके ये वाक्य--'पति को मैंने स्वय बदी बनाया जी चाहता है कि इस नर पिशाच मूर्ति को मिट्टी में मिला दू । प्रतिहारी अभी इस मुडिये को बदी बनाओ और वासवी को पकड लाओ[7] । जातक-ग्रन्थों ने विशेष अवसर और उत्सव पर पुरूषों के साथ नृत्य करने एव कार्तिक मास की रात्रि में आयोजित उत्सव पर केसर रग का वस्त्र पहन पतियों के गले से लिपट कर नृत्य-आमोद मनाने की छूट दी है[8] । दूसरी ओर, नारियों के शील की रक्षा और लज्जा-निर्वाह के उद्देश्य से उनको पर पुरूष-दर्शन तथा सामान्य जन-समुदाय के समक्ष आना सस्कृति वर्जित करती है । प्रसाद के नाटक अजातशत्रु में गवाक्ष से झाकने मात्र के अपराध में पद्मावती सदिग्ध की जाती है[9] । बौद्ध ग्रन्थों में

---

1 राज्यश्री, पृष्ठ 3/65 ।

2 वही, पृष्ठ 3/65 ।

3 अजातशत्रु, पृष्ठ 1/71 ।

4 चन्द्रगुप्त

5 ध्रुवस्वामिनी, 1/33 ।

6 अजातशत्रु-3/123 ।

7. वही, 3/131-132 ।

8. पुप्फरत जातक, 2/147 ।

9 अजातशत्रु, 1/59 ।

तत्कालीन सस्कृति के अनुरूप गवाक्ष से झाकने के अपराध में दण्डित करने का भी विधान था[1] । तत्कालीन आर्य-सस्कृति और इतिहास में नारियों को जो सामाजिक सम्मान-स्वतत्रता और बधन प्राप्त थे, वे प्रसाद के नाटकों में भी देखने को मिलते हैं । 'अजातशत्रु' में प्रसाद की यह स्पष्ट धारणा है कि कुल-शील-पालन ही तो आर्य लानाओं का परमोज्ज्वल आभूषण है । स्त्रियों का वही मुख्य धन है । कालिदासकालीन समाज में एक ओर स्त्रियों को उन्मुक्त विचरण और स्नान की स्वतत्रता थी दूसरी ओर वे असूर्यम्पश्या और अवगुण्ठनवती थी[2] । प्रसाद ने भी अपने नाटक 'स्कन्दगुप्त' में मालिनी को न्यायाधिकरण में अवगुण्ठन धारण किये हुए दिखाया है[3] । यद्यपि यह अवगुण्ठन विशिष्ट प्रयोजन रखता है । किसी प्रथा का सकेत नहीं देता । वस्तुतः प्रसाद के नाटकों में तत्कालीन सस्कृति, समाज और इतिहास में प्राप्त स्त्रियों के विरोधाभास युक्त व्यक्तित्व के बडे जीवन्त और स्वाभाविक चित्र मिलते हैं । व्यक्ति एक इकाई है, परिवार और समाज उसका विकसित रूप । एक सफल आदर्श परिवार और उन्नत समाज के लिये पारस्परिक स्नेह-सद्भाव अत्यन्त आवश्यक है । ये स्नेह और सद्भाव अनेक रूपों और स्तरों में पाये जाते हैं-'मॉ-बाप, गुरु-शिष्य, भाई-बहन, पति-पत्नी से उठकर विश्व-बधुत्व तक से सम्बन्ध देखे जाते हैं । कहीं विनम्रता, क्षमाशीलता, उपकार, करुणा, दया, सवेदना और कहीं ईर्ष्या, द्वेष और स्पर्द्धा । सस्कृति के ये सद्गुण जीवन की सफलता और मगलमयता के लिये आवश्यक है । प्रसाद के नाटकों में ऐसे स्थल भरे पडे हैं । बच्चों के पारस्परिक स्नेह, सेवक का प्रणत अनुचर होना, मित्र वर्ग के सम्मान घर को स्वर्ग बनाते हैं[4] । मल्लिका के ये स्वर आर्य-सस्कृति के उद्घोष है-यह (क्षमा) देवता का नहीं, मनुष्य का कर्त्तव्य है । उपकार, करुणा, सवेदना और पवित्रता मानव-हृदय के लिये ही बने हैं[5] । जीवन के लिये हर समय उष्ण रक्त हितकर नहीं होता है, उसके लिये शीतल हिम-जल भी चाहिए । वीरों को विजय की लिप्सा होनी चाहिए, खून करने की नहीं[6] । इसमें मल्लिका क्षमा-शीलता के ही सदेश देती है । प्रसाद की यह धारणा संस्कृति-सम्मत है कि मानवी सृष्टि करुणा के लिये है[7] । स्त्रियों के लिए स्नेह, क्षमा और पतिव्रती आवश्यक है, पति ही उनके जन्म का सर्वस्व, परजन्म का स्वर्ग गति और उद्देश्य होता है, किन्तु जब वे प्रतिशोध की ज्वाला

---

1 धम्मपद अट्ठ कथा, 1/199, 3/193, 4/1 ।

2 भगवत् शरण उपाध्याय-इण्डिया इन कालिदास-90 ।

3 स्कन्दगुप्त, 4/116 ।

4. अजातशत्रु, पृष्ठ 31 ।

5. वही, पृष्ठ 113 ।

6. वही, पृष्ठ 112 ।

7 वही, पृष्ठ 28 ।

में जलने लगती हैं, तब मागन्धी के स्वर मुखर होते है-'उदयन राजा है, तो मै भी अपने हृदय की रानी हूँ । दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं[1] । जब पुरुष सस्कृति के सदेश भूलकर अपनी ही पत्नी को दूसरे की अकशायिनी बनने का आदेश देता है, तब उनका पातिव्रत, आक्रोश एव आत्म-सम्मान, ध्रुवस्वामिनी के स्वर में गूँज उठता है-'मै अपनी रक्षा स्वय करूँगी, मैं उपहार में देने की वस्तु शीतलमणि नहीं हूँ । मुझमें रक्त की तरह लालिमा है । मेरा हृदय उष्ण है ओर उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है[2] । प्रमाद और क्षणिक आवेश हमारे सस्कृति-सम्मत गुण को नष्ट करते हैं । इसी कारण आत्महत्या एक अपराध मानी जाती है । प्रसाद यह मानते हैं कि शील परस्पर सम्मान की घोषणा करता है[3] । संस्कृति में निर्दिष्ट गुणों के आधिक्य के कारण ही स्त्रियों के राज्य की सीमा विस्तृत है, पुरुष की तरह सकीर्ण नहीं । पुरुष विश्व पर अधिकार करता है और स्त्री पुरुष पर । ऐसा इसलिये कि पुरुष क्रूर है, कठोरता का प्रमाण एव पर्याय है और स्त्री करुणा है, कोमलता का विश्लेषण[4] । सस्कृति के अनुरूप शान्ति-काल में वे गृह-व्यवस्था में सलग्न रहती हैं, और युद्ध काल में, रणक्षेत्र में अद्वितीय प्रेरणा के स्रोत बनती हैं । गुरु-शिष्य और पिता-पुत्र के पारस्परिक सबध के विश्लेषण प्रसाद के नाटकों में कई स्थान पर मिलते हैं । पिता और गुरु का एकमात्र उद्देश्य है-सन्तति और शिष्य का दृढ और आदर्श व्यक्तित्व-निर्माण। यह चाहे स्नेह द्वारा हो या कटु, निर्मम आदेशों द्वारा । स्कन्दगुप्त में यह स्पष्ट किया गया है कि पुत्र के व्यक्तित्व का निर्माण और पूर्णता माता-पिता की सम्मिलित शिक्षा का परिणाम है । इसी कारण आर्य-सस्कृति और पद्धति में पुत्र की गणना पिता से की जाती है[5] । चन्द्रगुप्त का चाणक्य एक ऐसा गुरु है, जो कहीं अत्यन्त सकरुण है और कहीं उसके व्यग्य वाण तिलमिला देते हैं । उसका यह वाक्य-'छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है मौर्य[6] । शिष्य को सुपथ से फिसलने नही देने के लिये पर्याप्त है । अन्य स्थानों पर भी उसके व्यग्य वाण शिष्य के सुपथ निर्धारण करते हैं--'न्याय करना तो राजा का कर्त्तव्य है, परन्तु यहाँ पिता और गुरु का सबध है, कर सकोगे[7] ?.. जिस तरह राजा का धर्म न्याय करना है उसी प्रकार ब्राह्मण रूपी गुरु क्षमादान दे सकता है ।' प्रसाद ने

---

1. अजातशत्रु, पृष्ठ 1/47 ।
2 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 27 ।
3 वही, पृष्ठ 29 ।
4 अजातशत्रु, पृष्ठ 119 ।
5 स्कन्दगुप्त, 3/131-143 ।
6. चन्द्रगुप्त, 2/118 ।
7 वही, पृष्ठ 218 ।

अपने नाटक में जारज और द्विजाति पुत्रों के भी उल्लेख किये हैं । दासी-पुत्र सस्कृति में भी त्याज्य है और प्रसाद जी ने भी उसे राज-सिहासन का अधिकारी नहीं माना है[1] । मनु ने शूद्रा-पुत्र को पिता की सपदा के दशमाश से अधिक का अधिकार नहीं दिया है[2] । वैसे प्रसाद के नाटक अजातशत्रु में विरुद्धक को राजाधिकार दिला कर एक अपवाद प्रस्तुत किया गया है। महापद्मनन्द की पत्नी के गर्भ से नापित (शूद्र) सपर्क द्वारा उत्पन्न पुत्र नन्द इसीलिए जारज पुत्र माना गया[3] । प्रसाद के नाटक आर्य-सस्कृति की उच्चता के अनुरूप विश्व-बधुत्व और वसुधैव कुटुम्बकम् के हिमायती हैं । उनका यह स्वप्न था कि समस्त विश्व एक कुटुम्ब बनेगा और मानव-मात्र स्नेह-सूत्र में बध कर गृहस्थी सभालेंगे[4] । 'जनमेजय का नागयज्ञ' में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'अखिल विश्व एक सपूर्ण सत्य है, असत्य का भ्रम दूर करना होगा, मानवता की घोषणा करनी होगी । सबको उसकी समता में ले आना होगा[5]। समता और बधुत्व के भाव आर्य सस्कृति के रेखाकित धर्म हैं । मनसा यह मानती है कि 'आर्यों के सदृश उनका (नागजाति) भी विस्तृत राज्य था । इनकी भी एक सस्कृति थी[6] । उसने नागजाति के कल्याण के लिये अपना यौवन एक वृद्ध तपस्वी को समर्पित कर दिया था[7] । कुकुर वश की यादवी शर्मा ने भी 'विश्व- मैत्री और साम्य को आदर्श बनाकर नाग परिणय का यह अपमान सहन किया है[8]। आर्यों से नागजाति के मेल की चेष्टा[9] मानवता और विश्व-बधुत्व के ही प्रमाण प्रस्तुत करती है । 'श्रीकृष्ण की 'शूद्र गोप से लेकर ब्राह्मण तक की समता और प्राणीमात्र के प्रति समदर्शी होने की अमोघ वाणी[10] विश्वमैत्री के ही स्वर भरते हैं। वे चाहते थे कि--'मनुष्य इसीलिए हैं कि वह पशु को भी मनुष्य बनावें, तात्पर्य यह कि सारी सृष्टि एक प्रेम की धारा में बहे और अनन्त लाभ करे[11] । अर्जुन को उनके ये सदेश--'इस वन्य प्रान्त में मानवता का विकास करो, जिसमें आनन्द फैले । सृष्टि को सफल बनाओ ।--प्रसाद के नाटक में सस्कृति के मुखर स्वर है । मानवता एव मानव-कल्याण की भावना से अनुप्राणित आर्य

---

1 स्कन्दगुप्त, 3/131 ।
2 मनुस्मृति, 9/54 ।
3 चन्द्रगुप्त, 1/69, 3/178, 185 ।
4 अजातशत्रु, 126 ।
5 जनमेजय का नागयज्ञ, 5 ।
6 वही, 3 ।
7 वही, 7-8 ।
8 वही, 8 ।
9. वही, 1 ।
10. वही, 3 ।
11 वही, 5 ।

समस्त विश्व को एक रगमच मानते हैं । प्रसाद जी ने अपने नाटक चन्द्रगुप्त में आदर्शों के जिस शिखर का दर्शन कराया है एक ओर तो अन्यत्र दुर्लभ है, दूसरी ओर अपनी उच्चता और स्वाभाविकता में अद्वितीय । सिकन्दर पर भारत की विजय, यवन, सस्कृति ही नहीं, प्रत्युत विभिन्न विदेशी सस्कृतियों पर भारत की विजय है । सम्राट सिल्युकस बुरी तरह चन्द्रगुप्त से पराजित होता है । मानवतावादी आर्य चन्द्रगुप्त उसे प्राण-दान देकर कहता है--'यवन सम्राट ! आर्य कृतघ्न नहीं होत । आपको सुरक्षित स्थान पर पहुचा देना ही मेरा कर्तव्य था'[1] । ये वाक्य हमारे सस्कार के सर्वोच्च गुण, क्षमा के साथ हमारे सस्कार-मानव कल्याण-को द्योतित करते हैं । रावी तट पर आयोजित सम्मिलन चित्रकूट-सभा से कम आदर्श और स्वर्गिक नहीं दीखता । विश्व विजय का स्वप्न लेकर आने वाला सिकन्दर पराजित, पराभूत होकर लौटते समय कहता है--'मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को । सभवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे । मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ[2] । सिकन्दर का यह कहना कि मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ । विस्मय-विमुग्ध हू । जिनसे खड्ग-परीक्षा ली, युद्ध में जिनसे तलवारें मिली थीं, उनसे हाथ मिला कर--मैत्री के हाथ मिलाकर जाना चाहता हूँ[3] । इस बात की मौन स्वीकृति है कि आर्य सस्कृति के उत्तम गुणों से हार सबने स्वीकारी है । सबने उसकी पूजा की है । चन्द्रगुप्त नाटक की अतिम घटना आर्यों की महानता, उदारता, के सर्वोच्च शिखर का प्रस्फुटन है, जब निर्लोभी नीतिज्ञ ब्राह्मण के निर्देश पर ग्रीस की गौरव लक्ष्मी कार्नेलिया भारत की कल्याणी बनायी जाती है । शस्त्र-व्यवसायी सम्राटों के प्रबल स्वार्थ से उत्प्रेरित सघर्ष की सभावनाओं को समाप्त करने का एक ही उपाय आर्य-सस्कृत्ति निर्दिष्ट करती है । कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के अन्तर्जातीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय विवाह करा कर आर्य-सस्कृति के पर्याय चाणक्य ने 'दो बालुका पूर्ण कगारों के बीच में एक निर्मल श्रोतस्विनी' प्रवाहित की है । यद्यपि इतिहास में इस घटना के अत्यन्त क्षीण सकेत मिलते हैं। ग्रीक इतिहासकार उद्घाटित करते हैं कि यवन सेना की पराजय के बाद विवाह-सन्धि द्वारा दोनों का मनोमालिन्य समाप्त हुआ था, किन्तु विवाह किस-किस से हुआ, इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है । भारत की उदार विदेशनीति और विश्व-बधुत्व के आदर्श-भाव से उत्कृष्ट उदाहरण और क्या हो सकता है ? यह है हमारी आर्य-सस्कृति के आदर्शों की मगलमय और सुखद परिणति ।

आर्य-संस्कृति में निर्दिष्ट अन्य सबधों-भाई-बहन, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका,

---

1 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 213 ।

2. वही, पृष्ठ 149 ।

3 वही, पृष्ठ 149-150 ।

विजित-विजयी, पिता-पुत्र इत्यादि के चित्रण भी प्रसाद के नाटकों में बडे सजीव आर जीवन्त हुए हैं । राज्यश्री विवादमय जीवन से ऊब कर विमुक्ति के लिए अग्नि-समाधि लेने का निर्णय ले लेती है, किन्तु अपने भाई की करुणामयी दृष्टि में द्रवित हो उसे अपना निर्णय बदलना पडता है । --'भाई । तुम भी । नहीं, ऐसा नहीं होगा । मैं तुम्हारे लिये जीवित रहूगी । मेरे अकेले भाई । मुझे क्षमा करो, मैं कठोर हो गयी थी[1] । प्रसाद को यह कभी स्वीकार्य नहीं था कि उम्र में बडी होने के कारण मातृवत् स्नेह-व्यवहार देने की अधिकारिणी राज्यश्री अग्नि-समाधि ले ले और असहाय एव एकाकी भाई हर्ष के सामने काषाय-ग्रहण करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प न रह जाए । राज्यश्री के ये उद्घोष-- तुम इतने दुर्बल होगे, यह मैं न जानती थी । मैं स्त्री हू--स्वभाव-दुर्बल नारी । मेरा अनुकरण न करो, भाई । चलो हमलोग दूसरों के दुःख-सुख में हाथ बटावें[2]। एक ओर नारी की करुणा-मिश्रित दुर्बलता के सकेत देते हैं, जो अवगुण नहीं सद्गुण एव आदर्श हैं, दूसरी ओर मानव-कल्याण और कर्म-वाद की पुष्टि करते हैं । आर्य-सस्कृति में सदैव इसे प्रश्रय दिया गया है कि ऋषि-महर्षि तपस्वी-त्यागी न राज्य चाहते हैं, न स्वर्ग और न पुनर्जन्म इनकी कामना रहती है कि वे विश्व के प्राणियों के दुःख-सुख राज्यश्री की तरह बाट सकें । ''न त्वहम् कामये राज्यम्, न स्वर्गम् न पुनर्भवम् । कामये दुःखतप्तानाम्, प्राणीनाम् आर्त नाशनम् ।'' चन्द्रगुप्त में विजित-विजयी के अनेक सदर्भ गौरवमय और सम्मानजनक सम्बन्ध को पुष्ट करते हैं । विजयी सिकन्दर ने पर्वतेश्वर को प्राण-दान देकर भी उसकी वीरता स्वीकारी है । सिकन्दर को इस बात का विश्वास करना पडा कि भारतीय वीर 'धर्म-युद्ध में प्राण-भिक्षा मागने वाले भिखारी नहीं । वे 'जननी के स्तन्य की लज्जा ' की रक्षा हेतु 'मरने के क्षण' की प्रतीक्षा मे रहते हैं । सिकन्दर के ये वाक्य --'वीर पर्वतेश्वर । . . आज मुझे जय-पराजय का विचार नहीं है । मैंने एक अलौकिक वीरता का स्वर्गीय दृश्य देखा है । होमर की कविता में पढी हुई जिस कल्पना से मेरा हृदय भरा है उसे यहां प्रत्यक्ष देखा । . . मैं तुमसे मैत्री करना चाहता हू । विस्मय-विमुग्ध होकर तुम्हारी सराहना किये बिना नहीं रह सकता--धन्य । आर्य वीर[3] । स्पष्ट उद्घोषित करते हैं कि सिकन्दर ने मात्र युद्ध जीता, हृदय जीता भारतीय वीरता और सस्कृति ने ।

आर्य-संस्कृति में पिता पुत्र का प्रतिनिधि, प्रतीक, उत्तराधिकारी, पर्याय और प्रतिबिम्ब माना जाता है । तभी बौद्धकालीन और अन्य कई सस्कृतियों में पुत्र की गणना पिता से की गयी है । पिता-पुत्र के पवित्र, स्निग्ध और स्वार्थहीन निच्छल

---

1. राज्यश्री, 66 ।
2 वही, पृष्ठ 66 ।
3 चन्द्रगुप्त, 115 ।

सबध के अत्यत हृदयावर्जक और सप्राण वर्णन प्रसाद के नाटक में प्राप्त है । 'अजातशत्रु' में स्वर्ण-सिहासन, राज्य-लिप्सा और पद-लोलुपता वश कुणीक निर्ममता की प्रतिमूर्ति बनकर पिता के साथ क्या कुछ नहीं कर जाता है ? निश्चय ही मगध के इतिहास का यह कालिमा पूर्ण अध्याय है । किन्तु, आर्य सस्कृति में निहित पुत्र-वत्सलता, त्याग और निर्लिप्तता दिखाकर बिम्बसार ने ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया कि अतत कुणीक (अजातशत्रु) पिता के चरणों में समर्पित हो सकरुण कहता है। 'नहीं पिता, पुत्र का यही सिहासन है । आपने सोने का झूठा सिहासन देकर मुझे इस सत्य अधिकार से वचित किया । अब बध्य पुत्र को भी कौन क्षमा कर सकता है ।' नहीं पिता, मुझे भ्रम हो गया था । मुझे अच्छो शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था जगलीपन की स्वतत्रता का अभिमान, झूठा आत्म सम्मान[1] । यह सच है कि पिता बनकर ही कोई पुत्र के प्रति पिता के स्नेह-भाव को समझ सकता है । बिम्बसार पुत्र को अनायास सुपथगामी पाकर आकण्ठ सुधा-सागर में निमग्न हो जाता है । उसके ये स्वर पीयूष-वर्षा के जल से कम शीतल-सुखद और प्राणद नहीं है -- ''उठो वत्स अजात । जो पिता है, वह क्या कभी भी पुत्र को क्षमा--केवल क्षमा--मागने पर भी नहीं देगा । तुम्हारे लिए यह कोष सदैव खुला है[2] ।

आर्य-संस्कृति के इस आदर्श के निर्वाह और एक ही साथ मगध सम्राट के आलिगन और मगध के नवीन राजकुमार (अजातशत्रु के पुत्र) के स्नेह-चुबन के सदर्भ ने प्रसाद के नाटक 'अजातशत्रु' को उत्कृष्टता प्रदान कर दी है । बिम्बसार एक साथ इतने सारे सुख पाने के हर्षातिरक में उठकर गिर पडता है । आर्य-सस्कृति युक्त यह अध्याय दिव्य-आलोक से पूर्ण है, जिसे प्रसाद के नाटक ने नये आयाम देकर प्रस्तुत किया है ।

जीवन के कुछ अनिवार्य सस्कारों -- मुडन, यज्ञोपवीत, विद्यारभ, मरण इत्यादि -- के बारे में प्रसाद के नाटकों में विशेष प्रकाश नहीं मिलता, किन्तु रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, राज्याभिषेक इत्यादि के सबध में क्षीण आभास और सकेत कुछेक स्थानों पर प्राप्त हैं ।

सस्कृति के निर्देश स्पष्ट हैं कि आहार ऐसा हो, जो हमारी इन्द्रियों को अनावश्यक उत्तेजना और तनाव, नहीं प्रदान करे । फिर भी, युद्ध एव सघर्ष के काल में, सम्राटों के सहभोज उत्सव, सम्मेलन इत्यादि में विशेष प्रकार के खान-पान की व्यवस्था सदैव स्वीकारी गयी है । शूद्रों-दरिद्रों के लिए उच्छिष्ट भोजन तथा योद्धाओं, राजाओं राजपुत्रों, मंत्रियों इत्यादि के लिए सुरा-पान भोजन के अनिवार्य

---

1 अजातशत्रु, पृष्ठ 3/172 ।

2 वही, पृष्ठ 3/175 ।

अग माने जाते हैं । प्रसाद के प्राय• सभी नाटक सुरा-पान के वर्णन प्रस्तुत करते हैं । विभिन्न नाटकों में प्रसाद जी ने इनके लिए विभिन्न सज्ञाए दी हैं ।--सुरा[1], कादम्ब[2], पारसीक[3], आसव[4], हाला[5], मदिरा[6], द्राक्षासव[7], पारस्य देश का अमूल्य मद्य[8] इत्यादि । प्रसाद के नाटकों में सुरा के लिये प्रयुक्त ये शब्द पाणिनि और कौटिल्य द्वारा भी उल्लिखित हैं । सुरा और मद्य के वर्णन-क्रम में पाणिनि ने सुरा के लिए कपिशालिनी और मैरेय जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया है[9] । कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मद्य के 6 प्रकार उल्लिखित हैं[10] । प्रसाद के नाटकों में प्रयुक्त सुरा के ये विभिन्न प्रकार पर्यायवाची शब्दों के रूप में ही आये हैं । महाकवि कालिदास के काव्य और नाटक में मुख्यत: कादम्बरी और वारुणी के प्रयोग मिलते हैं । इनके काव्य में कहीं-कहीं 'हाला' शब्द का भी प्रयोग हुआ है । प्रसाद के नाटकों के अध्ययन-अवगाहन से यह स्पष्ट होता है कि उनके समस्त नाटकों में वर्णित शासनकाल में सुरा शासन-वर्ग की अत्यन्त प्रिय और अधिक व्यवहृत वस्तु थी । पारस्य देश की मूल्यवान मदिरा से सभवत: प्रसाद जी का तात्पर्य विदेश-ग्रीक, ईरान, फारस से आयातित मदिरा से रहा होगा । उनके नाटक में वर्णित प्रसगों से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में सुरा-पान वर्जित नहीं था । सम्राट्, सामन्त, मत्री, राजकुमार, दास, दासिया, दस्यु, बौद्ध भिक्षु सभी उनके नाटकों में मदिरा-पान करते दिखाये गये हैं । प्रसाद के कुछ नाटकों में उसे स्फूर्ति दायिनी शक्ति माना गया है । ध्रुवस्वामिनी का शकराज ऐसा ही पात्र है[11] । इसी नाटक में रामगुप्त मदिरा में उन्मत्त[12] बताया गया है । तत्कालीन समाज-व्यवस्था में नर्त्तकिया सामन्तों, सामन्तकुमारों, राजाओं एव उनके अतिथियों को सानुरोध मदिरा-पान कराती थीं । राज्यश्री नाटक में राज्यवर्द्धन के सेवक उन्मुक्त, प्रच्छन्न और भाव-विह्वल हो सुरापान करते थे[13] । यह और बात है कि सुरमा-मालिन

---

1 अजातशत्रु, 2/97 ।

2 चन्द्रगुप्त, 1/66, स्कन्दगुप्त, 1/30 ।

3 स्कन्दगुप्त, 1/88 ।

4 अजातशत्रु, 1/41 ।

5. अजातशत्रु, 1/44 ।

6 वही, 1/44 ।

7 चन्द्रगुप्त, 3/169, ध्रुव, 1/84 ।

8. स्कदगुप्त, 4/123 ।

9 अग्रवाल-इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनि, पृष्ठ 115 ।

10 अर्थशास्त्र, 2/25 ।

11 ध्रुवस्वामिनी, 2/37 ।

12 वही, 1/13 ।

13 राज्यश्री, 3/61 ।

का कर-स्पर्श होते ही कडवी मदिरा भी विकट घोष को हलकी और मीठी लगती थी । वैसे तो प्रसाद के नाटकों के अनेक शासक--उदयन, देवगुप्त, राज्यवर्धन, शकराज, रामगुप्त--सुरा पान के विशेष प्रेमी थे, किन्तु मुख्यत· क्रूर ओर विलासी। प्रकृति के ही शासक इसका अधिक सेवन करते दिखाये गये है । वस्तुत· प्रसाद के नाटकों में मदिरा पान की स्वतत्रता हर वर्ग का प्रदान की गयी हैं । इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन सस्कृति ने इसकी पर्याप्त छूट दे रखी थी । सभवत कालिदास के नाटकों से प्रभाव ग्रहण कर प्रसाद ने अपने स्त्री-पात्रों को भी स्वच्छन्द रूप से सुरा-पान करवाया है । कालिदास के कुमार सभव में भगवान शिव स्वय सुरा-पान करते हैं, और अपनी पत्नी को भी इसके लिये उत्प्रेरित करते हं । प्रसाद के अजातशत्रु में दासी नवीना रानी मागधी को सुरा-पान कराती है[1] । चन्द्रगुप्त की सुवासिनी चेतना खो देने तक मदिरा पीती रहती है[2] । मगध-सम्राट् नन्द के दरबार में आयोजित वसतोत्सव में उन्मुक्त हृदय से विलासी युवक और युवतिया आमोद मनाते हुए सुरा-पान करते हैं, किन्तु नन्द तब तक पूर्ण आमोद का वातावरण नहीं मानता जब तक मदिरा पूर्ण प्रवाहित होकर पूरे वातावरण को मदमत्त न कर दे । वह कहता है--'परन्तु मदिरा का तो तुम्हारे समाज में अभाव है[3] । ब्रह्मास्त्र से अधिक सुन्दरियों के कुटिल-कटाक्ष से डरने वाले नन्द की इस पक्ति से एक ओर उसकी विलासिता प्रतिबिम्बित होती है, दूसरी ओर यह सकेतित होता है कि तत्कालीन समाज में आमोद-उत्सव के समय स्त्री-पुरुष स्वतत्र ओर समवेत रूप से सुरा पार करते थे । प्रसाद के नाटकों में मर्यादा, आदर्श और सामाजिक गरिमा की रक्षा के लिये सभवतः ब्राह्मणों को सुरा पान करते नहीं दिखलाया गया है । सेवकों और सैनिक वर्ग को तो हर काल में मदिरा पान की छूट मिली है । प्रसाद के नाटकों में भी इसके सकेत मिलते हैं । स्कन्दगुप्त का सर्वनाग अतिशय मदिरा पान कर मत्तावस्था में कचन कामिनी और कादम्ब का स्मरण करता है[4] । वस्तुतः मदिरा-पान दुष्कर्म की प्रेरणा देते हैं । इसी कारण हत्या, आतक, निम्न कर्म करने की उत्तेजना के रूप में प्रसाद ने इसे वर्णित किया है । स्कन्दगुप्त में कापालिक प्रपंच बुद्धि पहले मदिरा पान करता है फिर, सर्वनाग के साथ महादेवी देवकी की हत्या के षडयत्र रचता और प्रयत्न करता है[5] । वैसे मुख्यतः मदिरा का रग लाल होता है, किन्तु हत्या करने-करवाने के सदर्भ में प्रयुक्त मदिरा को लाल मदिरा[6] की सज्ञा देकर प्रसाद ने विशेष अभिप्राय स्पष्ट

1 अजातशत्रु, 1/42 ।
2 चन्द्रगुप्त, 1/64 ।
3 वही, 1/62 ।
4 स्कन्दगुप्त, 2/62 ।
5 वही, 2/58 ।
6 स्कन्दगुप्त, 2/62 ।

किया है । यानि रक्त की पिपासा उत्प्ररित-उद्वलित करने वाली मदिरा लाल मदिरा मानी जा सकती हैं । बौद्ध-सस्कृति, तत्कालीन साहित्य और इतिहास इस बात को पुष्ट करते हैं कि बौद्ध-भिक्षु के लिए सुरा-पान वर्जित नहीं था । प्रसाद के नाटक इसके प्रमाण और सकेत उपस्थित करते है । युवान-याग ने इस बात को समर्थित किया है कि बौद्ध-भिक्षु सुरा-पान करते थे[1] । बौद्ध-भिक्षुओं के विहार में सुरा की वर्तमानता को बराबर स्वीकारा गया है[2] । बौद्ध-भिक्षुओं की तरह तात्रिक, कापालिक और श्मशान-क्रिया करने वाले के लिये भी सस्कृति और समाज में सुरा-पान की छूट दी गयी है ।

प्रसाद के नाटकों से यह बात ध्वनित होती है कि तत्कालीन समाज में सुरा-पान करने-कराने की कुछ विशेष प्रथाए भी प्रचालित थीं । उत्सव, दरबार और किसी विशेष आयोजन में यदि स्त्री-पुरुष सम्मिलित रहते थे, तो वहाँ पुरुष के सुरा पात्र स्त्रिया ही भरती थीं । अज्ञातशत्रु में राजा उदयन के चषक रानी मागधी स्वय भरती है । समुद्रगुप्त भी तीव्र मादक (सुरा) पिला देने का निवेदन श्यामा से करता है । चन्द्रगुप्त का राक्षस नन्द के सकेत और वसन्तोत्सव की रानी की आज्ञा पर गाने को तैयार होता है, किन्तु उसके पूर्व वह उसका मूल्य एक पात्र कादम्ब मागता है । सुवासिनी ही उसके पात्र भरती है[3] । ध्रुवस्वामिनी के शकराज के सुरा-पान के लिए स्वर्णकलश में मदिरा लेकर उसकी प्रेमिका कोमा उपस्थित होती है । पुरगुप्त को सुरा-पान अनन्त देवी के कहने पर विजया कराती है । विभिन्न नाटकों में सामन्तों को नर्तकियों द्वारा सुरा-पान कराने के वर्णन मिलते हैं । इस बात की सभावना है कि सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति स्त्री विशेष उत्तेजना के उद्देश्य से सुरा-पान कराती रही होगी । तत्कालीन समाज में उपहार स्वरूप मदिरा भेजने का भी प्रचलन मिलता है और इसे शोभनीय और सम्मानजनक माना जाता था । वाणभट्ट के अनुसार कामरूप के नरेश द्वारा हर्ष को उपहार स्वरूप अन्य वस्तुओं के साथ सुरा की सुराहियाँ भी भेजी गयी थीं[4] । उन्मुक्त मदिरा-सेवन का सर्वाधिक प्रचलन हर्षवर्द्धन-कालीन समाज में मिलता है । थानेदार की स्त्रियों के बारे में वाणभट्ट कहते है कि वे प्रज्ज्वलित मुखार-विन्द वाली एव मदिरामय स्वास वाली होती थीं[5] । प्रसाद के नाटकों में सुरा पात्रों के लिये विभिन्न नाम

---

1 लाइफ आफ ह्वेनसाग, खण्ड 1, पृष्ठ 215 ।

2 इण्डियन पडित्स इन द लैण्ड आफ सौरो, पृष्ठ 11-12 ।

3 चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 64 ।

4 हर्षचरित्, पृष्ठ 214, 62, 65 ।

5 हर्षचरित्, पृष्ठ 82-83 (ध्वल द्विज शुचिवदनामदिरा मोदिश्व सनाश्च)
भूल तीन पृष्ठ 44 ।

आये है --- सुराही[1], प्याला[2], पान-पात्र[3], चाषक[4], मदिरा-कलश[5] और स्वर्ण-कलश[6] । अतिम नाम स्वर्ण-कलश राज्य के विभिष्ट वैभव का द्योतक है । प्रसाद के नाटक स्कन्दगुप्त में प्रयुक्त शब्द आपालक और आपानकों का समारोह आज के समाज के काकटेल पार्टी की छवि उतारते हैं । यानि इसमे सुरा-पान करने वाले सभ्य-सुव्यवस्थित समाज के लोग की ध्वनि मिलती है ।

प्रसाद के नाटकों में खाद्यान्न और खाद्य वस्तुओं के भी कुछेक सकेत मिलते हैं । विशेष उत्सवों ओर वैवाहिक समारोहों में मिष्टान्न में लड्डू को प्राथमिकता दी गयी है । वसन्तक लड्डू शब्द का प्रयोग विशेषत पेटू विदूषक की प्रकृति प्रवृत्ति के संदर्भ में करता है । स्कन्दगुप्त में रोटियों और शूल पर के मास का उल्लेख मिलता है[7] । अमर कोष में भी शूलाकृत, शूल्य और भरिय नाम से पकाये गये मास के तीन प्रकार बताये गये हैं । शूल पर के मास का ही स्वरूप आज का कबाब है, जिसे काटे में गूथकर सेंका जाता है । प्रसाद के नाटक यह स्पष्ट करते हैं कि आर्य सस्कृति में भिक्षा पाने के अधिकार मात्र ब्राह्मण और सन्यासियों को थे । सभवतः इसी की पुष्टि कराने के लिए प्रसाद ने बौद्ध भिक्षुओं द्वारा भिक्षा-ग्रहण कराया है । राजप्रासाद में ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं का विधिपूर्वक भोजन के वर्णन भी उनके नाटक में है । मल्लिका सम्मान आनन्द भिक्षु और सारि-पुत्र के चरण धुलाकर आसन पर बैठाकर स्वर्ण-पात्र में भोजन कराती है । बौद्ध सस्कृति से भी इसकी पुष्टि होती है कि बौद्ध भिक्षु ससम्मान आमत्रण पाकर बौद्ध धर्मानुरागियों, समर्थकों, पोषकों या राजाओं के यहाँ भोजन करते थे[9] । ऋषि, तपस्वी, दार्शनिक, और ब्राह्मण संस्कृति के निर्देशानुसार सात्विक गुणों की रक्षा और वृद्धि हेतु शुद्ध फलाहार करते थे । उत्तेजक भोजन, मास, मदिरा उनके लिए वर्जित था । दाण्यायन के कथन से इस धारणा और तथ्य को सपुष्टि मिलती है[10] । उनका प्रमुख भोजन तो प्रकृति पूरा किया करती थी । बन्दियों और दार्शनिकों के लिये आज की ही तरह तत्कालीन सस्कृति भी साधारण और निकृष्ट

---

1 स्कन्दगुप्त, 2/64 ।

2 ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 2/37 ।

3 अजातशत्रु, 1/42 ।

4 चन्द्रगुप्त, 1/63 ।

5. ध्रुवस्वामिनी, 2/39 ।

6 वही, 2/38 ।

7 अजातशत्रु, 3/135 ।

8 स्कन्दगुप्त, 5/136, 4/129 ।

9 इत्सिग द रेकर्ड आफ द बुद्धिस्ट रेलिजन, पृष्ठ 40 ।

10 चन्द्रगुप्त, 1/103 ।

अन्न के आहार का विधान बताती है । नन्द के बन्दीगृह में चाणक्य ने 'भोजन के लिये एक मुट्ठी चने' के सकेत दिया है[1] । शकटार भी अपने को जीवित रखने के लिए सत्तू और नमक पानी से मिला कर[2] पीता रहा । आर्य सस्कृति के अनुसार ब्रीहि एव यव आर्यों के मुख्य खाद्यान्न थे । ब्रीहि और यव चावल और गेंहू के पर्याय तो थे ही, अधिक शक्ति प्रदायक भी थे । प्रसाद के नाटक चन्दगुप्त में वर्णित सत्तू का उल्लेख ऋग्वेद में भी मिलता है । तत्कालीन समाज में सत्तू का व्यवहार आज की ही तरह हुआ करता था । सत्तू, जौ को कूट-भून कर पीस कर तैयार किया जाता था । दही में मिलाने में सत्तू के स्वाद में वृद्धि होती थी[3]। प्यासों को पानी और भूखों को भोजन देने की व्यवस्था हर सस्कृति ने दी है । प्रसाद के नाटक में अलका पान्थशाला का उल्लेख करती है । सभवत, पथ में चलने वाले श्रान्त पथिकों के विश्राम और भोजन की व्यवस्था हेतु पाथशालाओं की योजना का विधान तत्कालीन समाज में रहा होगा । मास-भक्षण आर्य सस्कृति से समर्थित है । ब्राह्मण और मुनि भी मास-भक्षण करते थे[4] । ऋगवेद में तो अग्नि और इन्द्र को भी मासभक्षी बताया गया है[5] । गौ आर्य सस्कृति में ब्राह्मण की ही तरह अघ्न्या मानी जाती थी और, आर्य गोमास-भक्षण नहीं करते थे[6] । प्रसाद ने अपने नाटकों में इस सम्मान और तथ्य की रक्षा की है, क्योंकि कहीं भी इसके विपरीत आचरण के उल्लेख नहीं मिलते ।

ताम्बूल यानि पान आर्य-सस्कृति की अत्यन्त पवित्र उपादेय और महत्वपूर्ण वस्तु माना जाता था । सभवतः इसीलिए देवताओं के पूजन में इसका उपभोग होता था । हर्षवर्द्धन-काल में ताम्बूल-प्रयोग के बारे में ह्वेनसाग ने लिखा है कि 'भारतीयों के दात अधिकाशतः लालिमा एव कालिमा युक्त रहते थे[7] ।'' बाणभट्ट भी राज्य-घरानों में ताम्बूल-सेवन के व्यापक प्रचलन को मानते हैं । हर्षवर्द्धन, ग्रहवर्मन, प्रभाकरवर्द्धन एवं राज्यश्री, सभी को दिन में बराबर पान खाने की आदत थी[8] । तत्कालीन साहित्य में पान देनेवाले पुरुष ताम्बूलदायक और स्त्री ताम्बूल कर्मकवाहिनी कहलाती थीं । ये युद्धक्षेत्र में भी राजा के साथ रहते थे । तत्कालीन सस्कृति और साहित्य से इतना अवश्य स्पष्ट है कि शोककाल में या पिता की

---

1 चन्द्रगुप्त, 1/83 ।

2. वही, 3/159 ।

3. ऋग्वेद, 1/187/9-10 ।

4 शतपथ ब्राह्मण, 3/1, 2, 21 ।

5 ऋग्वेद, 10/91/14 ।

6 वही, 8/101/15-16 ।

7. वाटर्स, 15 ।

8 हर्षचरित्, 97 । कादम्बरी, 14, 102 ।

मृत्यु के पश्चात् ताम्बूल-सेवन नहीं किया जाता था । ताम्बूल अतिथि-सत्कार, प्रेम एव कृपा का प्रतीक माना जाता था । प्रसाद के नाटक में भी 'पान और पान के डिब्बे' का वर्णन मिलता है । फ्लीट भी इस बात को मानते हैं कि कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल में सौन्दर्य-वृद्धि और ओष्ठ की लालिमा बढाने, मुवास और प्रसाधन के लिये ताम्बूल का प्रयोग किया जाता था । उसके आलोचकों और विद्धानों की यह धारणा है कि बनारसी समाज और जीवन- से प्रभावित होकर प्रसाद जी ने 'ताम्बूल' के बदले 'पान' का व्यवहार किया है[2] ।

आर्य-सस्कृति के विभिन्न सस्कारों में राज्य-अभिषेक का भी महत्वपूर्ण स्थान है, जिस पर किसी राष्ट्र की शासन-व्यवस्था की आधार शिला रहती है । राज्य-व्यवस्था और राजा के आचरण इसलिए भी महत्व रखते है कि उनपर राष्ट्र का भाग्य और प्रजा के दु:ख-सुख निर्भर करते हैं । आर्य-सस्कृति एक ओर राजा के लिये स्नेह-शील, करुणायुक्त और कुसुमादपि मसृण होने का विधान बताती है, दूसरी ओर न्याय और राष्ट्र-रक्षा के लिये उसे वज्रादपि कठोर, परुष और पाषाण-हृदय बनना भी आवश्यक बताया है । भारतीय सस्कृति और समाज ने राज्याभिषेक का अधिकारी मात्र उसे ही बताया है, जो कुशल, न्यायी, राजपुत्र, समदर्शी, कुलीन, वीर और प्रजा-पालक हो । मा और मातृभूमि को स्वर्ग से ऊपर पहुचाने वाली सस्कृति के निर्देश रहे हैं कि हर स्थिति में राजसिहासन का अधिकारी वही है, जो अपने प्राणपन से प्रजा और देश के लिए मर-मिटने को उद्यत रहे । क्लीव, कायर और वृषल राज्याभिषेक के अधिकारी नहीं होते । सस्कृति के निर्देशानुसार सपत्नी-पुत्र भी राज्य का अधिकारी नहीं है । राजा के सपर्क से उत्पन्न दासी-पुत्र भी राज्याभिषेक का अधिकारी नहीं माना गया है । प्रसाद के नाटक इस सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा और प्रकाश देते हैं । पिता को सिहासन च्युत कर, अजातशत्रु बासवी को पिता द्वारा मिले काशी राज्य पर भी अधिकार करना चाहता है । प्रसेनजित के माध्यम से प्रसाद ने यह स्पष्ट निर्देश दिया है 'काशी का प्रान्त वासवी को मिला है, सपत्नी-पुत्र का उस पर कोई अधिकार नहीं है । चन्द्रगुप्त नाटक में राज्याभिषेक की समस्या बडी उत्कटता और गभीरता से आयी है । शूद्रवंशी महापद्म का जारज पुत्र नन्द राज्यारूढ़ है । अपने कर्त्तव्य से विमुख वह विलासिता में निमग्न है । उसके राज्य में अव्यवस्था, आतक, प्रसाद, और असत्य का साम्राज्य है । जिस वीर युवक को राज्याभिषेक कराने के सपने चाणक्य सजो रहा है उस पर भी वृषलत्व के आरोप हैं । वृषलत्व की लक्षमण-रेखा में घिर कर चन्द्रगुप्त भी राज्याभिषेक के उपयुक्त नहीं था । वृषलत्व के कारण उसकी कुलीनता और राजपुत्रता सदिग्ध थी । चाणक्य पहले संस्कृति

---

1 ध्रुवस्वामिनी, 1/19-20 ।

2 डा० जगदीश चन्द्र जोशी, प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, 210 ।

के निर्देशों और नियमों के अनुसार उसके वृषलत्व को समाप्त करता है, तब उसके राज्याभिषेक की योजनाएँ बनाता है । वस्तुत आर्य-क्रियाओं के लोप होने से और बौद्धों के प्रभाव में आने से क्षत्रियों के बौद्ध-सस्कार छूट गये थे । इसी कारण उन्हें वृषल माना जाने लगा था[1] । सस्कृति द्वारा वृषल की परिभाषा भी यही दी गयी है ---

शनैकस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रियजातय· ।
वृषलत्व गतालोके, ब्राह्मणानामदर्शनात् ।।[2]

प्रसाद के नाटकों मैं यत्र-तत्र भी राज्याभिषेक के छिट-पुट वर्णन मिलते हैं, किन्तु उनके भी सन्देश, उद्देश्य उपर्युक्त ही हैं ।

आर्य सस्कृति जितना महत्व जन्म, विवाह, राज्याभिषेक को देती है, उतना ही पुनर्जन्म को भी । प्रसाद के नाटक इस बात को स्पष्ट करते हैं कि उनकी दृढ़ आस्था पुनर्जन्म में थी । अजातशत्रु में पद्मावती के ये शब्द इसके प्रमाण हैं---'मेरे नाथ ! इस जन्म के सर्वस्व और परजन्म के स्वर्ग, तुम्हीं मेरी गति हो[3] । उपर्युक्त वाक्य का 'परजन्म', 'पुनर्जन्म' का पर्याय है ।

प्रसाद के नाटकों के उपर्युक्त विवेचन से यह धारणा पुष्ट होती है कि प्रसाद आर्य-सस्कृति की आत्मा के गायक हैं । उनके उद्‌गीथ के स्वर ये सत्यापित और प्रमाणित्त करते हैं कि उन्होंने अपने नाटकों में आर्य-सस्कृति के अधिकतम चित्रों को उतारा और उनका विश्लेषण किया है । समासतः, यह कहना कदापि अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि उनके नाटक भारतीय सस्कृति के उन्मुक्त व्योम में उद्‌भाषित निश्छल प्रकाश है साथ ही आर्य संस्कृति के पर्याय भी ।

●●●

---

1. चन्द्रगुप्त, पृ० 90 ।
2 चन्द्रगुप्त, भूमिका, पृ० 17 ।
3 अजातशत्रु, पृ० 70 ।

पंचम अध्याय

विमर्ष-निष्कर्ष

प्रस्तुत पुस्तक--'प्रसाद के नाटकों में इतिहास और सस्कृति'--लबे अध्ययन-अध्यापन काल की मेरी गवेषणात्मक और समीक्षात्मक मान्यताओं का प्रतिदर्श है। प्रसाद, मूलत: कवि अवश्य थे, किन्तु उनकी कवि-आत्मा सस्कृति और राष्ट्रवादिता के दर्शन करने हेतु नाटक की उन अमराइयों में खो गयी थी, जहाँ अनायास नाटकीयता प्रवाहित हो उठी । नाटक अपनी प्रकृति-प्रवृत्ति में भिन्न होकर उद्देश्य में काव्य के समानान्तर होते हुए अन्तत: काव्य ही है ।

प्राय: विद्वान, समीक्षक एव पाठक इतिहास को बीती हुई घटनाओं का अविकल चित्र मानते हैं । यह धारणा बहुत हद तक सही है, किन्तु उससे अधिक यह धारणा सच है कि इतिहास सक्षम, समर्थ, शक्तिशाली, राजाओं, महापुरुषों एवं शक्ति और सत्ता के नियामकों की कहानी है, कवियों, साहित्यकारों, विद्वानों, प्रेमियों और गरीबों के इतिहास नहीं होते, अपितु उनकी गाथाए होती हैं । यह गाथा रागात्मक हो अथवा करुण । सम्भव है इसमें उत्कर्ष प्रशस्ति का पर्याय हो और अपकर्ष अनादर का प्रतिरूप । वैसे भी इतिहास में कल्पना और मनचाहे विवरणों की व्याप्ति को नकारा और झुठलाया नहीं जा सकता । भूमिका में मैंने सकेतित किया है कि इतिहास के बारे में मेरी अलग और स्पष्ट धारणा है--'इन हिस्ट्री नथिंग इज ट्रू एक्सेप्ट नेम्स एण्ड डेट्स, बट इन लिटरेचर एवरी थिंग इज ट्रू एक्सेप्ट नेम्स एण्ड डेट्स । मेरी मान्यता से यह प्रतीकित होता है कि इतिहास में नाम और तिथियों सही और अपरिवर्त्तित रहती हैं, किन्तु घटनाओं के मुख्य अश कल्पना एव मनगढन्त विवरणों से अछूते नहीं रहते । यह सामान्यत: सच और सर्वविदित है कि इतिहास लिखने वाले राजाश्रय और स्वर्ण मुद्राओं से अनुगृहीत और प्रभावित होकर अर्थ और आश्रय देनेवालों की इच्छा और निर्देश के अनुरूप इतिहास-रचना करते हैं । प्राय: हर इतिहासकार अपने राजा या आश्रय और अर्थदाता की प्रशस्ति, गुणगान और वीरता-वर्णन अनुपात और सत्य से बढाकर करता है । उसे उच्च, सक्षम एव समर्थ तथा दूसरों को कमजोर, तुच्छ एव बौना करारता है । यही कारण है एक ही काल और व्यक्ति के दो इतिहासकारों द्वारा लिखे गये इतिहास की सत्यता और विवरण में भिन्नता आ जाती है । यह सत्य और तथ्य धार्मिक, पौराणिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी इतिहासों पर लागू होते है ।

साहित्य चूकि हृदय और मस्तिष्क की समन्वित अभिव्यक्ति है, जीवन का अविकल चित्र है, आत्मा का पावन, निश्छल एव निर्मल प्रवाह है, इस कारण उसमें

वर्णित घटनाओं में असत्यता की सभावना नगण्य रहती है । घटनाआ के आधार एव पात्र कल्पना-प्रसूत एव साहित्यकार के मानस की उपज अवश्य होते हैं । परिस्थिति, परिवेश और समाज की सीमाओं के कारण साहित्यकार को कहीं नाम बदलने पडते हैं, कहीं तिथिया, किन्तु घटनाए सत्य से परे कहीं नहीं हटतीं ।

इस तथ्य से यह निष्कर्ष स्वत उद्भूत होता है कि इतिहास साहित्य नहीं हो सकता और न साहित्य इतिहास ही । दोनों में नीर-क्षीर सयोग होकर भी तिल ताडुल की स्थिति बनी रहती है । साहित्य का इतिहास भले ही अतिशय कल्पना से मुक्त हो, किन्तु व्यक्ति और घटनाओं का इतिहास कभी कल्पना-मुक्त नहीं हो सकता ।

अधिकाश विद्वानों की यह आस्था है कि इतिहास का अर्थ होता है--बीती हुई घटनाओं और बीते हुए विवरणों का अविकल चित्र का प्रस्तुतीकरण । ऐसे लोग साहित्य में थोड़ी-सी भी कल्पना और मौलिकता पाकर सतर्क और समीक्षात्मक बन जाते हैं । वे यह भूल जाते हैं कि इतिहास में भी कल्पना की व्याप्ति और विधान है । हॉ, अनुपात का अन्तर अवश्य होता है--कल्पना के समावेश और समाहार में ।

नाटक-चूकि साहित्य की एक अत्यन्त प्रमुख, जीवन्त, उपादेय और लोकप्रिय विधा है, इसलिए उसमें साहित्य की आत्मा, रक्त और धर्म ज्यों-का-त्यों प्रच्छन्न और प्रवाहित है । नाटककार को कल्पनाश्रित होने का अधिकार स्वतः प्राप्त है। मैंने इस सत्य को सर्वदा-सर्वथा सामने रखकर तथ्य का आकलन किया है कि इतिहास कदापि नाटक नहीं हो सकता और न नाटक इतिहास ही । बस, नाटककार सब कुछ सत्य (साहित्य) में कुछ-कुछ सत्य (इतिहास) का न्यायोचित समाहार और सम्मिश्रण करता है ।

स्वर्गीय जयशकर प्रसाद के नाटक--इसी संदर्भ में इतिहास सम्मत और समर्थित अवश्य हैं, इतिहास और इतिहासाश्रित कदापि नहीं । अपने समस्त नाटकों में इतिहास के बारे में प्रसाद जी की स्पष्ट धारणा है कि उन्होंने इतिहास का मात्र सहयोग लिया है, आश्रय नहीं स्वीकारा है । साहित्य की अपनी प्रवृत्ति-प्रकृति और आत्मा की पुकार होती है । प्रसाद ने उसकी रक्षा करते हुए आदर्श और सम्मान का निर्वाह किया हैं । उन्होंने इतिहास से मात्र घटनाओं, विवरणों और कथाओं के तत्व को लेकर उनमें साहित्य, दर्शन, एवम् सस्कृति के हृदयावर्जक लोक-रजक और उपादेय प्राण और धर्म का समावेश कराया है । प्रसाद ने इतिहास से घटनाओं के क्षीण आभास, कथानक का आधार तथा यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्रिया बटोरी हैं । इनके पीछे उनका उद्देश्य स्पष्ट था तत्कालीन जीवन, समाज वैभव एव अतीत की गौरवमय स्थिति से पाठक को अवगत कराना, किन्तु जहॉ भी उन्होंने साहित्य के आदर्श और राष्ट्रीय गौरव तथा सास्कृतिक चेतना को बाधित होते देखा, वहॉ मौलिक उद्भावनाओं की सर्जना कर उन्होंने आदर्श और मर्यादा की रक्षा की है।

सर्वत्र इतिहास से अलग हटने के पीछे उनकी अतिशय राष्ट्रवादिता और सस्कृति के प्रति व्यामोह का हाथ है । उनके नाटकों में इतिहास ढूढने के क्रम में मैंने यह स्पष्ट किया है कि उनकी हर काल्पनिक उडान इतिहास से अलग होकर भी अलग नहीं लगती, क्योंकि उनमें सभाव्यताओं की बहुलता है । प्रसाद-नाट्य में इतिहास-दर्शन के क्रम में मैंने उन्हें दो भागों में रखकर देखा है--पूर्ण ऐतिहासिक नाटक और अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक । पूर्ण ऐतिहासिक नाटक में ऐतिहासिकता के दर्शन अधिक होते हैं और अर्द्ध ऐतिहासिक में कल्पना और इतिहास नदी के दो-तीर बनकर आये हैं । वैसे उनके कुछ नाटक पौराणिक गाथाओं और सदर्भों से भी जुडे हैं । उसमें इतिहास नहीं के बराबर है। उनकी विवेचना सास्कृतिक सदर्भ में महत्व रखती है । कहीं-कहीं तो इतिहास से अलग प्रसाद की कल्पना की उडान इतनी अधिक रेखाकित महत्व पा लेती है कि इतिहास ही वहॉ बौना दीखने लगता है । चन्द्रगुप्त का दाण्ड्यायन सिकन्दर सदर्भ और चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया-परिणय ऐसे ही स्थल हैं । पहले में विश्व-सस्कृति पर भारत की विजय प्रतीकित होती है, जब सिकन्दर स्वय घोषणा करता है कि उसने भारत में होमर, अरस्तू, एचिलिस, डिमास्थनीज की आत्माओं को देखा है । वहॉ वह तलवार खींचे आया था, किन्तु हाथ मिलाकर जाने को विवश हो जाता है । दूसरा स्थल हमारे दर्शन, आदर्श और सस्कृति की उस ऊॅचाई का दिग्दर्शन कराता है, जहॉ हम वसुधैव कुटुम्बकम् को अपना सर्वोपरि धर्म मानते हैं । विश्व बन्धुत्व और अतर्जातीय परिणय तथा स्नेह-सम्बन्ध द्वारा हम देश नहीं, दिलों को सहज पराभूत करते हैं।

प्रसाद के नाटकों में इतिहास देखने के क्रम में मैंने उन स्थलों को विशेषतः आकलित किया है, जो इतिहास से अलग होकर भी मुझे इतिहास से अधिक सत्य दीखे । हा, समग्र अध्ययन, विश्लेषण और अवगाहन से मुझे यह निष्कर्ष निकालना पडा कि प्रसाद और प्रसाद के नाटकों पर इतिहास कहीं हावी नहीं हुआ है, बल्कि प्रसाद का साहित्य-हृदय ही उन पर हावी है । इससे प्रसाद के नाटकों को उत्कर्ष ही मिला है, अपकर्ष नहीं । प्रसाद पर स्वच्छन्दता और काल्पनिकता के आरोप लगाने वाले विद्वानों के प्रश्न यहॉ सहज उत्तरित हो जाते हैं । मेरी तो यह धारणा है कि इतिहास की मुहर लगे हुए सत्य से साहित्यिक कल्पना का असत्य अधिक श्रेयस्कर और स्पृहणीय है, यदि उनमें अधिक सभाव्यता और प्राणमयता हो और प्रसाद के नाटक इस दृष्टि और आलोक में मुझे इतिहास से अधिक प्राणवत, नैसर्गिक और लोकरजक लगे ।

भारतीय इतिहास में इतिहास के जो पात्र सबसे अधिक लोक नायक के रूप में विश्रुत हुए, वे हैं--बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध । बिम्बसार के राज्य-काल में गौतम बुद्ध का अतिशय प्रभाव इतिहास द्वारा समर्थित घटना है । यह भी सत्य है कि सनातन धर्म के आचार्य द्वय--कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के विनाश के लिए बहुत सारे यत्न किये थे । अजातशत्रु की मा चेल्लना अपने

पति से ही बदला लेना चाहती थी । इसलिए अजातशत्रु नाटक में बिम्बसार वासवी के प्रेम-प्रसग की घटनाएँ शुद्ध ऐतिहासिक है । उसी नाटक में बिम्बसार-वासवी के प्रेम-प्रसग की घटनाएँ शुद्ध ऐतिहासिक हैं । उसी नाटक में वासवदत्ता और उदयन के सबध का भी इतिहास से प्रमाण मिलता है, किन्तु उदयन की तीसरी पत्नी ही महल में आग लगाकर आम्रपाली बन गयी थी, इसका प्रमाण नहीं मिलता । यही स्थिति सिल्यूकस, सिकन्दर और शकटार की है । सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त में युद्ध का प्रमाण मिलता है । प्रसाद जी ने उसकी कन्या से चन्द्रगुप्त का विवाह कराया है । किसी भी इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता । आज के समाज में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो वर का पिता कन्या के पिता से श्रेष्ठ माना जाता है । सभव है, यूनान से उच्चता दिखाने के क्रम में प्रसाद जी ने यह अध्याय जोड दिया हो । सिकन्दर का भारत-आक्रमण ऐतिहासिक है और उसकी पराजय भी । प्रसाद जी ने दाण्ड्यायन ऋषि के सामने उसकी लघुता प्रमाणित कर अपनी सस्कृति को ही उच्च भावभूमि प्रदान की है । केवल हार से कोई हीन नहीं होता । हार या जीत तो युद्ध का क्रम है, किन्तु लघुता की मौन स्वीकृति ही भारतीय सस्कृति को उच्चता प्रदान करती है ।

'सस्कृति' जीवनादर्शों का एक खुला प्रमाण-पत्र है, जिसमें जीवन की परम्परा और उसके आदर्श प्रतिच्छायित होते हैं । हर देश, समाज, व्यक्ति की अलग-अलग सस्कृति होती हैं । सामान्यतः, कभी-कभी भ्रमवश सस्कृति और सभ्यता को पर्याय मानने की भ्रान्त धारणा बन जाती है । वस्तुत· सस्कृति परम्परा से सचित, सस्कारों से अर्जित तथा विशेष देश और काल से पोषित मानव धर्मों और जीवन-मूल्यों का समवेत राग है । मैंने अपनी पुस्तक के अन्त में इसी समय को आधार मानकर प्रसाद के नाटकों में संस्कृति खोजने का उपक्रम किया है । मैं दृढतापूर्वक यह मानता हूँ कि प्रसाद सस्कृति के पर्याय, पोषक और उद्घोषक थे । उनके नाटकों के सभी आदर्श पात्र या तो ऐतिहासिक महत्त्व के काम करते दीखते हैं, या फिर कुछ ऐसे प्रभावकारी अवशेष छोड जाते है, जो युग-युगान्तर तक देश-विदेश, जाति-विजाति के लिए अनुकरणीय, स्पृहणीय और ध्यातव्य बन जाते हैं । समग्र विश्व की परिधि में विभिन्न सस्कृतियाँ पलती, पनपती और पोषित होती हैं । स्वभाव से सरल, हृदय से उदार, मन से भावुक और वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओतप्रोत प्रसाद जी ने विश्व की समस्त सस्कृतियों को समुचित सम्मान दिया है । उनके अध्ययन-चिन्तन और अवगाहन कर अनुकरणीय जीवन मूल्यों को सराहा है, अवश्य, किन्तु आर्य-सस्कृति (भारतीय सस्कृति) को सर्वोपरि मानने का लोभ-सम्वरण वे नहीं कर सके । वैसे यह भौगोलिक और ऐतिहासिक सत्य है कि धर्म, दर्शन और सस्कृति की शिक्षा पूरे विश्व को भारत ने ही दी है । सभ्यता के वाह्य आचरण और आवरण में चाहे कोई भी देश बाजी मार

ले, किन्तु आतरिक गुणों का अलकरण, जो भारतीयों का है, वह, अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है । इसलिए 'भारत' शब्द यों व्याख्यायित किया गया है--

भाति सर्वेषु वेदेषु, रति सर्वषु जन्तुषु ।
तरणम् तेन् तीर्थानाम्, तेन भारतमुच्यते ।

ऊपर का उद्धरण यह सकेतार्थ देता है कि भारत भूमि का कण-कण तीर्थ है, जिसमें चाणक्य, दाण्ड्यायन, गौतम, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु जैसी अप्रतिम विभूतियों के सहज दर्शन होते है । यह प्रसादीय सस्कृति (आर्य सस्कृति) की विजय का ही द्योतक है कि आज मानसिक शान्ति और आध्यात्मिक क्षुधा-तृप्ति के लिये सैकडों विदेशी भारत-भूमि की परिक्रमा करते दीखते हैं । प्रसाद ने इसे स्पष्टत: स्वीकारा है कि यदि अन्य देश मानव की जन्म-भूमि है, तो भारत मानवता की । तभी ता 'राज्यश्री' का महाश्रमण विनम्रतापूर्वक उद्घोषित करता है कि निश्चय ही भारत अन्य धर्मो और सस्कृतियों का जन्म-स्थल है ।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने प्रसाद के विभिन्न नाटकों में सास्कृतिक परिवेश, आधार और आलोक में वैसे स्थलों को देखा है, जो अनायास मन-प्राण को मोहित-प्रभावित और अनुप्राणित करते हैं । एक अन्य तथ्य भी ध्यातव्य है कि प्रसाद के नाटकों के सास्कृतिक जीवन-मूल्य जितना प्रभावित करते हैं, उनके कतिपय अनुदात्त, प्रतिरोधी-पात्र असास्कृतिक-सस्कृति की अभिव्यक्ति करके भी कम प्रभाव नहीं छोडते । प्रखर भानु के चकाचौंध प्रकाश में विकट और गहन तिमिर के रूप में आकर वे अपने अलग अस्तित्व का बोध कराते हैं, भले ही अन्तत: वे आत्म-समर्पण द्वारा अपनी पराजय और आर्य-पराभव स्वीकार लेते हैं। 'राज्यश्री' का विकट घोष, 'चन्द्रगुप्त' के राक्षस, आम्भीक इत्यादि ऐसे ही प्रतिरोधी पात्रों के जीवन्त प्रमाण हैं ।

प्रसाद के नाटकों में आर्य सस्कृति का यह गुण सहज द्रष्टव्य है कि हम क्षितिज के उस पार से आने वाले अनजानों को जाति, धर्म, सस्कार, सस्कृति से परे हटकर सहारा और शिक्षा देते हैं--

'जहाँ पहुच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा'

और, वे प्रत्यर्पण में हमारी पुण्य-घरा को 'सपनों का पालना' स्वीकारने को सहज विवश हो जाते है ।

इतिहास के गह्वर में प्रसाद जी के प्रवेश का एकमात्र लक्ष्य आर्य-संस्कृति का गौरव-गान करना है । भारत में शकों, हुणों, यावनों, मुगलों तथा अगरेजों ने आक्रमण किये और उन्होंने शासन-सूत्र भी संभाले । वर्षों तक राजतत्र का सहारा लेने के बाद कोई भी सस्कृति अपना जड़ जमा सकती है, यदि उसमें शाश्वत सौन्दर्य सन्निहित हों । प्रसाद-साहित्य देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय सस्कृति के उज्ज्वल प्रकाश में अन्य, संस्कृतियाँ निस्तेज होती हैं । 'नारी' सस्कृति का मेरुदण्ड है । यदि यवन-कन्या कार्नेलिया की बात लें, तो कोई

भारतीय उसके साथ छेडखानी नहीं करता । अभद्र व्यवहार करने वाला फिलिप्स यूनानी है । भारतीय सस्कृति पर, भारतीय बालिका पर, जिसने दृष्टि गडाने की कोशिश की, उसकी परिणति पर्वतेश्वर के समान होगी, जिसे जान के लाले पड गये । 'चन्द्रगुप्त' नाटक की एक और भी सास्कृतिक विशेषता है । अन्य मत्रों में ये तीन मत्र भारतीय सस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं--मातृ देवोभव, पितृदेवोभव, आचार्य देवोभव-किन्तु इसके अपवाद भी हे । यद्यपि चद्रगुप्त अपने पिता को न्याय के समक्ष अपराधी के रूप में खडाकर देता है, लेकिन इससे तो भारतीय सस्कृति की महिमा ही उजागर होती है । चन्द्रगुप्त की अदूरदर्शिता इसे नहीं कहा जा सकता । नाटककार लक्ष्य के पति अनन्य रहता है और फलागम की सम्यक् अभिव्यक्ति उसका अभीष्ट होता है । फलागम पर पहुचने के पूर्व ही सिकन्दर द्वारा आर्य सस्कृति के प्रति नत मस्तक होना प्रसाद की नाट्य-योजना का चरम लक्ष्य है ।

'अजातशत्रु' में तो प्रसाद ने इतिहास के उस अश को कतई स्वीकार नहीं किया, जिसके अनुसार पुत्र ने पिता को तप्त गृह में डालकर बध करवा दिया था । भारतीय सस्कृति में ऐसे अपकर्षक उदाहरण नहीं मिलते, तभी पिता की हत्या की अपेक्षा उसे देश-निकाले की सजा देकर उन्होंने पुत्र से क्षमा-याचना करायी है । कहा जाता है--सुबह का भूला यदि शाम को घर लौट जाय, तो उसे भूला नहीं कहा जाता है । चद्रगुप्त, बिम्बसार का कथानक इसी उक्ति को चरितार्थ करता है और भारतीय सस्कृति के आधार स्तभ--मगध सम्राट--को कलक-मुक्त करता है ।

अन्य देशवासी इसमें विश्वास न करें, किन्तु भारत ऋषियों देवता और देवियों का देश रहा है । वैज्ञानिक युग में होकर भी प्रसाद जी की आस्था नहीं हिल पायी कि सती के तेज से शत्रु का उठा हुआ हाथ भी जडवत पत्थर हो जाता है । अमिताभ के प्रति पद्मावती की भक्ति को उदयन ने शंका की दृष्टि से देखा था और उसका बध करना चाहा था, किन्तु तभी उदयन के हाथ जड हो गये थे ।

ऐसी कोई बात नहीं कि भारत की सभी स्त्रिया दूध की धोई होती हैं । उदयन की तीसरी पत्नी मागधी की पाखड-लीला भी सामने है, जिसकी परिणति कालान्तर में आम्रपाली के रूप में हुई, किन्तु सजा भी वैसी ही मिली कि विरुद्धक ने एक प्रकार से उसकी हत्या ही कर दी थी, लेकिन भारतीय सस्कृति में अत का विशेष महत्व है--अन्त भला तो सब भला । अत में आम्रपाली को ज्ञान हो जाता है और बुद्ध की शरण में जाकर अपने मन के ताप को मिटाने की शक्ति वह पा लेती है । यह परिणत्ति भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही संभव है ।

'ध्रुवस्वामिनी' पर विचार करें तो शकराज ध्रुवस्वामिनी को अकशायिनी बनाने को विह्वल है । वह अपनी प्रणयिनी कोमा के साथ तो विश्वासघात करता ही है, आचार्य मिहिरदेव की आज्ञा की भी अवहेलना करता है । भारतीय सस्कृति

के अनुसार पराई स्त्री मातृवत होती है । विदेशियों में कहीं इस प्रकार की तेजस्विता नहीं पाई जाती, लेकिन भारतीय उनकी आखें काढ लेते हैं, जो आखें उन्हें डसने को उद्यत रहती हैं । चन्द्रगुप्त ने स्त्री वेश धर कर ही शकराज को घर-दबोचा है । स्त्रिया अबला हैं, इसलिए उनकी रक्षा करना भारतीय सस्कृति अपना कर्त्तव्य बताती हैं । शक-शिविर में जाना अपना प्राण गवाना था, किन्तु वहा प्रसाद जी का चन्द्रगुप्त प्राण की किचित् परवाह न कर शकराज को ही ससार से विदा कर देता है ।

राज्यश्री की बात लें । बहन की रक्षा के लिए भारतीय सस्कृति में रक्षा-बधन का विधान है । महारानी कर्मवती ने हुमायू क पास राखी भेजी थी। जब धर्म-भाई धर्म-बहन के पास इस रूप में दौड सकता है, तो राज्यश्री क भाई का यह कर्त्तव्य ही था कि वह सजी चिता से अपनी बहन को उठा ले जाता है। ध्रुवस्वामिनी के स्वर में प्रसाद जी यह स्वीकारते हैं कि मपन्न राजा को बहुत सी स्त्रिया मिल जाती हैं । प्राप्ति की कामना सबसे होती हैं । महान् तो वे सन्यासी होते हैं, जिनके भीतर कोई कामना ही नहीं होती है । देव सेना से विवाह नहीं होने पर स्कन्दगुप्त आजीवन अविवाहित रहने का व्रत लेता है । परिस्थिति भले ही भिन्न है, किन्तु ऐसा लगता है, जैसे भीष्म पितामह का लघुरूप देवव्रत आजीवन कुमार-व्रत की शपथ ले रहा हो ।

इतिहास और सस्कृति गतिशील यान के दो पहिये हैं । प्रसाद जी ने इस पहिये की धुरी में भारतीय अतीत को जोड दिया है । इसलिए इतिहास के वैसे अशों को उन्होंने अपने नाटक का विषय-वस्तु बनाया है, जिनके चित्र कभी निस्तेज नहीं हुए । पाश्चात्य जगत् में कला की साधना कला के लिए भले होती रही होगी, किन्तु भारतीय परिवेश में कला की व्याख्या जीवन के विश्लेषण के लिए हुई है । बहुत से कलाकार लक्ष्य में दिग्भ्रमित हो गये हों । लेकिन अपने नाटकों में प्रसाद ने उन उदात्त चित्रों को ही लिया है, जिनमें सास्कृतिक सपन्नता तो है ही, ऐतिहासिक गत्यवरोध भी नहीं है । सच्चे अर्थ में उन्होंने इतिहास और सस्कृति का सुन्दर समन्वय किया है । इसलिए भारतीय सस्कृति के आधार स्तभ स्व0 प्रसाद को साहित्यजगत् ने काशी के शकर के साथ जोड दिया है और गुप्त जी ने तो शोक-वेदना में उन्हें बाबा विश्वनाथ का प्रसाद मान लिया था--

जय शकर कहते-कहते ही,
अब भी काशी आयेंगे ।
किन्तु प्रसाद न विश्वनाथ का,
मूर्तिमान हम पायेंगे ।

प्रसाद थे ही ऐसे, जिन पर भारतीय सस्कृति को गर्व है। इसलिए उनका इतिहास और उनकी सस्कृति भारतीय भावभूमि की उदात्त कहानी तो कहती ही है इतिहास की सास्कृतिक चेतना का दिशा-निर्देश भी करती है ।

सहायक मौलिक ग्रन्थ-सूची

प्रसाद-साहित्य	अजातशत्रु
	एक घूँट
	कामना
	कामायनी
	काव्य-कला आर निबध
	चन्द्रगुप्त मौर्य
	जनमेजय का नागयज्ञ
	ध्रुवस्वामिनी
	राज्यश्री
	लहर
	विशाख
	स्कन्दगुप्त
कालिदास	अभिज्ञान शाकुन्तलम्
	कुमार सभवम्
	रघुवशम्
	मेघदूतम्
कौटिल्य	अर्थशास्त्र
वाणभट्ट	कादम्बरी
	हर्षचरित्
वात्स्यायन	कामसूत्र (कुलुकभटट की टीका)
अन्य	अथर्ववेद
	ऐतरेय ब्राह्मण
	ऋग्वेद
	छान्दाग्योपनिषद्

सहायक समीक्षात्मक ग्रन्थ-सूची

लेखक		पुस्तक
अर्नेस्ट मैके	-	द इण्डस सिविलाइजेशन
आइ० ए० रिचर्ड्स	-	प्रिसपुल्स आफ लिट्ररी क्रिटिसिज्म
ए० एन० घोष	-	अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया
ए० एल० क्रोबर ऐण्ड		
क्लाइड क्लूखोन	-	कल्चर
ए० एल० बासम	-	द वण्डर दैट वाज इण्डिया
एस० चट्टोपाध्याय	-	अर्ली हिस्टरी आफ एन्सियेन्ट इण्डिया
कालिदास कपूर	-	विश्व सस्कृति का विकास
गुलाब राय	-	काव्य के रूप
डा० चक्रवर्ती	-	प्रसाद की दार्शनिक चेतना
आचार्य चतुरसेन शास्त्री	-	भारतीय सस्कृति का गौरव
जगदीशचन्द्र जोशी	-	प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक
जगन्नाथ राय शर्मा	-	प्रसाद के नाटकों का सास्कृतिक अध्ययन
जवाहरलाल नेहरू	-	हिन्दुस्तान की कहानी
डब्ल्यू० एच० हड्सन	-	ऐन इन्ट्रोडक्सन टू द स्टडी आफ लिटरेचर
डी० एच० गोर्डन	-	प्रि हिस्टरिक बैक ग्राउन्ड आफ इण्डियन कल्चर
डा० दशरथ ओझा	-	समीक्षा शास्त्र
डा० दिनेश्वर प्रसाद	-	प्रसाद की विचार-धारा
दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी	-	प्राचीन भारत की सस्कृति और सभ्यता
नीलकठ शास्त्री	-	नन्द मौर्य-युगीन भारत
परमेश्वरी लाल गुप्त	-	प्रसाद के नाटक
फिलिप पैग्वी	-	कल्चर ऐण्ड हिस्टरी

बलदेव उपाध्याय - भारतीय-दर्शन
बोस ऐण्ड अदर्स - ऐन्थ्रोपोलाजी
मगलदेव शास्त्री - भारतीय सस्कृति का विकास
मदन मोहन सिह - बुद्धकालीन समाज और धर्म
मार्टिमर वदीलर - द इण्ड्स कल्चर
मेगास्थनीज - एन्सियेन्ट इण्डिया
मोतीचन्द्र - प्राचीन भारतीय वेश-भूषा
मोहनलाल महतो वियोगी - जातक कालीन भारतीय सस्कृति
रगाचार्य - प्रि मुसलमान इण्डिया
रमाशकर त्रिपाठी - हिस्टरी आफ ऐन्सियन्ट इण्डिया
रमेशचन्द्र मजुमदार - द हिस्टरी ऐन्ड द कल्चर आफ द इण्डियन पीपुल
राजबली पाण्डेय - भारतीय इतिहास की भूमिका
राजेन्द्रप्रसाद - साहित्य, शिक्षा और सस्कृति
राजेश्वरप्रसाद अर्गल - प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक
राधाकुमुद मुखर्जी - प्राचीन भारत
रामधारी सिह दिनकर - सस्कृति के चार अध्याय
लेसली० ए० ह्वाईट - द इवोल्यूशन आफ कल्चर
वासुदेवशरण अग्रवाल - कला और सस्कृति
विमला चरण ला - वीमन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर
विमलेशकुमार श्रीवास्तव - प्रसाद साहित्य में सस्कृति और राष्ट्रीयता
वी० ए० स्मिथ - द अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया
वेंकटेश चन्द्र पाण्डेय (अनु०)- अद्‌भुत भारत
डा० शशि अवस्थी - हिन्दी साहित्य के प्राचीन भारतीय समाज
हेमचन्द्र राय चौधरी - पालिटिकल हिस्टरी आफ ऐन्सियेन्ट इण्डिया ।

●●●